श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतं-पञ्चमं

सिद्धान्त-रहस्यम्।

(समस्त ग्यारह संस्कृत टीकाओं के हिंदी-अनुवाद)

दिशा

टीका सहित)

❑ संपादक व लेखक ❑

गोस्वामी राजकुमार

❑ प्रकाशक ❑

गोस्वामी राजकुमार नृत्यगोपालजी

चरणाट बंगला नं. ५, ठाकुर विलेज, ठाकुर डिग्री कॉलेज के सामने,

कांदिवली (पूर्व), मुंबई - ४०० १०१ ● दूरभाष : २८८४ ६५०६

प्र.सं. वि.सं. २०५९

प्रतियाँ ५००

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतं-पञ्चमं

सिद्धान्त-रहस्यम्।

एकादशटीकाभिः समलंकृतम्

अनुक्रमणिका

क्रमांक	टीकाकार	पृष्ठसंख्या
१.	श्रीगोकुलनाथानां पुरुषोत्तमसिद्धान्त विवृतिः	३
२.	श्रीरघुनाथानां सि. र. विवरणम्	१२
३.	श्रीकल्याणरायाणां विवृतिः	१६
४.	श्रीव्रजोत्सवानां विवृतिः	२०
५.	श्रीगोकुलोत्सवानां विवृतिः	३०
६.	श्रीहरिरायाणां विवृतिकारिका	३८
७.	श्रीविट्ठलेश्वराणां विवृतिः	४९
८.	श्रीपुरुषोत्तमानां विवरणम्	५६
९.	श्रीगिरिधराणां विवृतिः	८०
१०.	श्रीलालूभट्टानां सिद्धान्तरहस्यटीका	९०
अ.	निवेदनविचार	१०१
११.	श्रीशाचार्यमतानुवर्तिनां संवादविवृतिः	१०४

श्रीकृष्णाय नमः।

सिद्धान्तरहस्यम्।

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणदृष्टम्।

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते॥ १ ॥

ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः॥ २ ॥

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन॥ ३ ॥

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन।
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्भर्जनमाचरेत्॥ ४ ॥

निवेदिभिः[2] समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति[1] स्थितिः।
न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम्॥ ५ ॥

तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्।
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः॥ ६ ॥

न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।
सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति॥ ७ ॥

तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः।
गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना॥ ८ ॥

गङ्गात्वेन निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि॥ ८ १/२ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितं सिद्धान्तरहस्यम्।

---

१. मताः। २. श्रीहरिः। नन्वसमर्पितवस्तुवर्जनेन सर्ववस्तुसमर्पणं प्राप्तम्, तत् किं स्वयं स्वभावेन समर्पयेत्, अन्यथा वेति संदेहे प्राहुः निवेदिभिरिति। भगवान् हि [illegible] भुनक्तीति, निवेदिनः निवेदो निवेदनं तद्युता निवेदनः, ते एव सर्वथा कृतनिवेदना मातृचरणस्वामिनीप्रभृतयः, तैः कृत्वा, सर्वं समर्प्यते सर्वं भगवते [illegible] तदुपभोगं लोके वेदे च कुर्यादित्यर्थः। ३ कार्यम्।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सिद्धान्तरहस्यम् ।

श्रीवल्लभकृतविवृतिसमेतम् ।

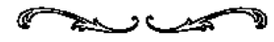

नत्वा पितृपदाम्भोजं सर्वाभीष्टप्रदायकम् ।
कृष्णवाङ्मूलकाचार्यवचो व्याख्यातुमुद्यतः ॥ १ ॥
यद्यपीश्वरवाक्यानामभिप्रायोतिदुर्गमः ।
मदीयोयमिति ज्ञात्वा ज्ञापयिष्यत्युदारधीः ॥ २ ॥

अथ यदैव श्रीगोकुलस्वामी स्वमनोभिलषितप्रकारकशुद्धपुष्टिभक्तिमार्गं प्रकटयितुं मनः कृतवान्, तदैव स्वमुखारविन्दरूपाचार्याणामेव तत्प्रकटनसामर्थ्यं ज्ञात्वा भुवि प्राकट्यार्थमाज्ञां दत्तवान्, तदाचार्या अपि भगवदभिप्रायं ज्ञात्वा तदत्ताज्ञाप्रकारेणैव स्वप्राकट्यं विधाय भगवदभिमतप्रकारकं भक्तिमार्गं प्रकटितवन्तः । तत्र स्वमार्गीयभक्तिस्वरूपं स्वमार्गसेव्यस्वरूपं स्वमार्गीयसेवाप्रकारं च मार्गान्तरीयभजनसाङ्कर्याभावार्थं वैलक्षण्येन प्रमाणपूर्वकं निरूपितवन्तः । अन्येपि तत्तच्छास्त्रोक्ता धर्मा विवेकादयश्चतुष्टयपुरुषार्थरूपास्त्यागादयश्च तत्तन्मार्गीयाः सन्ति । तेषां स्वप्रकटितपुष्टिमार्गविवेकादीनां च सन्देहाभावार्थं भिन्नत्वेन निरूपणं कृतवन्तः । तथापि यथा पूजामार्गे पूजार्थं तन्मार्गोक्तप्रकारेण सम्भावितदोषनिवृत्तिपूर्वकं पूजाकरणं निरूपितम्, तथा स्वप्रकटितमार्गेपि सर्वदोषनिवृत्तिपूर्वकं सेवाप्रकारो न विचारित इति चिन्तया तद्विचारपरानाचार्यान् दृष्ट्वा स्वयं श्रीगोकुलेश आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपेण प्रकटीभूय स्वसेवाप्रतिबन्धकदोषनिवृत्तिप्रकारकमसाधारणं कारणं तथोपदिष्टवान्, यथाग्रेपि सेवायां यावज्जीवं दोषप्रवेशो न भवति । आचार्यास्तु भगवदुपदिष्टं स्वहृद्याधाय स्वकीयानपि ज्ञापयितुं भगवदुपदिष्टं यथा सौकर्येण बोधो भवति, तदर्थं पद्यबन्धेन तत्र यस्मिन्मासे यस्मिन्पक्षे यस्यां तिथौ यस्मिन्समये तज्ज्ञापनपूर्वकं वक्तुं प्रतिजानते **श्रावणस्यामले पक्ष इति ।**

सर्व-अभीष्ट प्रदाता पितृचरणकमलों को नमन कर
कृष्णवाणी-मूलक आचार्यवचनों की व्याख्या करने तत्पर हुआ हूँ॥ १ ॥
यद्यपि ईश्वरवाक्यों का अभिप्राय अति दुर्गम है तथापि
'यह मेरा है' यह जानकर अति उदार बुद्धिवाले श्रीविट्ठल मुझे बताएँ॥ २ ॥

अथ जब श्रीगोकुलस्वामी-भगवान ने स्वमनोभिलषित (स्वयं के मन के जैसी अभिलाषा थी वैसा) प्रकारक शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग प्रकट करने का मन किया, तब स्वयं के मुखारविंदस्वरूप-आचार्यचरणों में ही उस मार्ग को प्रकट करने की सामर्थ्य जानकर भूतल पर प्रकट होने की आज्ञा दी। तब आचार्यचरणों ने भी भगवान का अभिप्राय जानकर उनके द्वारा दी गई आज्ञा के प्रकार से ही स्वयं का प्राकट्य कर भगवान को जो वांछित था, वैसे प्रकार का भक्तिमार्ग प्रकट किया। वहाँ उन्होंने स्वमार्गीय-भक्तिस्वरूप, स्वमार्ग-सेव्यस्वरूप एवं स्वमार्गीय-सेवाप्रकार अन्य मार्गों से मिलजुल न जाएँ अतः विलक्षणता से प्रमाणपूर्वक निरूपण किया। अन्य उन[1] दूसरे शास्त्रों में कहे गये विवेक-आदि चतुष्टय-पुरुषार्थ एवं त्याग आदि धर्म भी उन-उन मार्गों के ही होते हैं। उनमें कहे गये एवं स्वप्रकटित-पुष्टिमार्ग में कहे गये विवेकादि में संदेह को दूर करने के लिए आचार्यचरणों ने स्वमार्गीय-विवेक एवं चतुष्टयपुरुषार्थ का भिन्नरूप से निरूपण किया। तथापि, जैसे पूजामार्ग में पूजा के लिए पूजामार्ग में कहे गये प्रकार से सम्भावित दोषों की निवृत्तिपूर्वक पूजा करनी निरूपित की गई है, वैसे स्वयं के द्वारा प्रकटित मार्ग में भी सर्वदोषों की निवृत्तिपूर्वक सेवा-प्रकार का विचार नहीं किया गया है, इस चिंता से विचारमग्न श्रीआचार्यचरणों को देखकर, स्वयं श्रीगोकुलेश ने आनंदमात्र हस्त-पाद-मुख-उदर आदि रूप से प्रकट होकर स्वयं की सेवा में प्रतिबंधक दोषों की निवृत्ति-प्रकारक असाधारण-कारण उस प्रकार से उपदिष्ट किया, जिस प्रकार आगे भी सेवा में जीवनपर्यंत दोष प्रविष्ट नहीं होता है। आचार्यचरण तो, भगवान द्वारा उपदिष्ट वचनों को स्वयं के हृदय में धारण करके स्वकीयों को भी बताने के लिए भगवान द्वारा उपदिष्ट किया गया सिद्धांत जिस प्रकार सुगमता से बोध हो, इसके लिए पद्यबंधन द्वारा वहाँ जिस महीने में, जिस पक्ष में, जिस तिथि में, जिस समय भगवान ने कहा, वह ज्ञापनपूर्वक (बताते हुए) कहने की प्रतिज्ञा **श्रावणस्यामलेपक्षे** इन शब्दों से कर रहे हैं।

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि ।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते ॥ १ ॥

श्रावणस्य श्रावणमासस्य; श्रवणस्य विष्णुदैवतत्वात्तदुपलक्षितमासस्यापि **वैष्णवत्वाद्भगवत्सम्बन्धित्वज्ञापनाय मासः** श्रावण

---

१ दैवत्यादिति पाठः ।

उक्तः। पक्षस्य शुक्लत्वं विहायामलत्वकथनेन भगवत्पक्षीयाणां सर्वेषां सर्वात्मना निर्दुष्टत्वं ज्ञापितम्। अतः परं तिथेर्निर्दुष्टत्वं निरूपयन्ति एकादश्यामिति। एकादश्यप्येकादशेन्द्रियदोषनिवर्तिका इति तिथिरपि सैवोक्ता। यथा श्रीगोकुले अन्तरङ्गभक्तसर्वपुरुषार्थसिद्धयर्थं तद्वारा सर्वेषामपि गोकुलवासिनां सर्वपुरुषार्थसिद्धयर्थं महानिशायामेव प्रादुर्भावः। तद्वदत्राप्याचार्यार्थं प्रादुर्भूय तद्वारा तदीयानां सर्वपुरुषार्थसाधकत्वं तत्तुल्यमिति अत्रापि महानिशायामेव प्रादुर्भाव उक्तः। महानिशीति।

श्रावणस्य शब्द का अर्थ है श्रावण मास के; 'श्रवण' नक्षत्र के देवता विष्णु होने के कारण उनसे उपलक्षित मास भी वैष्णव है, अतः इस भगवद्-संबंध का ज्ञापन कराने के लिए 'श्रावण' मास कहा है। यहाँ यह जानना चाहिए कि, पक्ष को शुक्लपक्ष न कहकर अमलपक्ष कहने का कारण यह है कि, इससे सभी भगवद्-संबंधित सभी को सभी प्रकार से निर्दुष्ट ज्ञापित किया जा रहा है। इसके पश्चात् तिथि की निर्दुष्टता **एकादश्याम्** इन शब्दों से निरूपित कर रहे हैं। एकादशी भी एकादश-इंद्रियों की दोषनिवर्तिका है, अतः तिथि भी वही कही है। जैसे श्रीगोकुल में अन्तरङ्ग भक्तों के सभी पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए भगवान का सभी गोकुलवासियों के समस्त पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए महारात्रि में ही प्रादुर्भाव हुआ, इसी प्रकार यहाँ भी आचार्यचरणों के लिए प्रकट होकर भगवान द्वारा तदीयों के समस्त पुरुषार्थ की साधकता उन गोकुलवासियों के समान ही है, अतः यहाँ भी महारात्रि में ही प्रादुर्भाव कहा है। यह **महानिशि** शब्द की व्याख्या हुई।

यथा श्रीगोकुले साक्षाद्व्यूहरहितपूर्णपुरुषोत्तमप्राकट्येनैव भक्ताभिलषितं कृतवान्, तद्वदत्रापि साक्षात्प्राकट्येनैव आचार्यानुपदिष्टवानिति ज्ञापनायोक्तं साक्षाद्भगवता प्रोक्तमिति। यद्यपि भगवता प्रोक्तमित्येतावतैव चारितार्थ्येपि साक्षात्पदोक्तेरयमाशयः। भगवदुक्तौ प्रकारविशेषा बहव एव संभवन्ति। कचिद्भगवान् स्वोक्तिं सेवकद्वारा ज्ञापयति, कचित्स्वप्नद्वारा, कचि'द्गिरं समाधा'विति न्यायेनाकाशवाणीद्वारापि ज्ञापयति। अत्र तूक्तसम्भावितप्रकाराभावपूर्वकं स्वयं साक्षात्पूर्णप्राकट्येनाचार्यानुपदिष्टवानिति ज्ञापनायोक्तं साक्षादिति। उक्तौ प्रशब्दोक्त्या अत्रोक्तेः केवलं कृपयैवाविर्भूय, नत्वाचार्यप्रार्थनयेति ज्ञापनाय प्रशब्दोपादानम्। साक्षाद्भगवद्वाक्यकथनं सर्वेषां सम्यक् हृदयारूढं न भवतीति तस्माद्वाक्यार्थ एव यथा यथा सम्यक् हृदयारूढो भवति, तथा पद्यबन्धेन कथनं प्रतिजानते तदक्षरश उच्यत इति। तदेव पूर्वोक्तमक्षरशः प्रत्यक्षरार्थविचारपूर्वकं उच्यते निरूप्यत इत्यर्थः॥ १॥

जिस प्रकार श्री गोकुल में भगवान ने साक्षात् व्यूहरहित पूर्णपुरुषोत्तम के प्राकट्य द्वारा ही भक्तों को जो अभिलषित था, वह किया; वैसे यहाँ भी भगवान ने साक्षात्-प्राकट्य द्वारा ही आचार्यचरणों को उपदिष्ट किया, यह बताने के लिए **साक्षात् भगवता प्रोक्तम्** पद है। यद्यपि 'भगवान ने कहा' इतना कह देने से ही अर्थबोध हो जाता है तथापि 'साक्षात्' पद कहने का आशय यह है कि, भगवद्-उक्ति के प्रकारविशेष बहुत तरह से संभव हैं। कभी भगवान स्वयं के कहे को अपने किसी सेवक द्वारा बताते हैं, कभी स्वप्न द्वारा, कभी 'उन्होंने समाधि-अवस्था में आकाशवाणी सुनी (श्री०भा० १०/१/२१) इस न्याय से आकाशवाणी के द्वारा भी बताते हैं। यहाँ तो इन कहे संभावित प्रकारों के बिना भगवान ने स्वयं साक्षात् पूर्णप्राकट्य द्वारा आचार्यचरणों को उपदिष्ट किया, यह बताने के लिए 'साक्षात्' पद कहा है। मूल कारिका में आए 'प्रोक्तं' शब्द के अंतर्गत 'प्र' उपसर्ग कहने के द्वारा यहाँ यह जानना चाहिए कि भगवान केवल स्वयं की कृपाद्वारा ही प्रादुर्भूत हुए, न कि आचार्यचरणों की प्रार्थना द्वारा, यह बताने के लिए 'प्र' शब्द उपपादित किया है। साक्षात् भगवद्-वाक्यों का कथन सभी को भलीभांति हृदयारूढ़ नहीं होता, अतः वाक्यों का अर्थ जैसे-जैसे भलीभाँति हृदयारूढ़ होता हो, वैसे पद्यबंधन द्वारा कहने की प्रतिज्ञा **तदक्षरश उच्यते** इन शब्दों से कह रहे हैं। वही पूर्व में कहे **अक्षरशः** अर्थात् प्रति-अक्षर के विचारपूर्वक **उच्यते** अर्थात् निरूपित कर रहे हैं, यह अर्थ है ॥ १ ॥

एवं कथनं प्रतिज्ञाय साक्षात्स्वमार्गीयसेवाप्रतिबन्धकासाधारणदोषनिवृत्तिप्रकारं भगवदुक्तं प्रथमत आहुः ब्रह्मसम्बन्धकरणादिति।

ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः॥ २॥

ब्रह्मसम्बन्धकरणं नाम एतन्मार्गीयाचार्यद्वारा भगवन्निवेदनम्। तेनैव सर्वेषां देहानां सर्वेषां जीवानां च सेवाप्रतिबन्धकसर्वदोषनिवृत्तिर्भवति। ननु 'वेदान्ते च स्मृतौ ब्रह्मलिङ्गं भागवते तथा। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यत' इत्याचार्यवचनादुपनिषत्स्वेव ब्रह्मपदं पुरुषोत्तमवाचकम्, नत्वन्यत्र, तथाप्यत्र ब्रह्मपदोपादानस्यायमाशयः। यथा ब्रह्मणि सर्वसमत्वं धर्मोस्ति, तद्वदत्रापि आचार्यनिवेदनानन्तरं सर्वेषामङ्गीकारे समत्वमेव, न तु वैषम्यमपीति ज्ञापनायात्र ब्रह्मपदोपादानम्। यद्वा। यथा गीतासु 'भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्याया' मित्यादिवचनाद्भगवद्वाक्यानामेवोपनिषद्रूपत्वम्, तद्वदत्रापि ब्रह्मसम्बन्धकरणादित्यादिवाक्यानां भगवद्वाक्यत्वेनोपनिषद्रूपत्वादत्र ब्रह्मपदस्य पुरुषोत्तमवाचकत्वमेवेति ब्रह्मपदोपादानम्। तेनास्मिन्भक्तिमार्गे भगवदीयत्वेनैव सर्वदोषनिवृत्तिः। सेवायोग्यत्वं च। अत एव श्रुतिरप्याह 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति। अस्मिन्मार्गे भगवद्वरणस्यैव दोषाभावहेतुत्वात्। दोषरहितस्यैव भगवत्प्राप्तिहेतुत्वात्। तस्मादस्मिन्मार्गे भगवदीयत्वमेव सर्वदोषनिवृत्तिहेतुः।

इस प्रकार कहने की प्रतिज्ञा कर भगवान द्वारा कहे गये साक्षात् स्वमार्गीय-सेवाप्रतिबंधक-असाधारण दोषों की निवृत्ति का प्रकार प्रथमतः **ब्रह्मसंबंधकरणात्** इन शब्दों से कह रहे हैं।

ब्रह्मसम्बन्धकरणं का अर्थ है, जीव का पुष्टिमार्गीय-आचार्य द्वारा भगवान को निवेदन। उसी से सभी देहों के एवं सभी जीवों के सेवा में प्रतिबंधक समस्त दोषों की निवृत्ति होती है। यहाँ एक शंका यह होती है कि, ''ब्रह्म का स्वरूप वेदांत में 'ब्रह्म', स्मृति में 'परमात्मा' एवं भागवत में 'भगवान' शब्द से कहा गया है (शा०प्र०/६)'' इन आचार्यवचनों के द्वारा उपनिषदों में ही 'ब्रह्म' पद पुरुषोत्तम का वाचक है, न कि अन्यत्र? तथापि यहाँ 'ब्रह्म' पद उपपादित करने का आशय यह है कि, जैसे ब्रह्म में समान धर्मत्व होता है, वैसे यहाँ भी आचार्यचरणों द्वारा भगवान को निवेदन करने के पश्चात् अंगीकार होने पर सभी की समानता है, न कि परस्पर विषमता है, यह बताने के लिए यहाँ 'ब्रह्म' पद उपपादित किया है। अथवा जिस प्रकार भगवद्-गीता के अध्यायों की समाप्ति में ''भगवद्-गीता में, उपनिषद् में, ब्रह्मविद्या में'' इत्यादि वचन द्वारा भगवद्-वाक्यों को ही उपनिषद्-रूप कहा गया है, उस प्रकार यहाँ भी **ब्रह्मसंबंधकरणात्** इत्यादि वाक्य भगवद्-वाक्य होने के कारण उपनिषद्-रूप ही हैं। अतः यहाँ 'ब्रह्म' पद पुरुषोत्तम का ही वाचक है। अतएव 'ब्रह्म' पद उपपादित किया है। इसलिए इस भक्तिमार्ग में भगवदीयता से ही समस्त दोषों की निवृत्ति होती है एवं सेवा की योग्यता भी प्राप्त होती है। अतएव श्रुति भी यही बात 'जिसको यह परमात्मा स्वीकार कर लेता है, उसे ही (कठो.१/२/२३)' इन वाक्यों से कह रही है, क्योंकि इस मार्ग में दोष दूर करने का हेतु भगवद-वरण ही है। क्योंकि दोषरहित को ही भगवद्-प्राप्ति में हेतु कहा गया है। अतः इस मार्ग में भगवदीयत्व ही समस्त दोषों की निवृत्ति का हेतु है।

ननु पूजामार्गे पूजार्थं दोषनिवृत्तिप्रकारा बहव एव उक्ताः भूतशुद्ध्यादयः, तद्व्यतिरेकेण कथमत्र भगवदीयत्वमात्रेणैव सर्वदोषनिवृत्तिरितिचेत्। उच्यते। सर्वथा निर्दुष्टपदार्थसम्बन्धेनैव सर्वदोषनिवृत्तिः। सर्वात्मना निर्दुष्टत्वं पुरुषोत्तमस्यैव, नान्यस्य, अत एवाचार्यैरुक्तं 'कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जित'मिति। अतो भक्तिमार्गे पुरुषोत्तमस्यैव सेव्यत्वात्तत्सम्बन्धमात्रेणैव सर्वेषां सर्वदोषनिवृत्तिरिति नानुपपत्तिः काचित्। अस्यार्थस्य युक्तत्वज्ञापनायोक्तं हीति। पूजामार्गे पुरुषोत्तमसम्बन्धाभावात्तत्र ये दोषाः सम्भवन्ति, तेषां भक्तिमार्गे सम्भावनापि न सम्भवतीति तान्दोषान्निराकरणार्थमनुवदन्ति दोषाः पञ्चविधाः स्मृता इति॥ २॥

यहाँ शंका यह होती है कि, पूजामार्ग में पूजा के लिए भूतशुद्धि-आदि दोषनिवृत्ति के अनेक प्रकार कहे गये हैं, किंतु उन्हें छोड़कर मात्र-भगवदीयता से ही समस्त दोषों की निवृत्ति कैसे होगी? तो इसका समाधान कह रहे हैं। समझना चाहिए कि, सर्वथा निर्दुष्ट पदार्थ से संबंध द्वारा ही समस्त दोषों की निवृत्ति होती है। एवं सभी प्रकार से निर्दुष्टता तो पुरुषोत्तम की ही है, किसी अन्य की नहीं, अतएव आचार्यचरणों ने ''वस्तुतः कृष्ण के अतिरिक्त कोई दूसरा देव दोषरहित नहीं है (अं०प्र०/१)'' यह कहा है। चूँकि भक्तिमार्ग में पुरुषोत्तम ही सेव्य हैं, अतः उनसे संबंध होने मात्र से ही सभी के समस्त दोषों की निवृत्ति होती है, इसमें कोई भी आपत्ति नहीं है। इसी अर्थ की युक्तता बताने के लिए 'हि' शब्द का उपयोग किया गया है। वास्तव में तो पूजामार्ग में पुरुषोत्तम से संबंध का अभाव होने के कारण वहाँ जो दोष संभावित होते हैं, उनकी भक्तिमार्ग में संभावना भी संभव नहीं होती। अतः उन दोषों के निराकरण के लिए **दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः** इन शब्दों से कह रहे हैं॥ २॥

पञ्चविधत्वमेव गणयन्ति सहजा इति।

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन॥ ३॥

देहेन सहैव जायन्ते सहजाः। देहस्य पाञ्चभौतिकत्वात्। भूतेषु भगवत्सम्बन्धाभावात् दोषाः संभवन्ति, ते पूजामार्गे भूतशुद्ध्यादिना निराक्रियन्ते। तथैव पूजाप्रदेशेपि पूजार्थमासनादिशुद्धिविधानात्पूजाप्रदेशेपि दोषाः सन्ति। अन्यथा 'अपसर्पन्तु ते भूताः', 'पवित्रं कुरु चासन'मित्यादिना तन्निराकरणं न स्यात्। तद्वत्कालेपि 'प्रातर्होमं च कृत्वैव कृत्वा वा ब्रह्मयज्ञकम्। यद्वा माध्याह्निकं कृत्वा पूजयेत्पुरुषोत्तम'मिति मन्त्रराजानुष्टुब्विधानवचनात्। पूजायां नियतकालविधानात्तदतिरिक्तकालपूजाकरणे कालदोषोपि सम्भवति। अत उक्तं देशकालोत्था इति। एवं देशकालोत्थान्निरूप्य लोकवेदोत्थानाहुः लोकवेदनिरूपिता इति। 'पूजादिना ब्रह्मलोक'मिति वचनात्पूजाप्राप्यब्रह्मलोकेपि 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोर्जुने'तिवचनात्पुनरावृत्तिरूपो दोषस्तत्रापि निरूपितः। किञ्च, पूजायां पूजाङ्गत्वेनाग्निस्थापनपूर्वकवैदिकमन्त्रैर्होमविधानात्तत्रापि न्यूनातिरिक्तदोषः संभवत्येव। अन्यथा 'यस्य स्मृत्या च नामोक्त्ये'त्यादि प्रार्थनं न स्यात्। एवं लोकवेदोत्थान्निरूप्य संयोगजान्निरूपयन्ति संयोगजा इति। पूजायामभिषेकार्थं मन्त्रादिसंस्कृत-शंखादिजलेष्वसंस्कृतजलादिसंयोगे संयोगजो दोषो भवति। तथैवासादितपात्रादिपदार्थानां पुष्पगन्धादीनां तेषां स्त्रीशूद्रादिस्पर्शेपि स्पर्शदोषो भवति। चकारादन्येपि नैवेद्यादिष्वप्यागन्तुका दृष्ट्यादिदोषा उक्ताः।

उन्हीं पंचविध दोषों को **सहजा** इन शब्दों से गिन रहे हैं।

देह के संग ही उत्पन्न होने वाले सहजा हैं। क्योंकि देह पाञ्चभौतिक है, अतः प्राणियों में भगवद्-संबंध का अभाव होने के कारण जो दोष संभावित होते हैं, वे पूजामार्ग में भूतशुद्धि-आदि से निराकरण किए जाते हैं। उसी प्रकार पूजास्थान में भी पूजा के लिए आसन-आदि शुद्धि का विधान है। अतः सिद्ध होता है कि, पूजास्थल में भी दोष होते हैं। अन्यथा 'वे विघ्न दूर हों', 'आसन पवित्र करें' इत्यादि मंत्रों द्वारा

उन दोषों का निराकरण न हुआ होता। उसी प्रकार काल के संदर्भ में भी ''प्रातःहोम, ब्रह्मयज्ञ अथवा मध्यान्ह के कर्म करने के पश्चात् पुरुषोत्तम की पूजा करनी चाहिए'' इत्यादि वचनों का मंत्रराज-ग्रंथ में अनुष्टुपछंद में विधान है, अतः कालदोष भी संभावित होते ही हैं। पूजा में पूजा के लिए निश्चित-काल का विधान होता है। अतः उस काल से अतिरिक्त-काल में पूजा करने पर भी कालदोष संभावित होता है। अतः इन कारणों से 'देशकालोत्था' शब्दों द्वारा देश एवं काल के दोषों को कहा है। इस प्रकार, देशकाल में उत्पन्न हुए दोषों का निरूपण करके लोकवेद में उत्पन्न होने वाले दोषों को **लोकवेदनिरूपिता** इन शब्दों से निरूपित कर रहे हैं। 'पूजादि से ब्रह्मलोक की प्राप्ति' इत्यादि वचन द्वारा पूजा से प्राप्त हुए ब्रह्मलोक में भी ''ब्रह्मलोकसहित संपूर्ण लोक पुनरावर्ती हैं अर्जुन! (भ.गी.८/१६)'' इस वचन से पुनः संसार में जन्म लेना जैसे पुनरावृत्तिरूप दोष तो वहाँ भी निरूपित हुए हैं। और, पूजा में पूजा के अंगभूतकर्म अग्निस्थापनपूर्वक वैदिकमंत्रों द्वारा होम का विधान हुआ होने के कारण सिद्ध होता है कि, वहाँ भी न्यूनातिरिक्त-दोष संभव होते ही हैं। अन्यथा 'जिसके नाम एवं स्मरण से' इत्यादि वाक्यों द्वारा उन दोषों के निराकरण-हेतु प्रार्थना के विधान न होते। इस प्रकार लोकवेद में उत्पन्न हुए दोषों का निरूपण कर 'संयोग' द्वारा उत्पन्न हुए दोषों का निरूपण **संयोगजा इन शब्दों से कर रहे हैं।** पूजा में अभिषेक-आदि के लिए मंत्रादि से संस्कार किए गये शंखादि के जल में असंस्कृत-जलादि का संयोग होने पर संयोगदोष उत्पन्न हो जाता है। उसी प्रकार शुद्ध किए गये पात्रादि एवं पुष्पगंधादि पदार्थों का स्त्रीशूद्रादि से स्पर्श होने पर भी स्पर्शदोष उत्पन्न हो जाता है। मूल कारिका में आए 'चकार' से नैवद्यादि में आगंतुकों की दृष्टि-आदि से उत्पन्न हुए अन्य दोष भी कहे जा रहे हैं।

एवं पूजामार्गीयान् दोषाननूद्य भक्तिमार्गे तेषां निराकरणमाहुः न मन्तव्याः कथञ्चनेति। ते दोषा भक्तिमार्गे न मन्तव्याः, न गण्याः। यद्यपि 'न मन्तव्या' इत्यतावतापि निराकरणसिद्धावपि पुनः कथञ्चनेति पूजामार्गीयोक्तदोषाणां भक्तिमार्गे संभावनापि नास्तीत्यर्थः। दोषसम्भावनाया अप्यभावे ब्रह्मसम्बन्धकरणादित्यसाधारणो हेतुः पूर्वमुक्त एव। ननु पूजामार्गे पूजार्थं दोषनिराकरणार्थं बहव एव प्रकारा उक्ताः, तान्विहाय शुद्धभक्तिमार्गे भगवन्निवेदनमात्रस्यैव सेवार्थं सर्वदोषनिवर्तकत्वं कथमिति चेत्? उच्यते। 'अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षज' इति वचनात्। तथा च 'भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि संभवा'दित्यादिवचनतो भक्तिमार्गः स्वत एव सर्वदोषनिवर्तकः। अथ च, भक्तिमार्गे सेव्यः पुरुषोत्तम एव, न तु तदंशस्तद्विभूतिरूपं वा। स एव सर्वात्मना सर्वदोषरहितः निर्दुष्टपूर्णगुणविग्रहः। अतस्तन्निवेदनेन तत्सम्बन्धे सति सर्वात्मना सर्वदोषनिवृत्तौ किं वाच्यम्। अतः पञ्चमस्कन्धे भगवद्भक्तस्वरूपनिरूपणे 'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था' इति तेषामुत्कर्षावधिरुक्तः। यत्र भगवदीयत्वमात्रस्यैव सर्वपुरुषार्थतुच्छीकरणत्वम्, तत्र भक्तिमार्गीयभगवन्निवेदनस्य सर्वदोषनिवर्तकत्वं कैमुतिकन्यायेनैव सिद्धमिति किं वृथाबल्गनेनेति सर्वं सुस्थम्। पूजायास्तु कर्ममार्गान्तःपातित्वात्तत्र च न भक्तित्वम्। कर्ममार्गस्य भगवत्सम्बन्धाभावात्सदोषत्वमपि।

इस प्रकार पूजामार्गीय-दोषों को कह कर भक्तिमार्ग में उनका निराकरण **न मन्तव्याः कथञ्चन** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। वे दोष भक्तिमार्ग में **न मन्तव्याः** अर्थात् नहीं गिनने चाहिए। यद्यपि **न मन्तव्याः** इतना कह देने से ही उन दोषों का निराकरण सिद्ध है ही, फिर भी पुनः **कथञ्चन** कहने का आशय यह है कि, पूजा मार्ग में कहे गये दोषों की भक्तिमार्ग में संभावना भी नहीं है, यह अर्थ है। दोषसंभावना भी न होने में **ब्रह्मसंबंधकरणात्** इस वाक्य से 'ब्रह्मसंबंध' यह असाधारण हेतु पूर्व में कहा ही है। यहाँ शंका करते हैं कि, पूजामार्ग में पूजा के लिए दोषों के निराकरणार्थ अनेक प्रकार कहे ही हैं; अब उन्हें छोड़कर शुद्धभक्तिमार्ग में भगवद्-सेवा के लिए मात्र भगवद्-निवेदन ही सर्वदोषनिवर्तक कैसे हो सकता है? तो इसका समाधान कह रहे हैं। ''इन अनर्थों की शांति का साक्षात् साधन भक्तियोग है (श्री.भा.१/७/६)'' इन वचनों के द्वारा एवं ''मेरी भक्ति, मुझमें निष्ठ चाण्डालों को भी पवित्र कर देती है (श्री.भा.११/१४/२१)'' इत्यादि वचन द्वारा भक्तिमार्ग स्वतः ही समस्त दोषों का निवर्तक है। एवं भक्तिमार्ग में सेव्य पुरुषोत्तम ही हैं, न कि उनके अंश या उनके विभूतिरूप। वही सभी प्रकार से समस्त दोषों से रहित हैं एवं निर्दुष्टपूर्ण-गुणस्वरूप वाले हैं। अतः उनको निवेदन करने के द्वारा उनसे संबंध होने पर सभी प्रकार से समस्त दोषों की निवृत्ति होने में क्या कहना शेष रह जाता है? अतः श्रीमद्-भागवत के पंचमस्कंध में भगवद्-भक्त के स्वरूपनिरूपण में ''भगवदीयता से ही समस्त-पुरुषार्थ परिसमाप्त हो जाते हैं (श्री.भा.५/६/१७)'' इन वाक्यों से उन भगवदीयों के उत्कर्ष की सीमा कही गई है। जहाँ मात्र भगवदीयता से ही सर्वपुरुषार्थ का तुच्छीकरण हो जाता है, वहाँ भक्तिमार्गीय भगवद्-निवेदन की सर्वदोष-निवारकता कैमुतिकन्याय से सिद्ध ही है, अतः वृथा प्रलाप क्यों? यह सभी कुछ सुदृढ़ सिद्धांत हैं। और, पूजा तो कर्ममार्ग के अंतर्गत होने के कारण वहाँ भक्ति नहीं है। क्योंकि कर्ममार्ग भगवद्-संबंधरहित होने के कारण दोषसहित भी है।

ननु भगवत्पूजाविधानान्निर्दोषत्वमेवेति चेत्? सत्यम्। पूजामार्गे पूज्यस्य विभूतिरूपत्वेन शुद्धपुरुषोत्तमत्वाभावान्न सर्वात्मना सर्वदोषनिवर्तकत्वम्। तत्रावाहनादिविसर्जनान्तानामुपचाराणां केवलमन्त्राद्यधीनत्वात्पुरुषोत्तमविभूतिरूपत्वमेव। पुरुषोत्तमस्तु 'नाहं वेदैर्न तपसे'ति 'भक्त्याहमेकया ग्राह्य' इत्यादिवचनैः केवलमनन्यभक्त्यधीन एव। न तु तदतिरिक्तमन्त्राद्यधीनोपीति महदेव वैलक्षण्यम्। किञ्च, पूजामार्गे पूज्यदेवताया मोहनोच्चाटनादिलौकिककार्यविनियोगोपि श्रूयते। पूज्यदेवतामन्त्रस्यारित्वादयो धर्माः श्रूयन्ते। न हि

---

१ पातादिति पाठः।

सर्वनियामकस्य सर्वेश्वरस्य ब्रह्मादिसर्वोपास्यस्यानन्दमात्रकरपादमुखोदरादेः पुरुषोत्तमस्य सेवकेष्वरित्वादयो धर्माः सम्भवन्ति। अतो गीतास्वपि भगवतोक्तं 'समोहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यह'मिति। तथा श्रीभागवते प्रह्लादवाक्यं 'देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा। भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्यायथावय'मिति वचनात्किमतोऽधिकं भक्तिमार्गस्य पूजामार्गस्य च तारतम्यं वाच्यमिति दिक्॥ ३ ॥

यहाँ शंका होती है कि, चूँकि विधान तो भगवद्-पूजा का है, अतः वह तो निर्दुष्ट है ही, अब और निर्दुष्टता की क्या अपेक्षा है? ऐसी शंका हो तो सत्य है। किंतु समझिए कि, पूजामार्ग में पूज्य-भगवान के विभूतिरूप होने के कारण शुद्धपुरूषोत्तम-स्वरूप का अभाव है। अतः वह पूजा सभी प्रकार से सर्वदोषों की निवर्तिका नहीं है। वहाँ पूजामार्ग में आवाहन-आदि से लेकर विसर्जन तक की विधियाँ केवल मंत्रों के अधीन होने के कारण पुरुषोत्तम की विभूति रूप ही हैं। पुरुषोत्तम तो, ''मैं न वेदों से, न तप के द्वारा (भ.गी.११/५३)'', ''एक भक्ति के द्वारा ही (श्री.भा.११/१४/२१)'' इत्यादि वचनों द्वारा केवल अनन्य भक्ति के ही अधीन हैं, न कि भक्ति से अतिरिक्त मंत्रादि के अधीन ही, यह उनकी महद्-विलक्षणता है। और, पूजामार्ग में पूज्यदेवता का संमोहन-उच्चाटन आदि लौकिक कार्यों में विनियोग भी सुना जाता है। और तो और, पूज्यदेवता के मंत्रों को काटने वाले शत्रुमंत्र आदि धर्म भी सुने जाते हैं। किंतु सर्वनियामक-सर्वेश्वर-ब्रह्मा आदि सभी के उपास्य आनंदमात्र हस्त-पाद-मुख-उदर आदि रूपवाले पुरूषोत्तम के सेवकों में निश्चित ही शत्रुधर्म संभव नहीं होते, उनका कोई शत्रु होता ही नहीं। अतः भगवद्-गीता में भी भगवान द्वारा कहे ''सभी जीवों में मैं समभाव रखता हूँ। न मेरा कोई द्वेषी है न प्रिय। किंतु जो मुझे भक्ति से भजते हैं, वे मुझमें है और मैं उनमें (भ.गी.९/२९)'' एवं श्रीमद्-भागवत में ''देव, असुर, मनुष्य, यक्ष या गंधर्व, जो कोई हो - मुकुंद के चरणों का भजन करने से वह हमारे समान कल्याण का भागी होता है (श्री.भा.७/७/५०)'' इन प्रहलाद-वाक्यों से भक्तिमार्ग एवं पूजामार्ग की भिन्नता और अधिक क्या कहनी? अतः यह दिशा स्पष्ट हुई॥ ३ ॥

अतो भक्तिमार्गे निवेदनेनैव सेवाप्रतिबन्धकसर्वदोषनिवृत्तिरित्यत आहुः अन्यथेति।

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन।
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत्॥ ४ ॥

अन्यथा भक्तिमार्गे निवेदनव्यतिरेकेण सेवाप्रतिबन्धकसर्वदोषनिवृत्तिर्न भवति। कथञ्चनेति प्रकारान्तरव्युदास उक्तः। एवं सेवार्थं सोपपत्तिकां सर्वदोषनिवृत्तिमुक्त्वाग्रे तादृशस्य यावज्जीवं दोषसंक्रान्त्यभावार्थं स्थितिप्रकारमाहुः असर्पितवस्तूनामिति। यतोस्मिन्मार्गे भगवत्सम्बन्धाभाववद्वस्तुसंसर्गस्यैव दोषत्वम्, अतः स्वार्थं भगवदसमर्पितवस्तूनां वर्जनमाचरेत्। संसर्गमपि न कुर्यादित्यर्थः॥ ४ ॥

इस कारण भक्तिमार्ग में निवेदन से ही सेवा के प्रतिबंधक समस्त दोषों की निवृत्ति होती है। अतः इसे **अन्यथा** इन शब्दों से कह रहे हैं।

'अन्यथा' शब्द का अर्थ यह है कि, भक्तिमार्ग में निवेदन के बिना सेवा में प्रतिबंधक समस्त दोषों की निवृत्ति नहीं होती। **कथञ्चन** शब्द से निवेदन से अतिरिक्त अन्य प्रकारों का निषेध कहा है। इस प्रकार सेवा के लिए प्रमाणसहित समस्त दोषों की निवृत्ति कह कर आगे तादृशी को जीवनपर्यंत दोष-संक्रमण के अभाव के लिए रहने का प्रकार **असमर्पित वस्तूनाम्** इन शब्दों से कह रहे हैं। चूँकि इस मार्ग में भगवद्-संबंध के अभाव जैसी वस्तु के संसर्ग से ही दोष उत्पन्न होता है, अतः स्वयं को भगवद्-असमर्पित वस्तुओं का वर्जन करना चाहिए। संसर्ग भी नहीं करना चाहिए, यह अर्थ है॥ ४ ॥

एवमसमर्पितवस्तुमात्रत्यागे तादृशस्याग्रे लौकिकालौकिकव्यवहारसिद्धिः कथमित्याकाङ्क्षायां तादृशस्य व्यवहारसिद्धिप्रकारमाहुः निवेदिभिरिति।

निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कार्यमिति स्थितिः।
न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम्॥ ५ ॥

निवेदिभिः स्वमार्गानुसारेण कृतात्मनिवेदिभिः, सर्वं लौकिकं वैदिकं च, लौकिकं पुत्रादिविवाहार्थं, ब्राह्मणभोजनार्थं स्वोपभोगार्थं च कृतं वैदिकं श्राद्धयागादिकम्। श्राद्धार्थमपि निष्पादितं पाकादिकं सर्वं यागार्थं सम्पादितं घृतान्नादिकं संभारादिकं च सर्वं भगवते निवेद्यैव भगवन्निवेदनानन्तरं पश्चात्सर्वं कार्यमिति। संभाराणां तदाज्ञापूर्वकमेव करणं निवेदनम्। तथाच स्मर्यते श्रीभागवते सप्तमस्कन्धे 'विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम्। पितृभ्यश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पत' इति वचनादियं भक्तिमार्गमर्यादा। मर्यादा नामानुल्लङ्घ्याज्ञा। यथा वेदादिमर्यादोल्लङ्घनेन कार्यकरणे कर्ता दोषभाग्भवति, तथात्रापि भक्तिमार्गमर्यादोल्लङ्घनेन कार्यकरणे भक्तिमार्गीयोपि दोषभाग्भवतीति ज्ञापनाय स्थितेर्मर्यादात्वमुक्तम्। स्थितिरिति।

इस प्रकार असमर्पित वस्तु मात्र का त्याग करने पर तादृशी की आगे लौकिक-अलौकिक व्यवहार की सिद्धि कैसे होगी? यह आकांक्षा होने पर तादृशी के व्यवहार की सिद्धि का प्रकार **निवेदिभिः** इन शब्दों से कह रहे हैं।

निवेदिभिः अर्थात् स्वमार्गानुसार जिन्होंने-आत्मनिवेदन कर लिया है वे; **सर्वं** शब्द का अर्थ है लौकिक एवं वैदिक; लौकिक का अर्थ है- पुत्रादि के विवाहादि के लिए, ब्राह्मण भोजनादि के लिए एवं स्वयं के उपभोग के लिए जो कुछ किया जाता हो, वह। वैदिक का अर्थ है- श्राद्ध-यज्ञ आदि जो कुछ भी किया जाता हो, वह। श्राद्ध के लिए भी निष्पादित पक्वान्न-आदि एवं यज्ञ के लिए संपादित घृत-अन्नादि, धन-रत्नादि सभी भगवान को निवेदित कर के ही एवं भगवद्-निवेदन हो जाने के पश्चात् सभी कार्य करने चाहिए। धन-रत्नादि का भगवान की आज्ञानुसार उपयोग करना-निवेदन है। वही श्रीमद्-भागवत के सप्तमस्कंध में "विष्णु को निवेदित किए गये अन्न द्वारा अन्य देवों का यजन करना चाहिए। पितरों को भी वही देने से वह अनंत फलदायी होता है" (यह वाक्य मुझे श्री०भा० के सप्तमस्कंध में प्राप्त नहीं हुआ - अनुवादक) इन वचनों से स्मरण होता है एवं यही भक्तिमार्ग की मर्यादा है। 'मर्यादा' का अर्थ है-'ऐसी आज्ञा जिसका उल्लंघन नहीं करना चाहिए'। जिस प्रकार वेदादि की मर्यादा का उल्लंघन करके कार्य करने पर कर्ता दोष का भागी होता है, उस प्रकार यहाँ भी भक्तिमार्ग की मर्यादा का उल्लंघन करके कार्य करने पर भक्तिमार्गीय भी दोष का भागी होता है, यह बताने के लिए भक्त को संसार में रहने की मर्यादा कही है। इस प्रकार **स्थितिः** शब्द का विश्लेषण किया गया।

एवं वस्तुमात्रस्य निवेदनावश्यकत्वमुक्त्वा कदाचिद्भगवदर्थं सम्पादितपदार्थेषु केनचिद्गृहस्थितेन बालकेन स्त्र्यादिना वा अज्ञानात्तन्मध्ये किञ्चित्स्वार्थमन्यार्थं वा विनियुक्तं चेत्, तदा भगवदर्थं सम्पादितं वस्तु सामिभुक्तमर्धभुक्तं जातम्, तदवशिष्टमसमर्पितमिति ज्ञात्वा स्वोपभोगार्थं चेत्समर्पितुमिच्छति तत्समर्पणस्य भक्तिमार्गे निषेधमाहुः न मतमिति। देवदेवस्य देवा ब्रह्मादयः, तेषामपि देवस्याराध्यस्य पुरुषोत्तमस्य तत्समर्पणं न मतम्, सामिभुक्तस्य समर्पणं न मतं, भक्तिमार्गे न संमतं, न कर्तव्यमित्यर्थः। शुद्धपुष्टिमार्गप्रवर्तकाचार्याणां न सम्मतं, न कर्तव्यमित्यर्थः। अथवा, स्वोपयोगार्थमानीतं वस्त्रादिकं तन्मध्ये स्वोपयुक्तं भगवते समर्प्य स्वोपभोगं कृत्वा तदवशिष्टं चेद्भगवते समर्पितुमिच्छति, तदपि सामिभुक्तमिति तस्यापि समर्पणं देवदेवस्य न मतमिति॥ ५ ॥

इस प्रकार वस्तुमात्र के लिए निवेदन की आवश्यकता कह कर, अब कदाचित् भगवान के लिए संपादित पदार्थों में से गृह में रहनेवाले किसी बालक या स्त्री-आदि के द्वारा अज्ञान से भगवान को समर्पित होने के बीच में ही कुछ वस्तु स्वयं के लिए या अन्य के लिए विनियोग कर ली जाय तो, तब भगवान के लिए संपादित वह वस्तु **सामिभुक्तं** अर्थात् अर्धभुक्त हो जाती है। एवं इन व्यक्तियों द्वारा उपयोग किए जाने के बाद बचे हुए को असमर्पित जानकर स्वयं के लिए उपभोगार्थ (उपभोग करने के लिए) यदि भगवान को समर्पण करने की इच्छा करता है, तो उस समर्पण का भक्तिमार्ग में निषेध कहने के लिए **न मतम्** इन शब्दों से कह रहे हैं। **देवदेवस्य** का अर्थ है, ब्रह्मादि देवता के भी आराध्य पुरुषोत्तम को वह समर्पण नहीं करना चाहिए, **सामिभुक्तं** का समर्पण नहीं करना चाहिए, भक्तिमार्ग में वह संमत नहीं है। अतः नहीं करना चाहिए, यह अर्थ है। संक्षेप में समझिए कि, शुद्धपुष्टिमार्ग के प्रवर्तक आचार्यचरणों को वह संमत नहीं है। अतः नहीं करना चाहिए, यह अर्थ है। अथवा, स्वयं के उपयोग के लिए लाए गये वस्त्रादि में से स्वयं के लिए उपयुक्त वस्त्र को निकालकर यदि उसे भगवान को समर्पित करता है एवं तत्पश्चात् स्वयं उपभोग करके उस बचे हुए वस्त्र को यदि पुनः भगवान को समर्पित करने की इच्छा करता है, तो वह भी सामिभुक्त ही है। अतः उसका समर्पण भी देवाधिदेव के लिए उचित नहीं है॥ ५ ॥

एवं सामिभुक्तसमर्पणनिषेधमुक्त्वा सर्वात्मना सर्वथा सदाकर्तव्यप्रकारमाहुः तस्मादिति।

तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्।
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः॥ ६ ॥
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।

यस्मात्पूर्वमसमर्पितवस्तुसम्बन्धो न कर्तव्य इत्युक्तम्, पश्चादर्धभुक्तसमर्पणमपि न कर्तव्यमित्युक्तम्, तस्मादादौ स्वोपभोगात्पूर्वमेव सर्ववस्तुपदेन भार्यापुत्रादीनामपि समर्पणं कर्तव्यम्। विवाहानन्तरं स्वोपयोगात्पूर्वमेव स्वोपयोगार्थमेव तन्निवेदनं कर्तव्यम्। एवमपि पुत्रोत्पत्त्यनन्तरमपि पुत्रादीनां समर्पणं कर्तव्यम्। सर्वकार्ये सर्वकार्यनिमित्तं तत्तत्कार्योपयोगिवस्तुसमर्पणं कार्यम्। समर्पणं कृत्वा पश्चात्तानि तानि कार्याणि कर्तव्यानीत्यर्थः। अत्र कश्चित्पूर्वपक्षी शङ्कते। ननु भक्तिमार्गे भगवन्निवेदितस्यैव वस्तुनः स्वार्थं विनियोगः कर्तव्यः, न तु अनिवेदितस्येति नियम उक्तः। तस्यैकादशस्कन्धे निषेधोपि श्रूयते। यथा। 'अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदित'मित्याशङ्कां मार्गभेदेन परिहर्तुमाहुः दत्तापहारवचनमिति। दत्तस्य नैवेद्यादेरपहारः पुनः स्वार्थग्रहणम्। तथा च तद्वत्सकलं दत्तवस्त्रादिकमपि सकलं न ग्राह्यमित्यादिवचनं स्मृत्यादिवाक्यं भिन्नमार्गपरं मतम्। भिन्नमार्गपरं द्विविधभक्तिमार्गातिरिक्तकर्ममार्गपूजामिश्रमार्गपरम्। तत्र हेतुः। तस्मिन्मार्गे पूजामार्गे भक्तिमार्गत्वाभावान्निवेदनस्वरूपस्यैवाप्रसिद्धेः। भक्तिमार्ग एव निवेदनस्योक्तत्वात्। अत एव श्रीभागवते 'श्रवणं कीर्तन'मिति नवधोक्तभक्तौ निवेदनस्याप्युक्तत्वाद्भक्तिमार्गे एव निवेदनम्, नान्यत्र। तथा च तत्रैवैकादशस्कन्धे 'दासान्सुतान्गृहान्प्राणान्यत्परस्मै निवेदनम्। एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्। मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्थोस्यावशिष्यत' इति

---

* स्वोपयोगार्थमिति पाठः।

भक्तिमार्ग एव भक्तिजनकत्वेन निवेदनप्रकार उक्तः। तस्माद्भक्तिमार्गे पुरुषोत्तमस्यैव सेव्यत्वात्स्वस्य सेवकत्वाद्भक्तिमार्गे सेवकस्य भगवदुपभुक्तभगवदुच्छिष्टेनैव स्वनिर्वाहस्यावश्यकत्वात्, अत एव श्रीमद्धवैरुक्तम्। 'त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोलंकारचर्चिताः। उच्छिष्टभोजिनो दासा' इत्युक्तत्वाद्दासानामुच्छिष्टभोजनमेव स्वधर्मः। भुक्तावशिष्टस्यैवोच्छिष्टत्वात्तत्ससमर्पितस्य भोजनं भक्तिमार्गे एव, न तु मार्गान्तरे।अत एव भगवताप्युक्तं 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन' इति। 'भक्त्युपहृतमश्नामी'ति वचनाद्भक्तिमार्गे एव भोजनस्यावश्यकत्वम्, न तु तदतिरिक्तपूजामार्गेपि। अतो भक्तिमार्गातिरिक्तमार्गेषु नैवेद्यादेर्दानमेव निवेदनपदवाच्यम्, न तु भक्तिमार्गवत्समर्पितस्याङ्गीकारः।

इस प्रकार सामिभुक्त-समर्पण का निषेध कह कर सभी प्रकार से सर्वथा-सदाकर्तव्यता का प्रकार **तस्माद्** इन शब्दों से कह रहे हैं।

चूँकि पूर्व में 'असमर्पितवस्तु से संबंध नहीं करना चाहिए' यह कह दिया है एवं पश्चात् 'अर्धभुक्तसमर्पण भी नहीं करना चाहिए' यह भी कह दिया है अतः **तस्मादादौ** अर्थात् स्वयं के उपभोग से पूर्व ही समर्पण करना चाहिए। मूल कारिका में आए 'सर्ववस्तु' पद से पत्नीपुत्रादि का समर्पण भी करना चाहिए, यह ज्ञापित होता है। विवाह के पश्चात् स्वयं के उपयोग से पूर्व ही, स्वयं के उपयोग करने के लिए उन्हें भगवान को निवेदन करना चाहिए। इसी प्रकार पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् भी पुत्रादि का भगवान को समर्पण करना चाहिए। **सर्वकार्ये** शब्द का अर्थ है, समस्त कार्यों के निमित्त उन-उन कार्यों में उपयोगी वस्तु का समर्पण करना चाहिए। समर्पण करने के पश्चात् ही उन कार्यों को करना चाहिए, यह अर्थ है। अब यहाँ कोई पूर्वपक्षी शंका करता है कि-''भक्तिमार्ग में भगवान को निवेदित वस्तुओं का ही स्वयं के लिए विनियोग करना चाहिए, न कि अनिवेदित का''-यह नियम तो कह दिया गया है, किंतु एकादशस्कंध में इस नियम का निषेध भी सुनने में आता है। जैसे ''मुझे निवेदित किए गये दीपक का प्रकाश भी स्वयं के उपयोग में न ले (श्री.भा.११/११/४०)'' तो इस आशंका का ''यह व्यवस्था दूसरे मार्ग की है'' इस प्रकार से परिहार करते हुए **दत्तापहारवचनं** इन शब्दों से कह रहे हैं। **दत्तस्य** शब्द का अर्थ है, निवेदित वस्तु का **अपहारः** अर्थात् पुनः स्वयं के लिए ग्रहण करना। एवं इन निवेदित वस्तुओं की भाँति ''भगवान को दिए गये समस्त वस्त्रादि को ग्रहण नहीं करना चाहिए'' इत्यादि स्मृति-आदि के वाक्य भिन्नमार्गपरक मानने चाहिए। **भिन्नमार्गपरं** शब्द का अर्थ है-ऐसे वाक्यों को भक्तिमार्ग से अतिरिक्त द्विविध कर्ममार्गपरक एवं पूजामार्गपरक मानने चाहिए। इसका हेतु कह रहे हैं कि, उस पूजामार्ग में भक्तिमार्ग का अभाव होने के कारण निवेदन का स्वरूप ही अप्रसिद्ध है, क्योंकि 'निवेदन' भक्तिमार्ग में ही कहा गया है। अतः कहा गया 'दत्तापहारवचन' यहाँ नहीं मानना चाहिए। अतएव श्रीभागवत में ''श्रवण, कीर्तन (श्री.भा.७/५/२३)'' इस वाक्य से कही नवधाभक्ति में निवेदन को भी कहा होने से भक्तिमार्ग में ही निवेदन की प्रणालिका है, अन्यत्र नहीं। एवं वहीं एकादश-स्कंध में ''स्त्री, पुत्र, घर, प्राण जो कुछ भी प्रिय लगता हो उसका निवेदन करना चाहिए (श्री.भा.११/३/२८)'' इस वाक्य से भक्तिजनक होने के कारण भक्तिमार्ग में ही निवेदन का प्रकार कहा है। अतः भक्तिमार्ग में पुरुषोत्तम ही सेव्य होने के कारण एवं स्वयं जीव सेवक होने के कारण एवं चूँकि भक्तिमार्ग में सेवक को भगवान द्वारा उपयुक्त भगवद्-उच्छिष्ट से ही स्वयं के निर्वाह की आवश्यकता है, अतः निवेदन अनिवार्य है। इसी कारण, श्रीमद्-उद्धव ने ''आपके द्वारा उपभुक्त की गई माला पहनी, चंदन लगाया, वस्त्र एवं अलंकार धारण किए, हम आपकी जूठन खानेवाले सेवक हैं (श्री.भा.११/६/४६)'' यह कहा होने के कारण सेवकों के लिए भगवद्-उच्छिष्ट का भोजन करना ही स्वधर्म है। चूँकि भगवद्-भुक्त से बचा हुआ ही उच्छिष्ट होता है, अतः भगवान को समर्पित का भोजन भक्तिमार्ग में ही है, न कि अन्य मार्ग में। अतएव भगवान ने भी ''पत्ता, पुष्प, फल, जल - जो भी भक्ति से अर्पण करता है, उस भक्ति से समर्पित का मैं भोजन करता हूँ (भ.गी.९/२६)'' यह कहा है। 'भक्ति से समर्पित का भोजन करता हूँ' इस वचन से सिद्ध होता है कि, भक्तिमार्ग में ही प्रभु को भोजन की आवश्यकता है, न कि उससे अतिरिक्त पूजामार्ग में भी। अतः भक्तिमार्ग से अतिरिक्त मार्गो में निवेदित पदार्थों आदि का दान ही 'निवेदन' पद का वाचक है, न कि भक्तिमार्ग की भाँति समर्पित का अंगीकार।

दानं नाम स्वसत्तापरित्यागपूर्वकं परसत्तापादनम्। यथा ब्राह्मणाय गौर्दीयते, तत्र स्वसत्तापरित्यागपूर्वकं ब्राह्मणसत्तापादनं क्रियते। पुनः सा गौः स्वोपभोगाय न भवति। तथा च भक्तिमार्गातिरिक्तमार्गे सकलं नैवेद्यातिरिक्तं भगवदत्तवस्त्रादिकं तत्सर्वं हरेः सम्बन्धि न ग्राह्यमिति यदुक्तम्, तद्भिन्नमार्गपरम्। भक्तिमार्गातिरिक्तपूजामार्गादिपरम्, मतमिति सर्वप्रमाणसंमतमित्यर्थः। प्रमाणं तु 'त्वयोपभुक्ते'ति पूर्वमुक्तमेव॥ ६ ॥

'दान' शब्द का अर्थ है-किसी वस्तु पर स्वयं की सत्ता का परित्याग करके दूसरे की सत्ता को स्थापित करना। जिस प्रकार ब्राह्मण के लिए गाय दान में दी जाती है, वहाँ स्वयं की सत्ता का परित्याग करके ब्राह्मण की सत्ता स्थापित की जाती है। अब पुनः वह गाय स्वयं के उपभोग के लिए नहीं रह जाती है। उसी प्रकार, भक्तिमार्ग से अतिरिक्त मार्गों में इसी दान की भाँति नैवेद्य-आदि का भी व्यवहार होता है। अतएव मूलकारिका में **दत्तापहारवचनं** पद से कहा गया जो दत्तापहारवचन है, वह अन्य मार्गों में कहा नैवेद्य का विषय है। एवं इस प्रकार-''नैवेद्य एवं उससे अतिरिक्त भगवान को दी गई जो समस्त वस्त्रादि वस्तुएँ हैं, वह सभी हरि से संबंधित हैं, अतः नहीं ग्रहण करनी चाहिए''-यह जो कहा, उसे भिन्नमार्गपरक जानना चाहिए अर्थात् भक्तिमार्ग से अतिरिक्त पूजामार्ग आदि परक जानना चाहिए। **मतम्** शब्द का अर्थ है-'समस्त प्रमाणों से संमत'। प्रमाण तो 'आपके द्वारा उपभुक्त (श्री.भा.११/६/४६)' इस वाक्य से पूर्व में कह ही दिया है ॥ ६ ॥

एवं भक्तिमार्गातिरिक्तमार्गे पूज्यनैवेद्याद्यग्रहणं सोपपत्तिकमुपपाद्य भक्तिमार्गे भगवद्भुक्तोच्छिष्टेनैव भगवदीयानां व्यवहारः कर्तव्यो, नान्यथेति ज्ञापनायाहुः सेवकानामिति।

सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः।

सेवकानां दासानां भगवदीयानां भगवदुच्छिष्टमेव ग्राह्यम्, नान्यदित्ययं **व्यवहारः** प्रकारः **यथाग्रे** निःशङ्कं **लोके** प्रसिद्धो भवति, तथा अतिप्रसिद्धतया निःशङ्कतया सेवकैः समर्प्यैव कार्यम्। सिद्धौ प्रकर्षो निःशङ्कता। ततस्तादृक्प्रकारकव्यवहारकरणेनैव **सर्वेषां** भगवदीयानां **ब्रह्मता** भवति। **ब्रह्मता** नाम 'निर्दोषं हि समं ब्रह्मे'ति वचनात्सर्वेषां निर्दुष्टत्वं भक्तिमार्गे निवेदनानन्तरं समत्वं च ज्ञापितं भवति। सर्वेषां सजातीयत्वं भवति, भगवदीयत्वं भवतीत्यर्थः। यद्यपि ब्रह्मणि अनन्ता एवोपनिषन्निरूपिता धर्माः सन्ति, तथाप्यत्र सेवोपयोगिनिर्दुष्टत्वं भगवदीयत्वेन समत्वं च सर्वेषां भक्तिमार्गे भजनोपयोगित्वेन द्वयोरेव निर्देशः कृतः ॥ ७ १/२ ॥

इस प्रकार, भक्तिमार्ग से अतिरिक्त मार्ग में-'पूज्य के नैवेद्य आदि को ग्रहण नहीं करना चाहिए'-इस वाक्य का प्रमाणसहित समाधान करके भक्तिमार्ग में भगवद्-भुक्त से उच्छिष्ट भोजन द्वारा ही भगवदीयों को समस्त व्यवहार करना चाहिए, अन्यथा नहीं, यह बताने के लिए **सेवकानां** इन शब्दों से कह रहे हैं।

सेवकानां इत्यादि शब्दों का अर्थ है-दास को अर्थात् भगवदीयों को भगवान का उच्छिष्ट ही ग्रहण करना चाहिए अन्य नहीं-ऐसा **व्यवहारः** अर्थात् प्रकार जैसे आगे निःशंकतया लोक में प्रसिद्ध है, वैसे अतिप्रसिद्धतया/निःशंकतया सेवकों को भगवान को समर्प कर ही समस्त कार्य करने चाहिए। मूल कारिका में आए 'प्रसिध्यति' शब्द में जो 'प्र' उपसर्ग लगा है, उसका अर्थ यह है कि, उपर्युक्त समस्त व्यवहार निशंक होकर करने चाहिए। अतः इस प्रकारक व्यवहार करने से ही **सर्वेषां** अर्थात् भगवदीयों में **ब्रह्मता** हो जाती है। ''ब्रह्म' निर्दोष एवं समान है (भ.गी.५/१९)'' इस वचन के द्वारा 'ब्रह्मता' का अर्थ यह है कि, भक्तिमार्ग में निवेदन होने के पश्चात् सभी की निर्दुष्टता एवं समानता ज्ञापित होती है। सभी निवेदित जीव सजातीय हो जाते हैं अर्थात् भगवदीय हो जाते हैं, यह अर्थ है। यद्यपि ब्रह्म में तो उपनिषदों में निरूपित किए गये अनंत धर्म होते हैं, तथापि यहाँ सेवा में उपयोगी 'निर्दुष्टता' एवं भगवदीयता द्वारा 'समानता' यह दो वस्तुएँ भक्तिमार्ग में सभी को भजनोपयोगी होने के कारण इन दोनों का ही निर्देश किया गया है॥ ७ १/२ ॥

ननु भक्तिमार्गप्रवेशेपि सत्त्वादिगुणभेदेन प्रकृतिवैषम्याद्भगवदीयत्वेपि कथं सर्वेषां समत्वमित्याशङ्क्य गङ्गादृष्टान्तेन परिहरन्ति गङ्गात्वमिति।

गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना ॥ ८ ॥
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि ॥ ८ १/२ ॥

यथा सर्वजलदोषाणां तावदेव गुणदोषादिवर्णना भवति, यावद्गङ्गाप्रवेशो न भवति। गङ्गाप्रवेशानन्तरं सर्वेषां जलानां गङ्गात्वेनैव सर्वधर्मोपयोगित्वं भवति। तद्वत् यावत्पर्यन्तं भक्तिमार्गीयाचार्यैः कृतं निवेदनं न भवति, तावदेव भगवद्भजने तदीयगुणदोषादिविचारणं संभवति। भगवदीयत्वे सम्पन्ने पूर्वाशङ्कितसत्त्वादिगुणभेदकृतदोषाणां भजनबाधनं न संभवति। अतएव श्रुतावपि 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति वरणस्यैव भगवत्प्राप्तिहेतुत्वमुक्तम्, नतु सत्त्वादिगुणप्रकृतिदोषाणां बाधकत्वम्। तथा सर्वेषां जलानां गङ्गात्वे सति गुणदोषादिवर्णना न निरूप्या स्यात्, तद्वदत्रापि भक्तिमार्गेपि भगवदीयत्वसम्पत्त्यनन्तरं सर्वदोषनिवृत्तिः।

यहाँ एक शंका यह होती है कि, भक्तिमार्ग में प्रवेश होने पर भी भिन्न-भिन्न जीवों में रहे हुए सत्वादि (सत्व-रज-तम) गुणभेद से प्रत्येक जीव विषम प्रकृति के होते हैं अतः भगवदीयता होने पर भी सभी की समानता कैसे होगी? इस प्रकार आशंका कर गंगा के दृष्टांत से उसका परिहार **गङ्गात्वं** इन शब्दों से कर रहे हैं।

जिस प्रकार, जल के समस्त दोषों के गुणदोषों का वर्णन तब तक ही होता है, जब तक उस जल का गंगा में प्रवेश नहीं हो जाता। गंगा में प्रवेश हो जाने के पश्चात् सभी जलों के गंगारूप हो जाने से वे समस्त धर्मों में उपयोगी हो जाते हैं। उसी प्रकार जब तक भक्तिमार्ग के आचार्यों (श्रीमहाप्रभुजी) द्वारा किया गया निवेदन नहीं होता है, तब तक ही भगवद्-भजन में तदीय के गुणदोषादि का विचार संभव होता है। भगवदीयता संपन्न हो जाने पर पूर्व में जिन सत्वादि के गुणभेद द्वारा दोषों की आशंका की गई थी, उनके द्वारा भजन में बाधा संभव नहीं होती। अतएव श्रुति में भी ''यह परमात्मा जिसका वरण करता है, उसे ही प्राप्त होता है (कठो.१/२/२३)'' इस वाक्य से वरण को ही भगवत्प्राप्ति का हेतु कहा गया है, न कि सत्वादि-गुण से युक्त प्रकृति-दोषों को बाधक कहा गया है। जिस प्रकार समस्त जलों के गंगामय हो जाने पर गुणदोषादि का वर्णन निरूपणयोग्य नहीं होता, उसी प्रकार यहाँ भक्तिमार्ग में भी भगवदीयता की संपत्ति प्राप्त हो जाने के पश्चात् समस्त दोषों की निवृत्ति हो जाती है।

तद्वदित्यत्र चकारस्यानुक्तसमुच्चयो ज्ञेयः। यथा भगवन्निवेदनेन सेवाप्रतिबन्धकदोषनिवृत्तिः, तथा स्वोपयोगिपदार्थदोषनिवृत्तिर्भवति

भगवन्निवेदनेनेति ज्ञापनाय चकारः। स्वोपयोगिपदार्थदोषनिवृत्तौ उपायान्तराभावायैवकारः। भगवन्निवेदनेनैव सर्वदोषनिवृत्तिः, न तु प्रकारान्तरेणेत्यस्यार्थस्य युक्तत्वज्ञापनाय हिशब्दः। अत्रायमाशयः। भगवच्चरणारविन्दैकदेशाङ्गुष्ठभिन्नब्रह्माण्डकटाहविवरोद्गतजलस्य चरणाङ्गुष्ठसम्बन्धमाहात्म्येन यत्र लोके गङ्गासम्बद्धजलादेर्गङ्गायाः सर्वदोषनिवर्तकत्वम्, तत्र भक्तिमार्गे साक्षात्पुरुषोत्तमस्यैव सम्बन्धात्सर्वेषां चेतनाचेतनानां सर्वदोषनिवृत्तौ किं वाच्यमिति ज्ञापनाय हिशब्दः॥ ८ १/२ ॥

भक्तिसिद्धान्तवाक्यानां श्रुतानां भगवन्मुखात्।
स्वाचार्यैः पद्यबन्धानां स्वीयानां बोधसिद्धये॥ १ ॥
व्याख्यानं कृतमाचार्यपादपद्माभिधेन मे।
स्वाचार्यास्तेन तुष्यन्तु मयि निःसाधने स्वतः॥ २ ॥

इति श्रीमत्पितृचरणैकतानश्रीवल्लभविरचिता पुरुषोत्तमसिद्धान्तविवृतिः समाप्ता।

यहाँ मूल कारिका में आए **तद्वत्** शब्द के बाद आए 'चकार' को समुच्चय-अर्थ में जानना चाहिए। जैसे भगवद्-निवेदन से सेवा में प्रतिबंधक दोषों की निवृत्ति होती है, उस प्रकार भगवद्-निवेदन से स्वयं के उपयोगी पदार्थों के दोषों की निवृत्ति होती है, यह बताने के लिए 'चकार' का प्रयोग है। स्वयं के उपयोगी पदार्थों के दोषों की निवृत्ति होने में भगवद्-निवेदन से अतिरिक्त अन्य उपायों का अभाव है, यह बताने के यहाँ मूल कारिका में 'एव' शब्द का प्रयोग है। भगवद्-निवेदन से ही समस्त दोषों की निवृत्ति होती है, न कि अन्य प्रकार से। इस अर्थ की युक्तता बताने के लिए 'हि' शब्द का प्रयोग है। टीकाकार यहाँ से आगे श्रीगंगाजी के उद्गम-समय का वर्णन कर रहे हैं। श्रीमद्-भागवत के पंचम-स्कंध के सत्रहवें अध्याय में वर्णित है कि वामनावतार विष्णु भगवान ने जब राजा बलि के यज्ञ में जाकर अपने स्वरूप को बढ़ाया और तीनों लोकों को नापने के लिए अपने दाहिने चरण से पृथ्वी को दबा कर बाँया चरण उपर उठाया तो उस चरण के अंगूठे के नख से ब्रह्मांड के उपर का भाग फूट गया और उस छिद्र में से गंगाजी प्रकट होकर बाहर बह निकलीं। इस प्रसंग के द्वारा टीकाकार यह कहना चाह रहे हैं कि भगवान के चरणांगुष्ठ के स्पर्श अथवा संबंधमात्र हो जाने के गंगा में जन-जन को पावन करने की एवं समस्त दोषों को दूर करने का सामर्थ्य प्रकट हो गया है, वहाँ यदि जीव का साक्षात् पुर्णपुरुषोत्तम से संबंध हो जाय तो उसके समस्त दोष दूर होने में क्या संदेह रह जाता है? यह अर्थ है। यहाँ इसका आशय यह है कि, भगवत्-चरणारविंद के एक भाग अंगुष्ठ से प्रकट हुए कटाहरूपी (कढ़ाई) ब्रह्माण्ड के विवर से निकले जल का भगवान के चरणाङ्गुष्ठ के साथ संबंध होने के माहात्म्य से ही जहाँ लोक में गंगा से संबंधित जलादि को समस्त दोषों का निवर्तक जाना जाता है, वहाँ भक्तिमार्ग में साक्षात् पूर्णपुरुषोत्तम के संबंध से सभी चेतन-अचेतन के समस्त दोषों की निवृत्ति में क्या कहना यह बताने के लिए 'हि' शब्द का प्रयोग है॥ ८ १/२ ॥

भगवान के मुख से सुने गये एवं अपने आचार्यों द्वारा पद्यबंधित
भक्तिसिद्धांतवाक्यों का स्वीयजनों के बोध की सिद्धि के लिए,॥ १ ॥
आचार्यचरणकमलों के नामस्मरण से मैंने व्याख्यान किया है।
इससे अपने आचार्यचरण मुझ निःसाधन पर स्वतः संतुष्ट हों॥ २ ॥

यह श्रीमन्-पितृचरणों में एकनिष्ठ 'श्रीवल्लभ' द्वारा विरचित पुरुषोत्तमसिद्धांतविवृति समाप्त हुई।

---

१ 'व्याख्या कृता मयाचार्यपादपद्माभिधेन या। तयाचार्याः प्रतुष्यन्तु मयि निःसाधने स्वत' इति पाठः।

२ कृत्वा पद्यानि साक्षात् स्वयमनुभगवत्प्रोक्तवाक्याक्षराणाम्
स्वीयानां तत्तदर्थं स्फुटतरकथनं नान्यगम्यं विदित्वा।
गोत्रे श्रीवल्लभाख्यः पुनरपि किल संभूय पद्यानि तानि
व्याख्यातार्थानि मन्ये स्वयमिह कृतवान् श्रीमदाचार्य एव॥ १ ॥
श्रीगोकुलेशकृता टीका भक्तिसिद्धान्तसिद्धिदा। स्वसाधनस्थभक्तानां पादपद्मानुवर्तिनाम्॥ २ ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सिद्धान्तरहस्यम् ।

श्रीरघुनाथकृतविवृतिसमेतम् ।

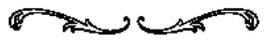

दीनानुकम्पी यो भूत्वा श्रीमद्वल्लभनन्दनः ।
प्रणिनाय निजं मार्गं तं वन्दे नन्दनन्दनम् ॥ १ ॥

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि ।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते ॥ १ ॥

अमले शुक्ले, महानिशि अर्धरात्रे, **साक्षाद्** अव्यवधानेन भगवता यत्प्रोक्तमुपदिष्टं तदेवाक्षरशोऽक्षरैः पद्यवाक्यादिरूपैः प्रदर्श्यत इत्यर्थः ॥ १ ॥

जिन श्रीमद्वल्लभनंदन (श्रीगुसाईंजी) ने दीनानुकंपी होकर
निज मार्ग (पुष्टिमार्ग) को प्रकाशित किया, ऐसे नंदनंदन (श्रीगुसाईंजी) को मैं वंदन करता हूँ ॥ १ ॥

अमले का अर्थ है 'शुक्लपक्ष में', **महानिशि** अर्थात् अर्धरात्रि में, **साक्षाद्** अर्थात् व्यवधानरहित-भगवान ने जो कहा अर्थात् उपदिष्ट किया वही **अक्षरशः** अर्थात् अक्षरों- पद्यवाक्यादिरूप द्वारा प्रदर्शित कर रहे हैं, यह अर्थ है॥ १ ॥

ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः ।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः ॥ २ ॥

बृहत्त्वाद्ब्रह्म पुरुषोत्तमः तत्सम्बन्धस्तस्मिन्देहात्मनोर्निवेदनलक्षणस्तत्करणात्सर्वेषामाब्रह्मस्तम्बपर्यन्तानां सर्वेषां दोषाणां वक्ष्यमाण-पञ्चविधानां दोषाणां निवृत्तिर्भवतीत्यर्थः । हिशब्दः प्रसिद्धिं द्योतयति, सर्वधर्मान्परित्यज्येत्यादिषु ॥ २ ॥

भगवान बृहद् होने के कारण 'ब्रह्म कहे जाते हैं। वही पुरुषोत्तम हैं; उनसे संबंध अर्थात् उनमें 'देहात्मा-मन के निवेदन का लक्षण; वह करने से सभी का अर्थात् ब्रह्म से लेकर अधमजीव-पर्यंत सभी के दोषों की अर्थात् आगे कहे जाने वाले पंचविध-दोषों की निवृत्ति होती है, यह अर्थ है। यहाँ मूल कारिका में आया 'हि' शब्द इस कहे अर्थ की प्रसिद्धि बता रहा है, जैसी प्रसिद्धि 'सभी धर्मों का परित्याग कर (भ.गी.१८/६६) इस श्लोक में कही गई है ॥ २ ॥

तत्र के ते दोषा इत्यपेक्षायामाहुः सहजा इति ।

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः ।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन ॥ ३ ॥

देहेन सहैवोत्पन्नाः कुष्ठापस्मारादयः । जीवदोषाः कामक्रोधादयः । देशोत्था मगधम्लेच्छादिदेशोत्थाः । कालो रौद्रः कल्पादिरूपस्तदुत्थाः । संयोगः पतितादिसंसर्गः । स्पर्शो निषिद्धेन्द्रियार्थसंयोगः । चकारात्कर्मजा अपि । ते सर्वेपि लोके वेदे च कथिता इत्यर्थः । तत्र केशभस्मतुषाङ्गारादिदूषितप्रदेशस्थितिः । संध्यायां चतुष्पथादि सेवनम् । म्लेच्छादिस्पर्शः । मुखरतिः । अद्वारेण प्रवेशनमि-त्यादयो लोकप्रसिद्धाः । तस्मादाहिताग्निः श्रद्धादेवः स्वकृत इरिउषरभूमिनावस्येत्[1] । नामावास्यायां च पौर्णमास्यां च स्त्रियमुपेयात् । तस्मान्मलवद्वाससा न संवदेत, न सहासीत, नास्या अन्नमद्यात्, या मलवद्वाससा संभवति । तस्माद्ब्राह्मणाय नापगुरेते इत्यादयो वेदप्रसिद्धा दोषाः । ते सर्वे दुरत्यया अपि दोषा न मन्तव्याः । कथंचन कथमपीत्यर्थः । भगवत्संबन्धे संपन्ने एते दोषाः किं करिष्यन्तीति भावः ॥ ३ ॥

वे दोष कौन से हैं? यह अपेक्षा होने पर **सहजा** इन शब्दों से कह रहे हैं। देह के संग ही उत्पन्न होने वाले कुष्ठ-अपस्मार आदि रोग सहजदोष हैं। जीव के कामक्रोधादि दोष भी सहजदोष हैं। देशोत्था का अर्थ है, मगध-म्लेच्छादि देश में उत्पन्न होने वाले दोष। काल रौद्रस्वरूप वाला है एवं कल्पादिरूप है; ऐसे काल से उत्पन्न होने वाले दोष 'कालोत्था' हैं। संयोग अर्थात् पतित-आदि का संसर्ग। (देखें मनुस्मृति ४/७९)। स्पर्श अर्थात् निषिद्ध-इंद्रिय से संयोग। मूल कारिका में आए 'चकार' द्वारा कर्म से उत्पन्न होने वाले दोष भी गिन लेने चाहिए। ये सभी लोक एवं वेद में कहे गये हैं, यह अर्थ है। जहाँ केश पड़े हुए हों, भस्म पड़ी हो, धान की भूसी पड़ी हो या अंगारे पड़े हों -

---

१ स्वकृतद्वरणेनावस्येदिति पाठः ।

ऐसे दूषित प्रदेश में रहना दोषयुक्त है (देखें मनुस्मृति ४/७८)। संध्यासमय चौराहे पर खड़े होना, (देखें मनुस्मृति ४/१३१) मुखरति, अद्वार से प्रवेश (देखें मनुस्मृति ४/७३) इत्यादि दोष लोक प्रसिद्ध हैं। यज्ञकर्त्ता को बंजर-भूमि में नहीं रहना चाहिए और अमावस्या एवं पूर्णमासी में स्त्री के निकट नहीं जाना चाहिए , यह भी एक दोष है (देखें मनुस्मृति ४/१२८)। रजस्वला स्त्री से बात नहीं करनी चाहिए, उसके संग नहीं बैठना चाहिए, न उसका अन्न ग्रहण करना चाहिए। ब्राह्मण का तिरस्कार नहीं करना चाहिए (देखें मनुस्मृति ४/१६२,१६५,१६६,१६७,१६८,१६९) इत्यादि वेद में प्रसिद्ध दोष हैं। ये सभी दोष दूर होने कठिन हैं, तथापि इन्हें नहीं मानने चाहिए। **कथञ्चन** शब्द का अर्थ है— किसी भी प्रकार से नहीं मानने चाहिए। भगवद्-संबंध हो जाने पर ये दोष क्या करेंगे? यह भाव है॥ ३ ॥

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन।
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत्॥ ४ ॥

अन्यथा यदि भगवत्संबन्धो न भवेत्तदा कथमपि कदाचिदपि सर्वदोषाणां निर्वृत्तिः न भवेदित्यर्थः। यस्मात्संबन्धाकरणे दोषानिवृत्तिस्तस्मादसमर्पितानां भगवत्यनिवेदितानां वस्तूनामुपभोगादिव्यवहारे वर्जनं कुर्यादित्यर्थः। स्वयं कुर्यात्सेवकैः कारयेदितिभावः॥ ४ ॥

अन्यथा इत्यादि शब्दों का अर्थ है-यदि भगवद्-संबंध न हो तो किसी भी प्रकार से, कभी भी इन समस्त दोषों की निवृत्ति नहीं होती। चूँकि भगवान से संबंध न करने पर दोषों की निवृत्ति संभव नहीं है, अतः असमर्पितों का अर्थात् भगवान को अनिवेदित वस्तुओं के उपभोग-आदि को दैनिक व्यवहार में वर्जित करना चाहिए, यह अर्थ है! स्वयं वर्जन करना चाहिए एवं सेवकों द्वारा करवाना भी चाहिए, यह भाव है॥ ४ ॥

ननु हट्टादिस्थितवस्तूनामसमर्पितत्वादवश्योपादेयानां कथं व्यवहारे स्वीकार इत्यत्राहुः।

निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कार्यमिति स्थितिः।
न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम्।
तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्॥ ५ ॥

अनन्यगत्या एवंविधस्थले हट्टाश्रितवस्तुस्वीकारेपि निवेदनबद्धिः पुरुषैः समर्प्यैव पश्चात् सर्वं कार्यम्। कुर्यादिति प्रमादपाठः। इति स्थितिः एतादृशी मार्गमर्यादेत्यर्थः। अन्यमार्गीयं किंचिदुद्भाव्य तन्निषेधपूर्वकं स्वसिद्धान्तमाहुः न मतमिति। भुक्तभोजनम्। समर्पणं भगवति निवेदनम्। द्वन्द्वैकवद्भावादेकवचनम्। सामीत्येतदर्धवाचकमव्ययम्। तेनायमर्थः संपन्नः। संपादितवस्तूनामर्धं कृत्वा एकांशेन स्वोपभोगेऽनिवेदितेन पुनरन्यांशेन नैवेद्यादिरूपेण समर्पणम्। यदुपभुज्यते तदसमर्पितं तन्नोपभुज्यत इति यत्सामि द्वैविध्येन व्यवहारो बहिर्मुखानां तद्देवदेवस्य विष्णोर्मतं संमतं न भवति। मतं सिद्धान्तमिति वा। यस्मात्सर्वांशेनासमर्पणं भगवदमतं तस्मात्सर्वस्मिन्नपि कर्तव्यत्वेन प्राप्ते कार्यमात्रे आदौ प्रथमत एव सर्ववस्तूनां समर्पणं कुर्यादिति शेषः॥ ५ ॥

यहाँ शंका होती है कि, बाजार में स्थित आवश्यक वस्तुएँ तो चूँकि असमर्पित हैं अतः उनसे दैनिक व्यवहार कैसे निभाया जाय? इसका समाधान करने के लिए कह रहे हैं.....

इस प्रकारक स्थल पर बाजार में स्थित वस्तु का उपयोग करने पर भी निवेदी-पुरुष को अनन्यता से भगवान को समर्प कर पश्चात् ही समस्त कार्य करने चाहिए। कहीं कहीं 'कार्यम्' पाठ न लेकर 'कुर्यात्' पाठ लिया गया है, उसे प्रमादवश लिया गया मानना चाहिए। **इति स्थितिः** शब्द का अर्थ है-ऐसी मार्ग की मर्यादा है। यदि कोई अन्यमार्गीय किसी शंका को लेकर सिर उठाये तो उसे निषेध करते हुए स्वसिद्धांत को **न मतम्** इन शब्दों से कह रहे हैं। खाया हुआ भोजन 'सामिभुक्त' होता है। समर्पणं शब्द का अर्थ है, भगवान को निवेदन करना। यहाँ मूलकारिका में आए 'सामिभुक्तसमर्पणम्' पद में द्वन्द्व-समास होते हुए भी 'सामि' एवं 'भुक्त' पद का एक समान भाव होने के कारण एकवचन का ही प्रयोग हुआ है, द्विवचन का नहीं। टीकाकार कहना चाह रहे हैं कि उक्त पद में द्वन्द्वसमास होने के कारण व्याकरण के नियमानुसार द्विवचन का प्रयोग होना चाहिए था परंतु यहाँ एकवचन का ही प्रयोग हुआ है और वह इसलिए क्योंकि 'सामि' शब्द एवं 'भुक्त' इन दोनों का यहाँ भाव तो एक ही है। 'सामि' का अर्थ है आधा एवं 'भुक्त' का अर्थ है भोजन। आधे का समर्पण करना या भोजन किए गये का समर्पण करना - दोनों ही निषिद्ध हैं। इसी कारण यहाँ एकवचन का प्रयोग हुआ है, यह अर्थ है। यहाँ 'सामि' शब्द किसी आधे पदार्थ का वाचक 'अव्यय' है। इससे अर्थ यह संपन्न होता है कि, भगवान के लिए संपादित की जाने वाली वस्तुओं को आधी करके अनिवेदित एक अंश से स्वयं के लिए उपभोग करने पर एवं पुनः अन्य बचे हुए आधे अंश द्वारा नैवेद्यादिरूप से यदि समर्पण किया जाय तो इन दोनों में से जो खाया जा रहा है, वह तो असमर्पित है एवं जो नहीं खाया जा रहा है और भगवान को समर्पित किया जा रहा है, वह 'सामि-समर्पण' है। अतः बहिर्मुखों का यह द्वैविध्य व्यवहार देवाधिदेव विष्णु को संमत नहीं है। अथवा **मतं** शब्द का अर्थ है 'सिद्धांत'; ऐसा करना सिद्धांतसंमत नहीं है, यह अर्थ है। चूँकि, जो सर्वांश में समर्पण नहीं किया गया है, वह भगवान को संमत नहीं है, अतः सभी वस्तुओं

---

१ तादृशवस्तुस्वीकारे इति पाठः।

में ही समर्पण करना कर्तव्यरूप से प्राप्त है। अतः कार्य मात्र में **आदौ** अर्थात् प्रथमतः ही सर्वसमर्पण करना चाहिए, यह शेष रह जाता है॥ ५ ॥

'नन्वपि दीपावलोकं मे नोपयुङ्ग्या'दित्यादिवचनैर्दत्तापहारत्वादिदोषसंभवे कथं न मतमित्यत आहुः दत्तापहारवचनमिति।

दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः।
न ग्राह्यमितिवाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्॥ ६ ॥

निवेदितस्वीकारे दत्तापहारलक्षणो दोषो भवतीत्येतदर्थकं यद्वचनं, तथा च तथैवान्यदपि यत्सकलमनिवेदितश्राद्धादिविषयकं तत्सर्वमपि हरेः हरिसंबन्धित्वेन न ग्राह्यं, न ज्ञेयम्, इति अस्मिन्नर्थे वाक्यं वाक्यानि सन्तीत्यर्थः। जात्यभिप्रायेणैकवचनम्। तानि वाक्यानि प्रसिद्धानि सन्तीति हिशब्दार्थः। तथा चोक्तं भगवता 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पण'मिति। ब्रह्माण्डपुराणेपि 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं पानमन्नाद्यमौषधम्। अनिवेद्य न भुञ्जीत यदाहाराय कल्पितम्। अनिवेद्य प्रभुञ्जानः प्रायश्चित्ती भवेन्नरः। तस्मात् सर्वं निवेद्यैव विष्णोर्भुञ्जीत सर्वदा। मुकुन्दाशनशेषं तु यो हि भुङ्क्ते दिने दिने। सिक्थे सिक्थे भवेत्पुण्यं चान्द्रायणशताधिकम्। भुक्त्वान्यदेवनैवेद्यं द्विजश्चान्द्रायणं चरेत्। भुक्त्वा केशवनैवेद्यं सर्वपापैः प्रमुच्यतेः। अम्बरीष नवं वस्त्रं फलमन्नाद्यमौषधम्। अनिवेद्य हरेर्भुञ्जन् सप्तजन्मानि नारकी'। श्रीभागवतेपि 'त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धे'त्यादिनोक्तम्। 'विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम्। पितृभ्यश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पत' इत्यायपि ज्ञेयम्। तर्हि निवेदितस्वीकारे निषेधवाक्यस्य का गतिरिति तत्राहुः भिन्नमार्गेति। भिन्नः पृथक् कृतो मार्गो भक्तिमार्गो येभ्यस्ते भिन्नमार्गास्तत्परं तदधिकारकमिदं भवतीत्येतन्मतं संमतम्। ये शास्त्रार्थापरिज्ञानेनान्यथा कथयन्ति, ते आसुरा एव। अतः सर्वथोपेक्ष्या इति भावः॥ ६ ॥

यहाँ शंका होती है कि ''मुझे समर्पित दीपक का प्रकाश भी स्वयं के उपयोग में न ले (श्री.भा.११/११/४०)'' इत्यादि वचनों द्वारा दिए गये को पुनः लेने का दोष तो संभव होता ही है, तो फिर ''वे दोष नहीं मानने चाहिए'' ऐसा क्यों कहा जा रहा है? इस शंका का समाधान **दत्तापहारवचनं** इत्यादि वाक्यों से कह रहे हैं।

इस शंका के समाधान में यह समझना चाहिए कि- ''भगवान को निवेदित की गई वस्तु को स्वयं के उपभोग के लिए स्वीकारने पर दत्तापहारलक्षणरूप दोष होता है''- ऐसे अर्थवाले जो वचन हैं; एवं उसी प्रकार ''श्राद्धकर्मों में भगवान को अनिवेदित पदार्थों का ही उपयोग करना चाहिए'' ऐसे भी जो वाक्य हैं; ऐसे समस्त वाक्यों को यहाँ पुष्टिभक्तिमार्ग में ग्रहण नहीं करने चाहिए अर्थात् ऐसे वाक्यों को यहाँ नहीं मानना चाहिए क्योंकि अब निवेदित करने के पश्चात् वे पुष्टिप्रभु-हरि से संबंधित हो चुके हैं और उन्हें प्रसादरूप से ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है। इस सिद्धांत के अर्थ को सिद्ध करने में अनेक शास्त्रों के वाक्य उपलब्ध हैं, जो आगे दिए जा रहे हैं। ऐसे अनेक वाक्य होने पर भी मूल कारिका में आया 'वाक्य' शब्द बहुवचन में न होकर जाति के अभिप्राय से एकवचन में है। वे वाक्य प्रसिद्ध हैं, यह बताने के लिए 'हि' शब्द का प्रयोग है। वैसे वाक्य भगवान ने ''जो करता है,.जो खाता है, जो हवन करता है, जो देता है, जो तप करता है, वह सभी कुछ हे कुंतीपुत्र ! मुझे अर्पण कर (भ.गी.९/२७)''। ब्रह्माण्डपुराण में भी ''पत्ता, पुष्प, फल, जल, पान, अन्न एवं औषधि आदि जो कुछ भी आहार योग्य हैं, वे अनिवेदित नहीं खाने चाहिए। अनिवेदित खाने वाले मनुष्य को प्रायश्चित्त करना पड़ता है। अतः सर्वदा सभी कुछ विष्णु को निवेदित कर के ही खाना चाहिए। मुकुंद के द्वारा भोग किए गये पदार्थ से बचा हुआ जो प्रतिदिन खाता है, उसे कौर-कौर में सौ से अधिक चान्द्रायण के व्रत का पुण्य प्राप्त होता है। अन्य देव को निवेदित पदार्थ का भोजन खाने पर ब्राह्मण को चान्द्रायणव्रत करना चाहिए और केशव को निवेदित पदार्थ का भोजन करने पर वह समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। हे अंबरीष ! नये वस्त्र, नये फल, नये अन्न-आदि औषधि हरि को निवेदित किए बिना खाने पर सात जन्मों का नर्क प्राप्त होता है।''

श्रीभागवत में भी ''आपके द्वारा उपभुक्त माला, चंदन (श्री.भा.११/६/४६)'' इत्यादि वाक्यों से कहा गया है। ''विष्णु को निवेदित किए गये अन्न द्वारा अन्य देवताओं का यज्ञ करना चाहिए। पितरों को भी वही देने पर वह अनंत फलदायी होता है।'' इत्यादि वाक्य भी जानने चाहिए। अब यहाँ दूसरी शंका यह होती है कि, यदि निवेदित वस्तु ही स्वीकार करने का सिद्धांत है तब फिर उपर कहे 'अपि दीपावलोकं' इत्यादि इस सिद्धांत को निषेध करने वाले वाक्यों की क्या गति होगी? उन वाक्यों का क्या समाधान है? टीकाकार ने यहाँ किसी पूर्वपक्षी की शंका उठाई है। वे कहते हैं कि- सभी कुछ भगवान को समर्पित करके ही ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा दोष लगता है - इस वाक्य को सिद्ध करने में तो उपर्युक्त प्रमाण दे दिए गये हैं परंतु यहीं उपर के 'अपि दीपावलोकं में (श्री.भा.११/११/४०)' श्लोक में तो भगवान को निवेदित की गई वस्तु को स्वयं के लिए उपयोग करने का निषेध कहा गया है ? तो इसका क्या समाधान है ? इस मुद्दे को वे आगे की पंक्तियों में स्पष्ट कर रहे हैं कि, ये वाक्य हमारे पुष्टिभक्तिमार्ग के नहीं हैं। तो वहाँ इसका समाधान भिन्नमार्ग इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। 'भिन्न' अर्थात् पृथक कर लिया गया है भक्तिमार्ग जिन मार्गो से, वे भिन्नमार्ग हैं; उन भिन्न मार्गों में जिनका अधिकार है, यह वाक्य उनके संमत है। यह **मतं** शब्द से कहा गया है। जो शास्त्र का अर्थ ज्ञान न होने कारण अन्यथा कहते हैं, वे आसुरी ही हैं, अतः सर्वथा उपेक्ष्य ही हैं, यह भाव है॥ ६ ॥

श्रीरघुनाथकृतविवृतिसमेतम्।

नन्वेकवारमादावेवात्मना सह सर्वं निवेदितमेवास्ति किं पुनः पुनर्निवेदनेनेत्यत आहुः सेवकानामिति।

सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः।
गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना ॥ ८ ॥
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि ॥ ८ १/२ ॥

येन प्रकारेण सेवकानामपि निवेदनव्यवहारः प्रकृष्टः सिद्धो भवति तदर्थं स्वयं समर्प्यैव सर्वं कार्यम्। एवं कृते सर्वेषामपि ब्रह्मता निर्दोषत्वमित्यर्थः। ननु शरीरेण सहैव निवर्त्यानां कथमेवं निवृत्तिस्तत्राहुः तत इति। ततः ब्रह्मतानन्तरं स्थितानामपि दोषाणां गङ्गात्वं गङ्गातुल्यत्वमित्यर्थः। यथा गङ्गातिरिक्तापवित्रजलानां गङ्गाप्रवाहान्तःपातित्वे संपन्ने गङ्गात्वमेव, तेषां न ततः पृथग्भावः, गङ्गात्वे संपन्ने पूर्वकालीनगुणदोषादिकथा यथा जलानामनिरूप्या भवति, तद्वदेवात्रापि भगवत्सम्बन्धे जाते पञ्चविधदोषाणां स्थितानामप्यदोषत्वमेवेत्यर्थः। एवशब्दोऽवधारणे। हिशब्दः प्रसिद्धौ।

इति श्रीरघुनाथकृतं सिद्धान्तरहस्यविवरणम्।

यहाँ एक शंका यह होती है कि ब्रह्मसंबंध ग्रहण करते समय जब आरंभ में एक बार ही आत्मा के साथ सभी कुछ निवेदित हो ही जाता है तथापि दैनंदिनी व्यवहार में पुनः पुनः समस्त पदार्थों का निवेदन करने का क्या प्रयोजन है? इस शंका का समाधान सेवकानां इन शब्दों से कह रहे हैं।

जिस प्रकार से सेवकों का भी निवेदन व्यवहार प्रकृष्टरूप से सिद्ध होता है, उसके लिए स्वयं को समर्प कर ही समस्त कार्य करने चाहिए। ऐसा करने पर सभी की **ब्रह्मता** अर्थात् निर्दोषता हो जाती है। यहाँ शंका होती है कि कुछ दोष ऐसे हैं जो शरीर त्याग होने के पश्चात् ही निवृत्त होते हैं तो इस प्रकार केवल निवेदन कर देने से ही उनकी निवृत्ति कैसे होगी? इस शंका का समाधान ततः इन शब्दों से कर रहे हैं। ततः शब्द का अर्थ है, ब्रह्मता होने के पश्चात् शेष रह गये दोष भी गंगामय हो जाते हैं अर्थात् गंगातुल्य हो जाते हैं, यह अर्थ है। जिस प्रकार गंगा से अतिरिक्त अपवित्र जल गंगा में गिरने के पश्चात् गंगारूप ही हो जाते हैं, उन जलों का गंगा से पृथक भाव नहीं होता और जैसे उन जलों का गंगात्व संपन्न हो जाने पर पूर्वकालीन गुणदोषों की कथा निरूपणयोग्य नहीं रह जाती, वैसे जीव का भगवद्-संबंध हो जाने पर रहे हुए पंचविध-दोष भी निर्दुष्ट ही हो जाते हैं, यह अर्थ है। मूल कारिका में आया 'एव' शब्द अवधारण-अर्थ में है अर्थात् उपर्युक्त समस्त बातें हृदय में धारण करनी चाहिए, यह अर्थ है। 'हि' शब्द उपर्युक्त कथनों की प्रसिद्ध के लिए प्रयोग किया गया है।

यह श्रीरघुनाथकृत सिद्धांतरहस्यविवरण संपूर्ण हुआ।

श्रीकृष्णाय नमः।

सिद्धान्तरहस्यम्।

श्रीकल्याणरायकृतविवृतिसमेतम्।

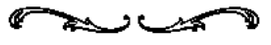

फलात्मा फलसंप्राप्त्यै प्रादुर्भूय स्वसेविनाम्।
साधनं स्वयमेवासीत् स कृष्णोस्तु मम प्रभुः॥ १॥

श्रीकृष्णेनानेकजीवोद्धारार्थमाज्ञप्तोहमेते जीवाः स्वभावतो दुष्टा धनाद्यासक्ता दुष्टपदार्थैर्व्याप्ताः कथमेतेषां दोषनिवृत्तिरुद्धारश्च भविष्यतीति चिन्ताकुलान् श्रीवल्लभाचार्यान् विदित्वा भगवान् एकान्तसमये चिन्तानिवर्तकमुपायमुक्तवान्। ततः श्रीवल्लभाचार्या भगवान् यस्मिन् मासे पक्षे दिवसे समये यथा यदुक्तवान् तत्सर्वंनिरूपणपूर्वकं भगवदुक्तमक्षरैः पद्यबन्धेन वक्तुं प्रतिजानते।

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते॥ १॥

श्रावणे मासे शुक्लपक्षे एकादश्यामर्धरात्रे प्रत्यक्षेण भगवता यत्प्रोक्तम्, तदक्षरैः पद्यबन्धेन कथ्यत इत्यर्थः॥ १॥

जो फलात्मा-प्रभु स्वयं के सेवकों को फलप्राप्ति के लिए प्रादुर्भूत होकर
स्वयं ही साधन हुए, वह 'कृष्ण' मेरे प्रभु हों॥ १॥

''श्रीकृष्ण ने अनेक जीवों के उद्धार के लिए मुझे आज्ञा दी है, किंतु ये जीव स्वभाव से दुष्ट हैं, धनादि में आसक्त हैं एवं दुष्टपदार्थों से व्याप्त हैं, कैसे इनके दोष की निवृत्ति एवं उद्धार होगा?'' इस चिंता से व्याकुल श्रीमदाचार्यचरणों को जानकर भगवान ने एकांत समय में चिंता के निवर्तक उपाय कहे। तब भगवान ने जिस मास में, जिस पक्ष में, जिस दिन, जिस समय में जिस प्रकार जो कहा उन समस्त वस्तुओं के निरूपणपूर्वक श्रीवल्लभाचार्य भगवान द्वारा कहे गये को अक्षरों द्वारा पद्यबंधित कर कहने की प्रतिज्ञा कर रहे हैं।

श्रावण मास में, शुक्लपक्ष में, एकादशी की अर्धरात्रि में भगवान ने प्रत्यक्षतया जो कहा, वह अक्षरों द्वारा पद्यबंधित कर कह रहे हैं, यह अर्थ है॥ १॥

ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः॥ २॥

तदेवाहुः। ब्रह्मसम्बन्धो नाम स्वमार्गाचार्यद्वारा भगवति निवेदनं तत्करणात् पुनः स्वयंजीवदेहादीनां भगवत्युपयोगकरणात् सर्वेषां देहजीवादीनां सर्वदोषनिवृत्तिर्भवतीत्यर्थः। जीवस्य स्मरणादिना भगवत्युपयोगः, देहस्य सेवादिना भगवत्युपयोगः, अन्नवस्त्रादीनां भगवद्भोगसम्पादकत्वाद्भगवत्युपयोगः। हिशब्दः प्रमाणप्रसिद्धिद्योतकः। तत्र कानिचित् प्रमाणान्युच्यन्ते। 'मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यान उद्धव'। 'सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम्'। 'भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि संभवात्'। 'अपि चेत् सुदुराचारः'। 'न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तपआदिभिः। यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया'। 'किरातहूणान्ध्रे'ति। 'विप्राद्द्विषड्गुणयुतात्'। 'यः कश्चिद्वैष्णवो लोके मिथ्याचारोप्यनाश्रमी। पुनाति सकलान् लोकान् सहस्रांशुरिवोदितः'। 'न हि खलु कलुषच्छविः कदाचित्तिमिरपराभवतामुपैति चन्द्रः। भगवति स हरावनन्यचेता भृशमलिनोपि विराजते मनुष्यः'। 'धनं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत् त्यक्तुं न शक्यते। कृष्णार्थं तत्प्रयुञ्जीत कृष्णोऽनर्थनिवारकः'। 'गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत् त्यक्तुं न शक्यते। कृष्णार्थं तत्प्रयुञ्जीत कृष्णः संसारमोचकः'। पद्मपुराणे 'अम्बरीष नवं वस्त्रं फलमन्नं रसादिकम्। कृत्वा कृष्णोपयोग्यं हि सदा सेव्यं हि वैष्णवैः' इत्यादि। के ते दोषा इत्याकाङ्क्षायामाहुः दोषाः पञ्चविधाः स्मृता इति॥ २॥

वही अर्थ कह रहे हैं कि ब्रह्मसंबंध का अर्थ है अपने मार्ग के आचार्य द्वारा भगवान को निवेदन; वह करने से एवं पुनः स्वयं जीव एवं देहादि का भगवान में उपयोग करने से समस्त देहजीवों के समस्त दोषों की निवृत्ति होती है, यह अर्थ है। यहाँ समझना चाहिए कि जीव का स्मरण-आदि के द्वारा भगवान में उपयोग होता है, देह का सेवा-आदि के द्वारा भगवान में उपयोग होता है एवं अन्नवस्त्र-आदि के भगवद्-भोग में संपादक होने के कारण उनका भगवान में उपयोग होता है। 'हि' शब्द प्रमाणप्रसिद्धि का द्योतक है। उपर्युक्त सिद्धांतों में कुछ प्रमाणों को कह रहे हैं। ''हे उद्धव! मेरी कथा के श्रवण में श्रद्धा एवं मेरा ध्यान करे। जो कुछ प्राप्त हो वो मुझे समर्पित करे एवं दास्यभाव से आत्मनिवेदन करे (श्री.भा.११/११/३५)'', ''मेरी भक्ति मुझमें निष्ठ चाण्डालों को भी पवित्र कर देती है (श्री.भा.११/४/२१)'', ''यदि दुराचारी हो तो भी (भ.गी.९/३०)'', ''हे राजन्! पापी पुरुष की जैसी शुद्धि भक्ति से होती है, वैसी तपस्या-आदि के द्वारा भी नहीं होती

(श्री.भा.६/१/१६)'', ''किरात-हूण-आन्ध्र (श्री.भा.२/४/१८)'', ''इन बाहर गुणों से युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान कमलनाभ से विमुख हो (श्री.भा.७/९/१०)'', ''इस लोक में यदि कोई मिथ्याचारी हो या आश्रम-धर्म से रहित हो तथापि यदि वैष्णव हो तो वह उदित-सूर्य की भाँति समस्त लोक को पावन कर देता है'' ''मैली छवि वाली वस्तु कभी भी अंधकार को दूर नहीं कर सकती। तथापि भगवान-हरि में अनन्यचित्त रखने वाला मनुष्य यदि संपूर्णतया मलिन हो तो भी चंद्रमा की तरह शोभायमान होता है।'', ''धन का सभी प्रकार से त्याग करना चाहिए, यदि वह संभव न हो तो उसे कृष्ण के लिए प्रयुक्त करना चाहिए क्योंकि वे अनर्थ के निवारक हैं (सर्व./२५६)'', ''गृह का सभी प्रकार से त्याग करना चाहिए, यदि वह संभव न हो तो उसे कृष्ण के लिए प्रयुक्त करना चाहिए क्योंकि वे संसार से मुक्ति दिलानेवलाले हैं (सर्व./२५५)'', ''हे अंबरीष! नये वस्त्र-फल-अन्न-रस आदि कृष्ण में उपयोग कर के ही वैष्णवों को स्वयं के उपयोग में लेने चाहिए।'' इत्यादि। वे दोष कौन से हैं? यह आकांक्षा होने पर **दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः** इन शब्दों से कह रहे हैं॥ २ ॥

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन ॥ ३ ॥

सहजाः शूद्रत्वकिरातादयः। देशोत्था दुष्टदेशतज्जन्यान्नाद्युपभोगजन्याः। कालोत्था दुष्टकालसंसर्गजन्याः। ते लोकवेदनिरूपिता बहव एव सन्ति। संयोगजा दुष्टसहासनादिजन्याः, 'संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै। कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्'। ते दोषत्वेन न मन्तव्याः, कथंचन लौकिकवैदिकप्रकाराभ्यामपि।

शूद्र-किरात आदि हीन जाति में जन्म लेना सहज-दोष हैं। देशोत्था शब्द से दुष्टदेश एवं उससे पैदा हुए अन्नादि के उपभोग से जनित दोष कहे गये हैं। कालोत्था शब्द से दुष्टकाल के संसर्ग से जनित दोष कहे गये हैं। इस प्रकार ये लोकवेद में निरूपित अनेक दोष हैं। संयोगजा शब्द से दुष्ट के संग बैठने-आदि से जनित दोष कहे गये हैं। यही बात ''संसार के आवेश से दुष्ट हुई इंद्रियों के हित के लिए समस्त वस्तुओं को कृष्ण में जोड़नी चाहिए (नि.ल./१२)'' इस श्लोक द्वारा कही गई है। ये समस्त दोष दोषरूप नहीं मानने चाहिए, **कथञ्चन** शब्द का अर्थ यह है कि लौकिकवैदिक किसी भी प्रकार से नहीं मानने चाहिए।

प्रकारान्तरेण जीवादीनां सर्वदोषनिवृत्तिर्न भवतीत्याहुः।

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन।

पदार्थानां विनियोगप्रकारमाहुः।

असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत् ॥ ४ ॥
निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः।

निवेदिभिः निवेदयितृभिः सर्वं समर्प्य स्वयं भगवदुपयोगादिकं कुर्यादित्यर्थः।

अन्य किसी प्रकार से जीव-आदि के समस्त दोषों की निवृत्ति नहीं होती, यह बताने के लिए 'अन्यथा ..... कथञ्चन' कह रहे हैं।

पदार्थों का भगवान में विनियोग करने का प्रकार असमर्पित ..... स्थितिः इन शब्दों से कह रहे हैं।

निवेदिभिः शब्द का अर्थ है निवेदन करने वालों को सभी कुछ समर्प कर अर्थात् स्वयं समस्त पदार्थों का भगवान में उपयोग-आदि करना चाहिए, यह अर्थ है।

सर्वत्रोपयोगरूपसमर्पणे प्राप्ते क्वचिन्निषेधमाहुः।

न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम् ॥ ५ ॥
तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्।

देवा ब्रह्मादयस्तेषामपि देवस्याराध्यस्य पुरुषोत्तमस्यान्येनार्धभुक्तस्यावशिष्टस्य स्वोपभोगार्थं समर्पणम्। अथ च स्मृत्यादौ लोके च यन्निन्दितं भुक्तं भोज्यं तस्य समर्पणं भगवतो भक्तानां च न सम्मतम्, अतो न कर्तव्यमित्यर्थः। यस्मादन्यभुक्तावशिष्टस्य भगवति समर्पणं निषिद्धम्, तस्मात् सर्वेषु कार्येषु कर्तव्येषु आदौ स्वोपभोगात् पूर्वमेव सर्ववस्तूनां समर्पणं कर्तव्यमित्यर्थः। अत एव पुराणेषु 'विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम्। पितृभ्यश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पते। पितृशेषं तु यो दद्यात् हरये परमात्मने। रेतोधाः पितरस्तस्य भवन्ति क्लेशभागिन' इति।

यद्यपि भगवान को सभी कुछ समर्प कर ही स्वयं के लिए उपयोग करना चाहिए - ऐसा कहा गया है तथापि समर्पण करने के कुछ प्रकारों का निषेध भी है, वह कह रहे हैं।

देवा अर्थात् ब्रह्मादि; उनके भी **देवस्य** अर्थात् आराध्य-पुरुषोत्तम को अन्य देवों द्वारा किए गये अर्धभुक्त को अर्थात् बचे हुए भोग को, स्वयं के उपभोग करने के लिए समर्पण करना एवं स्मृति-आदि और लोक में जो निंदित भोजन है-उसका समर्पण करना, भगवान को एवं

भक्तों को संमतिपूर्ण नहीं है, अतः नहीं करना चाहिए। क्योंकि अन्य के द्वारा भोग किए गये को अर्थात् अवशिष्ट को, भगवान में समर्पण करना निषिद्ध है अतः समस्त कर्तव्यों-कार्यों में **आदौ** अर्थात् स्वयं के उपभोग से पूर्व ही समस्त वस्तुओं का समर्पण करना चाहिए, यह अर्थ है। अतएव पुराणों में ''विष्णु को निवेदित किए गये अन्न द्वारा अन्य देवताओं का यज्ञ करना चाहिए। पितरों को भी वही देने पर वह अनंत फलदायी होता है। हरि-परमात्मा को जो पितरों का अवशिष्ट देता है, उसके पितर अधम योनि में जन्म लेने वाले होते हैं एवं वे क्लेश के भागी होते हैं'' यह कहा गया है।

ननु भगवते निवेदितस्यान्नादेर्ग्रहणे दत्तस्यापहारो ग्रहणं स्यात्, 'अपि दीपावलोकं म' इत्यादिवाक्यैर्निषेधाच्च कथं निवेदितस्य ग्रहणमित्यत आहुः।

दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः ॥ ६ ॥
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।

दत्तापहारवचनं तथाच हरेः सम्बन्धि सकलं निवेदितं न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भक्तिमार्गभिन्नपूजामार्गमर्यादामार्गपरम्। अत्रायमाशयः। निवेदनस्य नवविधभक्तावुक्तत्वेन भक्तिरूपत्वात् 'दारान् सुता'निति सार्धश्लोकेन भक्त्यर्थत्वाच्च पूजामार्गे निवेदनाभावात् तत्र भगवते निवेदनं दानमेव। निवेदने स्वस्वत्वनिवृत्तेरभावान्निवेदितस्य भगवदुपभुक्तस्योच्छिष्टस्य प्रसादत्वेन ग्रहणे बाधकाभावात् विहितत्वाच्च दानस्य स्वस्वत्वनिवृत्तिपरस्वत्वापादनरूपत्वात् पूजामार्गे निवेदितग्रहणे दत्तापहार एव भवति। अत एवोक्तं गरुडपुराणे 'पादोदकं पिबेन्नित्यं नैवेद्यं भक्षयेद्धरेः। शेषाश्च मस्तके धार्या इति वेदानुशासनम्॥' ब्रह्माण्डपुराणे 'मुकुन्दाशनशेषं तु यो हि भुङ्क्ते दिने दिने। सिक्थे सिक्थे भवेत्पुण्यं चान्द्रायणशताधिकम्॥' श्रीभागवते 'त्वयोपभुक्ते'त्यादि।

यहाँ शंका यह होती है कि, भगवान के लिए निवेदित अन्नादि को ग्रहण करने पर दिए हुए को पुनः ग्रहण करने पर दोष होता है एवं'' ''मुझे समर्पित किए दीपक का प्रकाश भी (श्री.भा.११/११/४०)'' इत्यादि वाक्यों द्वारा निषेध होने से निवेदित-को कैसे ग्रहण करना? यह शंका होने पर **दत्तापहार ..... मतम्** इन शब्दों से कह रहे हैं।

''दत्तापहारवचनं एवं हरि से संबंधित समस्त निवेदित पदार्थों को ग्रहण नहीं करना चाहिए'' इत्यादि वाक्य निश्चितरूप से भक्तिमार्ग से भिन्न पूजामार्ग एवं मर्यादामार्ग परक हैं। इसका आशय यह है कि निवेदन नवधाभक्ति में कहा गया होने के कारण वह भक्तिरूप हो जाता है एवं ''पत्नी, पुत्र (श्री.भा.११/३/२८) इस डेढ़ श्लोक के द्वारा भी वह निवेदन भक्ति के लिए होता है, परंतु पूजामार्ग में निवेदन का अभाव होने के कारण वहाँ भगवान को किया गया निवेदन 'दान' ही है। निवेदन में स्वयं के स्वत्व की निवृत्ति का अभाव होने के कारण एवं भगवद्-उपभुक्त के उच्छिष्ट को प्रसादरूप से ग्रहण करने पर बाधक न होने के कारण एवं इस प्रकार भगवद्-प्रसाद को ग्रहण करने का विधान भी होने के कारण एवं इस प्रकार भगवद्-प्रसाद को ग्रहण करने का विधान भी होने के कारण उपर्युक्त दत्तापहार वाली शंका करनी अनुचित है। टीकाकार निवेदन के सिद्धांत को दृढ़ कर रहे हैं। वे कहते हैं कि पुष्टिमार्ग में 'निवेदन' करना प्रभु को 'दान' करना नहीं है। क्योंकि दान उसी का किया जा सकता है जिस पर स्वयं का स्वामित्व हो। दान देने वाला उस वस्तु पर स्वयं की सत्ता हटाकर - जिसे दान दिया जाना है - उसकी सत्ता स्थापित करता है और वह भी संकल्पपूर्वक। किंतु यहाँ ऐसी कोई पद्धति नहीं है। यहाँ तो केवल इतना ही है कि जिन वस्तुओं पर जीव अविद्या के वश होकर स्वयं की सत्ता मान बैठा है इस अहंताममता को निवृत्त करके निवेदन पद्धति द्वारा प्रभु की ही वस्तु उन्हें ही समर्पित कर रहा है। अतः निवेदन करना दान देना नहीं हैं। इसी प्रकार निवेदन करने के पश्चात् उस वस्तु को प्रसादरूप से ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है एवं ऐसा विधान भी प्राप्त होता है, यह अर्थ है। किंतु दान तो स्वयं स्वत्व की निवृत्ति एवं दूसरे के स्वत्व का प्रतिपादनरूप होने के कारण पूजामार्ग में निवेदित को ग्रहण करने पर दत्तापहार-दोष होता ही है। किंतु पुष्टिभक्तिमार्ग में यह दोष नहीं माना जाता। अतएव गरुड़पुराण में ''हरि का चरणामृत एवं उन्हें निवेदित पदार्थ का भोजन करना चाहिए। शेष बचे हुए को मस्तक पर धारण करना चाहिए - यह वेद का अनुशासन है।'' यह कहा गया है। ब्रह्माण्डपुराण में ''मुकुंद के द्वारा भोग किए गये पदार्थों से बचा हुआ जो प्रतिदिन खाता है, उसे ग्रास-ग्रास में सौ से अधिक चान्द्रायण-व्रत का पुण्य प्राप्त होता है'' यह कहा गया है एवं श्रीभागवत में ''आपके द्वारा उपभुक्त (श्री.भा.११/६/४६)'' इत्यादि वचन कहे गये हैं।

अग्रे सर्वेषां दोषाभावार्थमाहुः।

सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः।

स्वकीयानां भगवदीयानां लौकिकव्यवहारो यथा प्रकर्षेण सिध्यति प्रकृष्टो भवति, तथा सेवकैः पदार्थानां भगवदुपयोगं कृत्वैव सर्वं कार्यम्। एवं कृते स्वधर्मेण स्थितौ ततस्तस्माद्व्यवहारादेव ब्रह्मता 'निर्दोषं हि समं ब्रह्मे'ति ब्रह्मतुल्यता निर्दोषत्वं वैष्णवत्वेन समत्वमपि भवतीत्यर्थः।

आगे सभी के दोषों को दूर करने के लिए सेवकानां... ततः इत्यादि वाक्य कह रहे हैं। स्वकीय-भगवदीयों का लौकिक व्यवहार जिस प्रकार प्रकृष्टरूप से सिद्ध होता हो, उस प्रकार सेवकों द्वारा पदार्थों का भगवान में उपयोग करके ही समस्त कार्य करने चाहिए। इस प्रकार करने पर अर्थात् स्वधर्म से रहने पर **ततः** अर्थात् पश्चात् ऐसे व्यवहार से ही समस्त वस्तुओं में **ब्रह्मता** सिद्ध हो जाती है अर्थात् ''वह ब्रह्म निर्दुष्ट एवं सम है (भ.गी.५/१९)'' इस वाक्यानुसार समस्त पदार्थों में ब्रह्मतुल्यता होने के कारण निर्दोषता एवं वैष्णवों में समानता भी होती है, यह अर्थ है।

ननु ब्रह्मसम्बन्धकरणेपि दोषाणामनुभूयमानत्वात् कथं निर्दोषत्वं समत्वं चेत्याशङ्कां गङ्गादृष्टान्तेन परिहरन्ति।

गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना ॥ ८ ॥
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि ॥ ८ १/२ ॥

यथा गङ्गासम्बन्धेन गङ्गारूपत्वे संपन्ने तेषां जलानां तद्दोषाणां च गङ्गात्वेनैव व्यवहारः, तथा ब्रह्मसम्बन्धे सम्पन्ने तेषां धर्माणां भगवदीयत्वेन निर्दोषत्वेनैव व्यवहारो भवतीत्यर्थः। हि युक्तोयमर्थः। यो यत्र सम्बद्धः, स तद्रूपो भवति।

श्रीमत्कल्याणरायेण प्रणम्य स्वप्रभून् मुदा।
श्रीमदाचार्यसिद्धान्तरहस्यविवृतिः कृता ॥ १ ॥

अब यहाँ शंका यह करते हैं कि, ब्रह्मसंबंध करने पर भी दोष तो अनुभूत होते ही हैं, अतः निर्दोषता एवं समानता कैसे संभव है? तो इस शंका का गंगादृष्टांत द्वारा परिहार कर रहे हैं।

जिस प्रकार गंगा से संबंध होने के द्वारा गंगारूप संपन्न हो जाने पर उन जलों का एवं उसके दोषों का गंगारूप से ही व्यवहार होता है, उसी प्रकार ब्रह्मसंबंध संपन्न हो जाने पर उस जीवों के धर्मों का भगवदीयरूपतया निर्दोषरूप से ही व्यवहार होता है, यह अर्थ है। 'हि' शब्द इस अर्थ की युक्तता बताने के लिए है। जो जहाँ संबंधित है, वह वैसे रूपवाला हो जाता है।

अपने प्रभु को प्रसन्नता से प्रणाम करके 'श्रीमत्कल्याणराय' ने
श्रीमदाचार्य के सिद्धांतरहस्य की विवृति की॥ १ ॥

श्रीकृष्णाय नमः।

सिद्धान्तरहस्यम्।

श्रीव्रजोत्सवकृतविवृतिसमेतम्।

प्रणमामि हरिं कृष्णं कृपास्निग्धेक्षणं विभुम्।
यः स्वीयार्थे रहस्यं स्वं स्वाचार्येभ्यः समादिशत्॥ १ ॥
तदेव पद्यबन्धेन कथितं तैः पुनः स्वतः।
दुर्बोधं तच्च लक्ष्यं स्यात्कृपयैव तदीयया॥ २ ॥
इति तेषामहं श्रीमदाचार्याणां निजाश्रयम्।
नमामि चरणाम्भोजतलं कारुण्यरञ्जितम्॥ ३ ॥

अथ साक्षाद्भगवान् दैवोद्धारार्थं स्वाज्ञयैव प्रादुर्भूतान् श्रीमदाचार्यानग्रे वक्ष्यमाणप्रबलदोषैः साक्षाद्भगवद्भजनानधिकारिणां जीवानां 'शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदाः। भगवत्सेवने योग्या नान्य' इत्युक्तत्वात्तन्निवृत्तिपूर्वकं पुनर्ब्रह्मसम्पत्तिव्यतिरेकेण तदर्थमङ्गीकारायोग्यतां मत्वा तद्दोषनिवृत्तिं प्रतीक्ष्यमाणान्दृष्ट्वा स्वयमेतन्मार्गव्यवस्थां सकलमार्गेभ्यो भिन्नामेव ज्ञापयंस्तेषां फलदानविलम्बासहिष्णुः सन् श्रीमदाचार्याणां मार्गाधिष्ठातृत्वात्स्वसिद्धान्तरहस्यं यदाज्ञापयत्, तदेव श्रीमदाचार्यचरणाः प्रत्यक्षरार्थविचारेण निरूपयन्ति।

कृपा से स्निग्ध नेत्रों वाले विभु-हरि-कृष्ण को मैं प्रणाम करता हूँ,
जिन्होंने स्वीयजनों के लिए स्वयं का रहस्य अपने आचार्यचरणों को बताया॥ १ ॥
अतः उन निजाश्रय (पुष्टिजीवों के आश्रय), करुणा से रंजित,
श्रीमदाचार्य के ऐसे चरणकमल तल को मैं नमन करता हूँ॥ ३ ॥

अथ साक्षात्-भगवान ने दैवीजीवों के उद्धार के लिए ..... स्वयं की आज्ञा से ही प्रादुर्भूत हुए श्रीमदाचार्यचरणों को ..... आगे कहे जानेवाले प्रबल दोषों के द्वारा साक्षाद् भगवद्-भजन में अनधिकारी जीवों को "शुद्ध, सुखी एवं ब्रह्मविद्या में विशारद ही भगवत्सेवा के योग्य हैं, अन्य नहीं (सुबो०१/१/३)" यह कहा गया होने के कारण ..... उन दोषों की निवृत्तिपूर्वक पुनः ब्रह्मसंपत्ति के बिना भगवत्सेवा की अयोग्यता मानकर ..... उन दोषों की निवृत्ति के लिए प्रतीक्षारत देखकर स्वयं "इस मार्ग की व्यवस्था समस्त मार्गों से भिन्न ही है" यह बताते हुए ..... उन दैवीजीवों के फलदान में विलंब को न सहन करते हुए, मार्ग के अधिष्ठाता होने के कारण श्रीमदाचार्यचरणों को स्वयं का जो सिद्धांतरहस्य बताया, ... वही श्रीमदाचार्यचरण प्रति-अक्षर के विचार द्वारा निरूपण कर रहे हैं। अर्थात् आचार्यचरण दैवीजीवों के उद्धार के लिए भगवान की आज्ञा से ही प्रादुर्भूत हुए हैं। किंतु आगे जो दोष कहे जाने हैं - उन दोषों के कारण - वे दैवीजीव भगवद्-भजन के अधिकारी नहीं रह गये हैं। और 'शुद्ध, सुखी' इत्यादि सुबोधिनी में कहे वाक्य के अनुसार केवल ऐसे शुद्ध जीव ही भगवद्-भजन में अधिकारी हैं अतः जब तक इन दोषों की निवृत्ति न हो और उनमें ब्रह्मता न आ जाय तब तक वे अयोग्य हैं। भगवान ने देखा कि आचार्यचरण इन दोषों की निवृत्ति का उपाय खोजने में प्रतीक्षारत हैं। ऐसे में भगवान ने उन्हें पुष्टिभक्तिमार्ग का उपदेश किया और कहा कि - इस मार्ग के विधि-निषेध आदि की व्यवस्था अन्य मार्गों से भिन्न है। और दैवीजीवों को अब पुष्टिभक्ति के फलदान में और विलंब न हो अतः आचार्यचरणों को - जो कि इस मार्ग के अधिष्ठाता हैं - पुष्टिभक्तिमार्ग के सिद्धांतों का रहस्य बताया। उसी सिद्धांत के रहस्यों का प्रति-अक्षर द्वारा आचार्यचरण निरूपण कर रहे है।

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते॥ १ ॥

यदात्मानं प्रति साक्षाद्भगवता प्रकटीभूय प्रकर्षेण स्वसिद्धान्तरहस्यत्वेनोक्तं तदक्षरशः, यानि भगवदुक्तान्येवाक्षराणि तदक्षररचितपद्यबन्धेन प्रत्यक्षरार्थविचारेण वा मयोच्यते। तत्र कदा कस्मिन्काले वैतदुक्तमित्याशङ्कायामाहुः श्रावणस्येति। श्रावणमासस्यामले पक्षे। श्रवणस्य विष्णुदैवतत्वात्तदुपलक्षितमासस्यापि तथात्वम्। अत एव लौकिककार्येषु शून्यत्वेन गणनायामपि वैष्णवमन्त्रोपदेशेषु प्रशस्तः। तदुक्तं 'श्रावणे सुखसम्पत्ति'रिति। तेन यथा श्रावणमासस्य दैवतं विष्णुः, तथा देवानाम्, तत्रापि पुष्टिमार्गीयाणां दैवतं प्रभुः साक्षाद्-

गवानिति तेषां भगवदधीनत्वमेव, न कालकर्माधीनत्वमितरमार्गीयाणामिव। अतोऽहमेवैतेषां दोषान्नाशयामि, न दानव्रततपआदिसाधनानि। ते नाङ्गीकर्तव्या इति ज्ञापितम्। ननु तथापि भगवता ते दोषा नाशिताश्चेत्, तदाङ्गीकर्तव्या इति चेत्, तत्राहुः अमले पक्ष इति। स पक्षो यथा स्वरूपतो निर्मल एव, यथा यथा चन्द्रप्रकाशः, तथा रसानन्दपोषेणाह्लादकश्च, तथायं पुष्टिमार्गीयपक्षोपि वस्तुविचारे कृते स्वरूपतः शुद्ध एव जीवकृत्यसाध्यः ब्रह्मादीनामप्यगम्यः केवलाङ्गीकारबलेनैव तादृशानन्दपोषकश्चेति ज्ञापनाय स एव पक्ष उक्तः। एवं सति स्वरूपतः शुद्धत्वेपि पक्षस्य तज्जीवानां तु मध्येऽविद्यान्तरायजनितभगवदानन्दतिरोभावात् दुःसंसर्गात्संसारावेशेन दुष्टत्वाद्भगवदङ्गीकारानन्तरमेव मद्भजनाधिकारे सम्पन्ने भजनेनैव ते दोषा यथा यथा नष्टा भविष्यन्ति, तथा तथा तादृशानन्दपोषणेन तेऽतिशुद्धा भविष्यन्तीति भावः।

श्रीवल्लभाचार्य कह रहे हैं कि, मेरे समक्ष साक्षात् भगवान ने प्रकट होकर प्रकर्षरूप से स्वयं के जिस सिद्धांत को रहस्यतया कहा, वह **अक्षरशः** अर्थात् भगवान द्वारा कहे जो अक्षर हैं, उन अक्षरों से रचित पद्यबंधन द्वारा या प्रत्येक अक्षर के अर्थविचार द्वारा मैं कह रहा हूँ। वहाँ, कब या किस काल में यह कहा? यह आशंका होने पर **श्रावणस्य** इन शब्दों से कह रहे हैं। श्रावणमास के अमलपक्ष में कहा। श्रवण(नक्षत्र) के देवता विष्णु होने के कारण उनसे उपलक्षित मास भी वैष्णव ही है। अतएव लौकिककार्यों में इस मास की गणना शून्यरूप से होने पर भी वैष्णवमंत्रों के उपदेशों में यह प्रशस्त है। जानना चाहिए कि श्रावण के महीने में कोई भी लौकिक मांगलिक इत्यादि कार्य नहीं किए जाते, देवता भी इन समयों में शयनावस्था में रहते हैं, इस कारण भी कोई मांगलिक कार्य नहीं होते। किंतु वैष्णवसंप्रदाय में यह मास प्रशस्त माना गया है। यही 'श्रावण में सुख-संपत्ति' इस वाक्य में कहा गया है। इससे, जिस प्रकार श्रावणमास के देवता विष्णु हैं, उसी प्रकार देवताओं के भी देव विष्णु ही हैं, उस पर पुष्टिमार्गीयों के देवता तो प्रभु-साक्षात् भगवान हैं अतः वे भगवान के अधीन ही हैं न कि अन्यमार्गीयों की भाँति काल-कर्म के अधीन। अतः भगवान कह रहे हैं कि मैं ही इनके दोषों का नाश करूँगा, दान-व्रत-तप आदि साधन नहीं। ये साधन नहीं करने चाहिए, यह बताया है। यहाँ शंका होती है कि, इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान जब समस्त दोषों का नाश कर देंगे क्या तब ही अंगीकार करेंगे? तब वहाँ **अमले पक्ष** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। वह अमल-पक्ष जैसे स्वरूपतः निर्मल है एवं जैसे-जैसे चंद्रमा का प्रकाश होता जाता है वैसे-वैसे रसानंद के पोषण द्वारा आल्हादक होता जाता है, वैसे यह पुष्टिमार्गीयपक्ष भी वस्तुविचार यहाँ 'वस्तुविचार' शब्द का अर्थ 'भगवान का विचार' इस प्रकार है। जो वास्तविक है वही वस्तु है और वही भगवान है। (देखें श्री०भा०१/१/२) अतः टीकाकार कह रहे हैं कि जैसे भगवान शुद्ध हैं वैसे उनका यह अनुग्रह-मार्ग भी शुद्ध है। करने पर स्वरूपतः शुद्ध ही है। जीवकृति से असाध्य, ब्रह्मादि को भी अगम्य, केवल प्रभु द्वारा अंगीकार के बल से ही वैसे आनंद का पोषक है; यह बताने के लिए वही 'अमलपक्ष' कहा है। इस प्रकार होने पर, पक्ष की स्वरूपतः शुद्धता होने पर भी उन जीवों को तो मध्य में अविद्या से उत्पन्न हुए विघ्नों से भगवद्-आनंद तिरोहित हो जाता है और दुःसंसर्ग हो जाने के कारण एवं उससे संसारावेश हो जाने के कारण एवं संसारावेश से दुष्ट हो जाने के कारण भगवद्-अंगीकार के पश्चात् ही मेरे भजन का अधिकार संपन्न होने पर भजन से ही वे दोष जैसे-जैसे नष्ट होंगे, वैसे-वैसे अलौकिक आनंद के पोषण द्वारा वे जीव अति शुद्ध होंगे, यह भाव है।

ननु भोगं विना कथं नष्टा भविष्यन्ति, तत्राहुः एकादश्यामिति। एकादशी हरिदिनमुच्यते। एकादशेन्द्रियशोधिका च। हरिस्तु भक्तानां दुःखहर्ता। यदि मर्यादामार्गेऽपि दुःखं न सहते, तर्हि पुष्टिमार्गे सुतरां न सहते इति भक्तानां दोषभोगक्लेशं न कारयतीति भावः सूचितः। किञ्च। भजनाधिकारे सम्पन्ने सर्वेषां भगवत्येव विनियोगकरणे ते स्वत एव नङ्क्ष्यन्तीति कुतस्तद्भोगसम्भावनेत्यपि सूचितम्। ननु तथाप्ययं कलिकालस्तु दोषनिधिः तत्कथं सर्वथा दोषाभावेन फलं सेत्स्यति, तत्राहुः महानिशीति। महानिशा आसुरी वेला महादोषरूपा, परन्तु पुष्टिमार्गीयाणामर्थे तस्मिन्नेव समये तान् दोषान् दूरीकृत्य प्रकटो जातः, तथात्राप्ययमेव कालः साधको भविष्यतीति तथोक्तम्। ननु कदाचित्तथा प्राकट्यं न भवेत्, तत्राहुः साक्षादिति। एतावदलौकिककरणे सामर्थ्यं किमित्याशङ्कायामुक्तं भगवतेति। अलौकिकैश्वर्यादिना स सर्वकरणसमर्थ इति। एवं सत्येतावत्सर्वाभिप्रायज्ञापनायैव श्रावणस्येत्यादिपदैः समय उक्तो, नो चेत्प्रयोजनं विना किमर्थं वदेयुः। एतेनैतदङ्गीकारे दोषनिवृत्तिप्रतीक्षा न कार्येत्युपक्रमेण तात्पर्यार्थः सूचितः॥ १॥

यहाँ एक शंका यह होती है कि उन दोषों के अपराधों को भोगे बिना वे कैसे नष्ट हो जायेंगे? वहाँ **एकादश्यां** इन शब्दों से कह रहे हैं। एकादशी को हरि का दिन कहा जाता है एवं वह एकादश-इंद्रियों की शोधिका भी है। जानना चाहिए कि, एकादशी को 'हरिवासर' भी कहा जाता है, तदनुसार वह प्रभु का दिवस है। हरि तो भक्तों के दुःखहर्ता हैं। यदि मर्यादामार्ग में भी वे भक्तों के दुःख को सहन नहीं करते हैं, तो पुष्टिमार्ग में तो अपेक्षाकृत सहन नहीं ही करते हैं। अतः भक्तों को दोष के भोग का क्लेश नहीं कराते हैं, यह भाव सूचित किया है। और, भजन का अधिकार संपन्न हो जाने पर सभी का भगवान में विनियोग करने पर वे स्वतः ही नष्ट हो जायेंगे। अतः उन्हें भोगने की संभावना ही कहाँ है? यह भी सूचित किया है। यहाँ पुनः एक शंका होती है कि, तथापि यह कलिकाल तो दोषों का भंडार है, तो सभी प्रकार से कैसे

---

१. मूलेऽयमेव शुद्धः पाठः, तथापि केनचित् न जीवकृत्यसाध्य इति कृतः। २. तदिति पाठः किन्तु मुझे यहाँ 'तत्' पाठ ही अधिक उपयुक्त लग रहा है - अनुवादक।

दोष दूर होकर फल-प्राप्ति होगी? ऐसी शंका होने पर **महानिशि** इन शब्दों से समाधान कर रहे हैं। महारात्रि आसुरीवेला होने से महान दोषरूप है परंतु पुष्टिमार्गीयों के लिए उसी समय में उन रात्रि के दोषों को दूर करके प्रभु प्रकट हुए हैं। इसी प्रकार यह काल ही समस्त दोषों को दूर करने में साधक हो जायेगा अतः 'महानिशि' पद कहा है। एक शंका यह होती है कि, कदाचित् यहाँ प्रभु वैसे न प्रकट हुए हों जैसे उपर कहा? तो इस शंका का समाधान **साक्षात्** पद देकर कर दिया है। अर्थात् प्रभु उस महारात्रि को साक्षात् ही प्रकट हुए, यह अर्थ है। यहाँ एक आशंका यह है कि, इस प्रकार अलौकिक कार्य करने का सामर्थ्य प्रभु का कैसे है? तो इसे **भगवता** इन शब्दों से स्पष्ट कर रहे हैं। जानना चाहिए कि अलौकिक ऐश्वर्य-आदि से वे सभी कुछ करने में समर्थ हैं।

इस प्रकार, इन समस्त अभिप्रायों को बताने के लिए ही **श्रावणस्य** इत्यादि पदों द्वारा समय कहा गया है। अन्यथा प्रयोजन के बिना आचार्यचरण इतने विस्तार से महीना, पक्ष, तिथि, समय आदि को क्यों कहते? अतः जीव को भगवान द्वारा अंगीकार में दोषनिवृत्ति की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए, यह उपक्रम से तात्पर्यार्थ सूचित किया है॥ १ ॥

अतः परं जीवाङ्गीकारे दोषनिवृत्तिप्रतीक्षा न कार्येत्युपकारार्थं यदुक्तं तन्निरूप्यते।

ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः मताः॥ २ ॥

ब्रह्मेति। भगवान् सर्वेश्वरः सर्वान्स्वदासत्वेनानुगृह्णातीति जीवानां सहजदासत्वं सदैव वर्तते। एतदेव स्पष्टीकृतं सिद्धान्तमुक्तावल्यां भक्तिहंसे च। 'तदविद्ययान्तरायभूतया स्वस्वरूपविस्मारणेनोन्मार्गगमने सति निवृत्तं प्रभुसेवास्वरूपधर्मानधिकारसम्पादकं दुष्टत्वं च जातम्। तत्तु प्रभोरेवाङ्गीकारेण दूरीकर्तुं शक्यम्, न तु सहस्रजन्मपर्यन्तमपि कृतैः साधनै'रिति। ब्रह्मसम्बन्धकरणानन्तरं साक्षात्पुरुषोत्तमसेवाधिकारे सम्पन्ने तद्भजनेनैव दोषनिवृत्तिर्भविष्यतीति तन्निरूपयन्ति ब्रह्मेति। ब्रह्मसम्बन्धकरणं नाम साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धकरणम्। तच्च श्रीमदाचार्यद्वारा शरणगमनपूर्वकम्। देहजीवयोः सर्वेषां च कोर्थः? तत्सम्बन्धिनां दारादीनां सर्वेन्द्रियप्राणान्तःकरणादीनां च प्रभोश्चरणे समर्पणेन केवलतदीयत्वकरणम्, तत एव देहजीवयोः सर्वेषां च सर्वदोषनिवृत्तिर्भविष्यति। ब्रह्मसम्बन्धे जाते तद्भजनाधिकारे सम्पन्ने सर्वेषां तत्रैवोपयोगेन सर्वे दोषाः स्वयमेव नङ्क्ष्यन्तीति भावः। देहजीवयोरित्यत्र जीवस्य स्वरूपतः शुद्धत्वादेहसम्बन्धेनैव तस्य दुष्टत्वात्प्रथमं देहग्रहणम्।

इसके पश्चात् जीव को अंगीकार में दोषनिवृत्ति की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए - इस प्रकार जीव पर उपकार करने के लिए जो कहा वह ब्रह्मसंबंध ..... मताः इन शब्दों से निरूपित कर रहे हैं। **ब्रह्म** इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। भगवान सर्वेश्वर हैं एवं सभी को अपने दासरूप से ग्रहण करते हैं। अतः जीवों का सहज-दासत्व सदा है ही। यही सिद्धांतमुक्तावली एवं भक्तिहंस में स्पष्ट किया गया है कि ''वह विघ्नरूपी-अविद्या स्वयं के स्वरूप का विस्मरण करा देती है एवं तब जीव प्रभु से भिन्न दूसरे लौकिक मार्गों की ओर भटक जाता है। इससे प्रभुसेवा के स्वरूपवाले धर्म का अनधिकार एवं दुष्टता पैदा हो जाती है। वह दुष्टता तो प्रभु द्वारा अंगीकार करने के द्वारा ही दूर होनी संभव है, अन्यथा हजारों जन्मपर्यन्त किए गये साधनों द्वारा भी नहीं होती'' ब्रह्मसंबंध करने के पश्चात् साक्षात् पुरुषोत्तम की सेवा का अधिकार परिपूर्ण होने के बाद उनके भजन से ही दोषों की निवृत्ति होगी, अतः इसे **ब्रह्म** इन शब्दों से निरूपित कर रहे हैं। ब्रह्मसंबंध करने का अर्थ है, साक्षात् पुरुषोत्तम से संबंध करना एवं वह भी श्रीमदाचार्य के द्वारा शरणगमनपूर्वक। किंतु 'देहजीवयोः' एवं 'सर्वेषां' इन शब्दों का क्या अर्थ है? यह प्रश्न होता है। समझना चाहिए कि, देह से संबंधित पत्नी-आदि एवं समस्त इंद्रिय-प्राण-अन्तःकरण आदि का प्रभु के चरणों में समर्पण द्वारा केवल उन्हें भगवदीय करना है, इसके पश्चात् ही देहजीव एवं सभी के समस्त दोषों की निवृत्ति होगी। ब्रह्मसंबंध होने पर प्रभु के भजन का अधिकार परिपूर्ण हो जाने के पश्चात् सभी का भगवान में ही उपयोग करने के द्वारा सभी दोष स्वयं ही नष्ट हो जायेंगे, यह भाव है। **देहजीवयोः** इस पद में विशेष यह जानना चाहिए कि, जीव तो स्वरूपतः शुद्ध ही है एवं चूँकि देहसंबंध से ही वह दुष्ट हुआ होने के कारण सर्वप्रथम 'देह' पद कहा गया है।

ते दोषाः के? तत्राहुः दोषाः पञ्चविधाः मता इति। एते दोषाः प्रथमस्कन्धीयसप्तमाध्यायोक्ताः। 'कृष्ण कृष्ण महाबाहो भक्तानामभयंकर। त्वमेको दह्यमानानामपवर्गोसि संसृते'रिति श्लोकार्थविवरणे श्रीमदाचार्यचरणैः स्फुटीकृताः 'कर्मजाः कालजाः स्वभावजा मायोद्भवा देशोद्भवाश्चे'ति। तत्र ये स्वभावजास्तेऽत्र सहजाः प्रोक्ताः। ये कालजास्ते कालोत्थाः। ये देशोद्भवास्ते देशोत्थाः। ये मायोद्भवा अविद्यासंयोगजनिताः स्वधर्मभगवद्धर्माज्ञानादयस्ते संयोगजा उक्ताः। ये कर्मजास्ते स्पर्शजा ज्ञेयाः। तत्र यादृशं कर्म, तादृशमेव देहादिकं जीवानां जायत इति नियमस्तदधीनत्वात्। तेन तत्स्पर्शजन्यत्वात् स्पर्शजत्वं तेषामुक्तमिति भावः॥ २ ॥

अब प्रश्न होता है कि, वे दोष कौन से हैं? वहाँ **दोषाः पञ्चविधा मताः** इन शब्दों से कह रहे हैं। ये दोष प्रथमस्कंध-सप्तमाध्याय में कहे गये हैं। ''हे महाबाहु श्रीकृष्ण! भक्तों को अभय देनेवाले एवं संसार की धधकती आग में जलने वालों को उबारनेवाले एक तुम ही हो (श्री.भा.१/७/२२)'' इस श्लोकार्थ के विवरण में श्रीमदाचार्यचरणों ने ''कर्म-काल-स्वभाव-माया एवं देश से उत्पन्न होने वाले ऐसे पाँच दोष

हैं (सु.१/७/२३)'' इत्यादि वाक्यों से ये दोष स्फुट किए हैं। वहाँ जो 'स्वभावजा' शब्द से कहे हैं, वे यहाँ 'सहजा' शब्द से कहे गये हैं। जो 'कालजा' हैं, वे यहाँ 'कालोत्था' हैं। जो 'देशोद्भवा' हैं, वे यहाँ 'देशोत्था' शब्द से कहे गये हैं। जो स्वधर्म, भगवद्-धर्म के अज्ञान-आदि अविद्या के संयोग से जनित 'मायोद्भवा' हैं, वे 'संयोगजा' शब्द से कहे गये हैं। जो 'कर्मजा' हैं, वे 'स्पर्शजा' जानने चाहिए। वहाँ जैसा कर्म है, वैसी देह जीवों को प्राप्त होती है, ऐसा नियम है। अतः ऐसे दुष्ट जीवों से स्पर्श हो जाने के कारण उत्तम देहवालों को स्पर्श-दोष हो जाता है, यह भाव है ॥ २ ॥

तानेव गणयन्ति सहजा इति।

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन ॥ ३ ॥

देहस्य भौतिकत्वात्प्राकृतगुणविचारेष्वेव साहजिकी प्रवृत्तिर्नाप्राकृत इति सहजा दोषाः स्वभावजा उक्ताः। किञ्च, देह इत्युपलक्षणम्। सर्वेन्द्रियाणामपि तथोक्ताः। तथैव जीवाः स्वभावतो दुष्टा इति 'अन्यत्सर्वं कर्तव्यम्, भगवद्भजनं न कर्तव्य'मित्यादयश्च जीवानां सहजास्ते। तथैव देशाः सौराष्ट्रमगधादयस्तदुत्थाः। पूर्वं ते दुष्टा एव, पुनर्यत्र गमनमात्रेण संस्कारमर्हन्ति, तत्र जन्मस्थित्यादिना विशेषतो दुष्टाः। धर्मवासनापि तेषां नास्तीति। तथैव जीवस्यापि तद्देहाभिमानात्तथात्वम्। ननु पुण्यदेशोद्भवानां दुष्टत्वं न भविष्यति, तत्राहुः कालोत्था इति। कलिकालस्य प्रबलदोषरूपत्वात्पुण्यदेशानामपि तद्दोषकलुषितत्वादाधिदैविकतिरोधानेन सामर्थ्याभावात्तत्रोत्पन्नदेहानामपि तथात्वमेव। तदभिमानित्वाज्जीवस्य तथात्वं स्पष्टमेव। ननु केचन सन्तोपि भविष्यन्ति, तत्राहुः संयोगजा इति। पूर्वोक्तानां सङ्गेन अविद्यासंयोगः सतामपि भवतीति। 'तत्संसर्गी च पञ्चम' इति वाक्यात्तत्संयोगजनिता दोषास्तेष्वपि वर्तन्त इति तेषामपि तथात्वम्।

उन्हें ही **सहजा** इन शब्दों से गिन रहे हैं।

चूंकि देह भौतिक है, अतः प्राकृत-गुणों का विचार करने में ही सहज-प्रवृत्ति होती है अप्राकृत गुण में नहीं। अतः सहजदोष स्वभाव से उत्पन्न होने वाले कहे गये हैं। टीकाकार कहना चाह रहे हैं कि सहजप्रवृत्ति प्राकृत गुणों में ही होती है अतः इनसे उत्पन्न हुए दोष 'सहजा' कहलाते हैं। उपर सुबोधिनी-वाक्य में भी हम देख आए है कि 'सहज' दोषों को 'स्वभावजा' कहा गया है क्योंकि जीव का स्वभाव सहज ही है और यह प्राकृत अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न होने वाला है। और देह तो उपलक्षण है, वास्तव में तो समस्त इंद्रियों को भी प्राकृत ही कहा गया है। उसी प्रकार जीव तो स्वभाव से दुष्ट है एवं ''अन्य सभी कुछ करना है किंतु भगवद्-भजन नहीं करना है'' इत्यादि वाक्यानुसार जीवों के ये सहजदोष हैं। उसी प्रकार सौराष्ट्र-मगध आदि दुष्ट-देशों से उत्पन्न हुए दोष 'देशोत्था' से कहे जा रहे हैं। पूर्व में ही वह जीव दुष्ट है, अब पुनः जहाँ गमन मात्र से संस्कार करने पड़ते हों, वहाँ जन्म लेने वाले एवं ऐसे देश में रहने वाले तो विशेष दुष्ट हैं। धर्म की गंध भी उनमें नहीं है। उसी प्रकार जीव को भी उस देह का अभिमान होने के कारण वह दुष्ट हो जाता है। यहाँ शंका करते हैं कि ''पुण्यदेश में पैदा होनेवालों में क्या दुष्टता नहीं होगी? तो इसे **कालोत्था** इन शब्दों से कह रहे हैं। कलिकाल के प्रबलदोषरूप होने के कारण पुण्यदेश भी उसके दोष से कलुषित हो जाता है एवं उसकी आधिदैविकता तिरोहित हो जाती है, अतः सामर्थ्य के अभाव से वहाँ उत्पन्न हुई देह भी दुष्ट ही होती है। एवं उस देह का अभिमान करने के कारण जीव की दुष्टता तो स्पष्ट ही है। यहाँ शंका यह होती है कि, सभी दुष्ट तो नहीं होते, कुछ संत भी होते हैं, तो क्या वे भी दुष्ट हैं? तो इस शंका का समाधान **संयोगजा** शब्द से कह रहे हैं। समझना चाहिए कि पूर्व में कहे गये दुष्ट जीवों के संग से सज्जनों को भी अविद्या की संयोग हो जाता है। ''उनका संसर्गी पाँचवां है'' इस वाक्य द्वारा संयोग से जनित दोष उनमें भी होते हैं। अतः उनको भी दोष आपतित हो जाता है।

ननु तादृशानां दुष्टसङ्गः कथं भवेत् तत्राहुः स्पर्शजा इति। परम्परासम्बन्धेनापि तद्द्रव्यान्नादिसंसर्गात्तद्दोषस्पर्शो भवत्येवेति तादृशकर्मस्पर्शजनितत्वात् स्पर्शजा उक्ताः। चकारादनुक्ता अपि ज्ञेयाः। परम्परासम्बन्धेनापि स्पर्शोऽस्मिन्मार्गे बाधक इति समर्पणानन्तरं तादृशानां परम्परासम्बन्धस्पर्शोपि न भवेत्तथा स्थेयमिति ज्ञाप्यते।

यहाँ एक शंका यह होती है कि, ऐसे सज्जनों को दुष्टों का संग कैसे हो जाता है? वहाँ इसका समाधान **स्पर्शजा** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। परंपरा के संबंध से भी उन दुष्टों के द्रव्य-अन्न आदि के संसर्ग से उनके दोषों का स्पर्श सज्जनों को होता ही है अतः वैसे कर्म-स्पर्श से जनित होने के कारण ये दोष 'स्पर्शजा' कहे गये हैं। मूलकारिका में 'चकार' से न कहे गये दोष भी जान लेने चाहिए। परंपरा के संबंध से भी 'स्पर्श' तो इस मार्ग में बाधक है। अतः समर्पण के पश्चात् तादृशीयों को - परंपरा से संबंधित स्पर्श भी न हो - उस प्रकार रहना चाहिए, यह बता रहे हैं। यहाँ परंपरा-संबंध को समझें। लोक में देखा जाता है कि, किसी एक विशिष्ट परिवार के संग हमारे संबंध हमारे पूर्वजों के काल से रहे होते हैं। परंपरा से उस परिवार के संग आवागमन, खान-पान इत्यादि व्यवहार भी होते ही हैं क्योंकि वह परिवार कुलीन है एवं धार्मिक है। अब यदि दुर्भाग्य से कालांतर में यही परिवार या परिवार के कोई सदस्य दुष्ट हो जाएँ अथवा धर्मभ्रष्ट हो जाएँ तब परंपरा-संबंध तो निभाने ही

पड़ते हों तो, वह भी दोष है।

यद्वा। संयोगजा इति। यद्यपि केचन समीचीना अपि भविष्यन्ति, तथापि स्वपाण्डित्याभिमानात्तत्तच्छास्त्रमतेष्वेव प्रवृत्त्या तत्संयोगजनितदोषेण भगवद्भजनधर्मेष्वेवासन्मतिस्तेषामिति संयोगजा उक्ताः। भगवद्भजने सन्मतित्वेपि तेषां सकलविधिद्वारैव तत्तन्मार्गे प्रवृत्तिस्ते मार्गास्तादृशा एवेति तथात्वमेव। स्वमार्गस्तु समस्तविधिभिरस्पृष्टः। स्वमार्गीयप्रभुरपि तदस्पृष्ट एवेति तेषु तत्स्पर्शजनित-दोषास्तु वर्तन्त एवेति स्पर्शजा उक्ताः। एवमपि मायोद्भवत्वकर्मोद्भवत्वे निरूपिते। एतेन तत्स्पर्शमात्रगन्धेपि प्रभुभजनानधिकार एवेत्युक्तम्। अतः परमेते दोषा भजनानधिकारसम्पादका इत्यत्र प्रमाणमाहुः लोकेति। लोके स्मृतिपुराणादिषु तत्कृतत्वात्तेषां तथा-त्वमुक्तम्। अलौकिके वेदे च निरूपिताः। भगवद्भजनानधिकारसम्पादकत्वेन प्रसिद्धाः। तदुक्तम् 'नाहं वेदैः', 'न रोधयती'ति 'नायमात्मे'त्यादिना। यद्यप्येतादृशेषु सत्सु सर्वथा साक्षात्पुरुषोत्तमभजनानधिकारादयोग्यता, तथापि पुष्टिमार्गस्य लोकवेदातीतत्वेन केवलाङ्गीकारैकलभ्यत्वेन तत्राङ्गीकारकरणे ते दोषा न मन्तव्याः। तस्य भजनाधिकारसम्पादकत्वात्। अङ्गीकारानन्तरं भजनेनैव ते नङ्क्ष्यन्तीति तच्छङ्कापि न कर्तव्येति कदाचनेत्युक्तम्॥ ३ ॥

अथवा **संयोगजा** दोषों का समझिए। यद्यपि कुछ सज्जन भी होते हैं, तथापि अपने पाण्डित्य के अभिमान के कारण एवं उनकी अनेक शास्त्रों के मतों में प्रवृत्ति के कारण उसके संयोग से जनित दोष के द्वारा भगवद्-भजन के धर्मों में ही उनकी दुर्बुद्धि हो जाती है, अतः संयोगजा-दोष कहे गये हैं। और यदि भगवद्-भजन में उनकी सन्मति हो, तो भी चूँकि समस्त विधियों द्वारा ही उनकी उन-उन मार्गों में प्रवृत्ति हुई है एवं वे मार्ग विधि के अधीन ही हैं, अतः वे भी विधि-अधीन ही होते हैं। और अपना मार्ग तो समस्त विधियों से अनछुआ है। स्वमार्गीय पुष्टिप्रभु भी उन विधियों से छूते ही हैं अतः उन विधि-अधीन मार्गानुयायियों में उन दुष्ट जीवों के स्पर्श से जनित दोष तो होते ही हैं, अतः 'स्पर्शजा' दोष कहे हैं। इसी प्रकार माया से उत्पन्न एवं कर्म से उत्पन्न दोष भी निरूपित किए गये हैं। उपर्युक्त विश्लेषण से ज्ञात होता है कि, ऐसे दुष्टों के स्पर्शमात्र की गंध से भी प्रभुभजन में अधिकार ही नहीं रह जाता है, यह कहा। इसके पश्चात्, ये सभी दोष भजन में अनधिकार का संपादन करते हैं—इसका प्रमाण **लोके** इस शब्द से दे रहे हैं। स्मृतिपुराण आदि में लौकिक-दोषों का वर्णन हुआ होने के कारण लोक-निरूपित दोष कहे हैं। अलौकिक-दोष वेद में निरूपित किए गये हैं। ये सभी दोष भगवद्-भजन में अनधिकार के संपादक-अर्थ में प्रसिद्ध हैं। यह बात "मैं वेद से नहीं (भ.गी.११/३५)", "मुझे रोक नहीं सकता (श्री.भा.११/१२/१)", "यह परमात्मा प्रवचन द्वारा नहीं (कठो.१/२/२३)" इत्यादि वाक्यों द्वारा कही गई है। यद्यपि ऐसे सज्जनों में भी सभी प्रकार से साक्षात् पुरुषोत्तम-भजन का अनधिकार होने से भगवत्सेवा की अयोग्यता है, तथापि पुष्टिमार्ग लोकवेद से अतीत होने के कारण एवं केवल प्रभु-अंगीकार द्वारा ही प्राप्त होने के कारण प्रभुद्वारा अंगीकार करने पर वे दोष मानने नहीं चाहिए। क्योंकि अब उस जीव को भजन का अधिकार संपादित हो चुका है। प्रभु द्वारा अंगीकार करने के पश्चात् भजन से ही वे नष्ट हो जायेंगे। अतः उन दोषों की शंका भी नहीं करनी चाहिए, यह **कदाचन** शब्द से कहा है॥ ३ ॥

ननु दोषनिवृत्त्यनन्तरमेवाङ्गीकारे का क्षतिः, तत्राहुः अन्यथेति।

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन।
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्भर्जनमाचरेत्॥ ४ ॥

मदुक्तप्रकारकाङ्गीकाराभावे त्वेतेषां दोषाणां निवृत्तिः कथञ्चन अपि न, सहस्रजन्मपर्यन्तमपि कृतैः साधनैर्न भविष्यतीत्यर्थः। साधनानामस्वधर्मत्वात्। दासानां तु सेवैव स्वधर्म इत्यङ्गीकारेणैव तदधिकारे सम्पन्ने सर्वेन्द्रियाणां तदर्थमेव विनियोगे सति तन्नाशो भवेदिति भावः। एवमङ्गीकारेण दोषनिवृत्तिप्रकारं निरूप्य ब्रह्मसम्बन्धकरणानन्तरं सेवायां जाताधिकारस्य तस्य देहेन्द्रियादीनां सर्वेषां दुःसंसर्गदुष्टान्नसम्बन्धस्य प्रबलबाधकत्वात्, तत्त्यागकथनेनैतन्मार्गस्थितिप्रकाराभाव एव, तदभावे तु सर्वथा पूर्वोक्तदोषानिवृत्तिरिति। समर्पितात्मनो ह्यसमर्पितवस्तुसम्बन्धो बाधकः, तस्मादसमर्पितानां सम्बन्धिनां वस्तूनां असमर्पितानां च वस्तूनां वर्जनं त्यागं कुर्यात्।

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, "तब फिर दोषों की निवृत्ति हो जाने के पश्चात् ही अंगीकार करने में क्या क्षति है? इसका समाधान **अन्यथा** इन शब्दों से कह रह हैं।

प्रभु कह रहे हैं कि, मेरे द्वारा कहे गये प्रकार से अंगीकार न होने पर तो इनके दोषों की निवृत्ति कभी भी नहीं होगी, हजारों जन्मपर्यंत किए गये साधनों द्वारा भी नहीं होगी, यह अर्थ है। क्योंकि साधन करना अपना धर्म नहीं है। दास का तो सेवा ही स्वधर्म है। एवं चूँकि अंगीकार द्वारा ही सेवा का अधिकार संपूर्ण होता है अतः समस्त इंद्रियों का भगवान के लिए ही विनियोग करने पर उन दोषों का नाश हो जाता है, यह भाव है। इस प्रकार अंगीकार से दोषनिवृत्ति का प्रकार निरूपित करके ब्रह्मसंबंध करने के पश्चात् सेवा का अधिकार पैदा होता है

---

१. मज्जनाधिकारायोग्यतेति पाठः।

परंतु यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, जीव के समस्त देह-इंद्रिय आदि दुःसंसर्ग एवं दुष्टान्न-आदि प्रबलबाधकों से संबंधित हैं ही, अतः यदि ऐसे दुष्टान्न एवं दुःसंसर्ग का त्याग ही कह दिया जाय तब तो इस मार्ग में रहने का प्रकार ही नहीं रह जायेगा, एवं यदि त्याग न करें तो ये दोष निवृत्त नहीं होंगे। अतः यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि समर्पितजीवों को असमर्पितवस्तु का संबंध होना बाधक है। अतः असमर्पितों से संबंधित वस्तु का एवं असमर्पितों की वस्तुओं का वर्जन अर्थात् त्याग करना चाहिए।

अत्रेदं भाति। स्वयं समर्पितात्मा प्रभुणा साक्षादात्मसात्कृतः। तस्य देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणादयोपि तदङ्गीकृतास्तदधीनाः साक्षात्सेवैकव्रता भगवत्स्वरूपतत्सम्बन्धिस्वरूपान्तर्गतस्वस्वविषयग्रहणैकधर्माः, अन्ये तु स्वव्यतिरिक्ताः सर्वे बान्धवादय उदासीनाश्च भगवदनङ्गीकृताः पूर्वोक्तसेवानधिकाररूपप्रबलदोषदुष्टाः[1] असमर्पितात्मानः, तेषां संसर्गश्च बाधको विजातीयत्वादस्वधर्मत्वाच्चेति तत्सङ्गनिषेध उक्तः। एवं सति स्वसमर्पिताना देहप्राणेन्द्रियादीनां तत्सम्बन्धिनां च प्रत्येकं केषामप्यसमर्पितसंसर्गो न कार्यः। तत्तदिन्द्रियविषयत्वेन तद्ग्रहणं न कर्तव्यम्। अनेन सर्वथा समर्पितेष्वेव सङ्गः कर्तव्यः। तेन च भगवत्येव सर्वेषां विनियोगो भविष्यतीति सूच्यते।

यहाँ यह प्रतीत होता है कि, स्वयं समर्पित-आत्मा प्रभु द्वारा साक्षात् आत्मसात कर लिया गया है। उसके देह-प्राण-इंद्रिय-अन्तःकरण आदि भी उनके द्वारा अंगीकृत हैं, उनके अधीन हैं एवं साक्षात् एक सेवा का ही व्रत लेने वाले अर्थात् भगवत्स्वरूप एवं उनके संबंधी-स्वरूप के अंतर्गत अपने-अपने एक भगवदीय-विषयों को ग्रहण करने के धर्म वाले होते हैं, अर्थात् आत्मनिवेदी प्रभु द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है। उसकी समस्त इंद्रियाँ भी प्रभु द्वारा अंगीकार कर ली जाती हैं। प्रभु के अधीन हो जाती हैं एवं एक उनकी ही सेवा का व्रत लेने वाली हो जाती हैं, जिसका अर्थ ये है कि उस आत्मनिवेदी के देह-प्राण-इंद्रिय-अन्तःकरण इत्यादि का धर्म केवल भगवद्-विषयों को ग्रहण करना रह जाता है, लौकिक-विषयों की ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं होती, यह अर्थ है। किंतु उस जीव के अन्य समस्त बंधुबांधव-आदि भगवद्-विषय से भिन्न एवं उदासीन होते हैं। भगवान द्वारा अंगीकार न किए गये एवं पूर्व में कही सेवा के अनधिकाररूप प्रबलदोष द्वारा दुष्ट हुए असमर्पित-आत्माओं का संसर्ग विजातीय एवं अस्वधर्म है। अतः विजातीय होने के कारण उनका संसर्ग बाधक होता है। अतः उनका संग निषेध कहा है। इस प्रकार, स्वयं के द्वारा समर्पित देह-प्राण-इंद्रिय आदि एवं उनसे संबंधित पदार्थों का प्रत्येक का किसी भी असमर्पित से संसर्ग नहीं करना चाहिए। उन-उन पदार्थों को इंद्रियों के विषयरूप से नहीं अपितु भगवद्-सामग्री के रूप में ग्रहण करना चाहिए। इससे यह सिद्ध हुआ कि, सर्वथा समर्पितों का ही संग करना चाहिए। एवं इससे भगवान में ही सभी का विनियोग हो जायेगा, यह सूचित कर रहे हैं।

तथा हि। सर्वथा समर्पितात्मानो ये ते साक्षाद्भगवत्सम्बन्धिव्यतिरिक्तं न किञ्चिद्गृह्णन्ति। तेषां नेत्राणि तत्स्वरूपमेव स्वविषयं गृह्णन्ति, नत्वन्यत्तद्व्यतिरिक्तम्। रसनेन्द्रियं तु तत्साक्षाद्भुक्तावशिष्टं स्वसमर्पिताङ्गीकारकरणेन परमसौभाग्यकारकं तदत्तमहाप्रसादरूपमलौकिकरसात्मकश्रीमदास्यामृतमेवास्वादयति। घ्राणस्तु तत्स्वरूपसौरभाघ्राणमेव करोति, तदुपभुक्तपुष्पाद्याघ्राणं वा। त्वगपि स्पर्शं तदङ्गस्यैव, तत्सम्बन्धिवस्तुनो वा। श्रवणमपि तद्वचनानि तद्गुणानेव वा शृणोति। एवमेव कर्मेन्द्रियाण्यपि तत्सम्बन्धिकार्यमेव कुर्वन्ति, न तु प्राकृतविषयं किमपि गृह्णन्ति। तादृशानां भगवदीयानामैहिकमपि सर्वं भगवन्निमित्तकमेवेति सर्वथा प्राकृतविषयग्रहणाभाव एवेति तत्सङ्गेनास्यापि सर्वेषां तत्रैव विनियोगः सम्पत्स्यत इति तात्पर्यार्थः। अनेन समर्पणानन्तरं प्रभुसम्बन्धिव्यतिरिक्तकार्यं किमपि सर्वथा न कर्तव्यम्। तत्करणे त्वितरसम्बन्धेन तद्दोषसंक्रान्त्या बाहिर्मुख्यं स्वधर्महानिश्च स्यादिति भावो ज्ञापितः। एवं सति श्रवणादिकमपि तादृशभगवदीयमुखेनैव कार्यम्, नेतरेणेत्यपि सूच्यते। तच्छ्रवणस्य साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धित्वाभावात्। किञ्च, कदाचिद्बहिःसंसर्गेपि तद्दृव्यान्नादिकं सर्वथा न ग्राह्यमिति वस्तुपदकथनेन द्योत्यते। एवं सति लौकिकदेहनिर्वाहादिकं वैदिकमपि यावत्तावत्सर्वं समर्पितेनैव कार्यम्, न त्वसमर्पितेनेत्यपि ज्ञापितम्॥ ४ ॥

वह इस प्रकार कि, जो सभी प्रकार से समर्पित-आत्मा हैं, वे साक्षात् भगवद्-संबंधी वस्तुओं के अतिरिक्त कुछ भी ग्रहण नहीं करते हैं। उनके नेत्र अपने विषय को अर्थात् भगवान के स्वरूप को ही ग्रहण करते हैं, न कि उनसे अतिरिक्त किसी अन्य को। जिव्हा तो, भगवान द्वारा साक्षात् भोग किए गये का अवशिष्ट; का ही आस्वादन करती है जो प्रभु के अलौकिक-रसात्मक मुखारविंद का अमृतरूप होने के कारण एवं स्वयं के द्वारा समर्पित-भोग को प्रभु द्वारा अंगीकार करने के द्वारा उनका महाप्रसादरूप होने के कारण परमसौभाग्यकारी बना है। नासिका तो उनके स्वरूप की सुगंध की ही गंध लेती है। (जानना चाहिए कि प्रभु के श्रीअंग में एक विशिष्ट प्रकार की सुंगध विद्यमान रहती है। यह 'अगुर' की सुगंध है। इस प्रकार का वर्णन श्रीमद्-भागवत के 'भ्रमरगीत' में श्रीगोपीजनों ने उद्धव जी से किया है। देखें श्री०भा० १०/४७/२१ 'भुजमगुरुसुगंधं। इसी प्रकार पूतनावध के प्रसंग में भी वर्णन आता है कि प्रभु द्वारा पूतना-वध किए जाने के पश्चात् समस्त व्रजमंडल में अगुर की सुगंध फैल गई थी। धूमश्चागुरुसौरभं श्री०भा० १०/६/३४। अथवा नासिका भगवान द्वारा उपभुक्त पुष्पादि की सुगंध की गंध लेती है। त्वचा भी उनके ही श्रीअंग के स्वरूप का अथवा उनसे संबंधित वस्तु का ही स्पर्श करती है। कर्ण भी उनके वचन या गुणों का ही श्रवण

---

१. पुष्टेति पाठः।

करते हैं। इसी प्रकार कर्मेंद्रियाँ भी भगवान से संबंधित कार्य ही करती हैं, न कि किसी भी प्राकृतविषय को ग्रहण करती हैं। मिलाएँ श्री०भा० १०/८०/३ इस प्रकार तादृशी-भगवदीयों के समस्त लौकिककार्य भगवान के निमित्त ही हैं। अतः उनमें प्राकृतविषयों को ग्रहण करने का सर्वथा अभाव ही है, इसलिए ऐसे भगवदीयों के संग से इस जीव के भी समस्त पदार्थों का वहीं भगवान में विनियोग संपन्न होता है, यह तात्पर्यार्थ है। इससे समझना चाहिए कि, समर्पण करने के पश्चात् प्रभुसंबंध के बिना कोई भी कार्य सर्वथा नहीं करने चाहिए। क्योंकि ऐसा करने पर भगवान से अतिरिक्त इतर-संबंध हो जाने से उनके दोषों का संक्रमण स्वयं को हो जाता है और इससे 'बहिर्मुखता' आती है एवं 'स्वधर्म की हानि' होती है, यह भाव बताया है। ऐसा होने पर श्रवणादि भी तादृशी भगवदीयों के मुख से ही सुनने चाहिए, दूसरों से नहीं, यह भी सूचित किया है। क्योंकि दूसरों के द्वारा किए श्रवण में साक्षात् पुरुषोत्तम से संबंध का अभाव है। और, यहाँ मूल कारिका में आए 'वस्तु' शब्द से यह समझना चाहिए कि, कदाचित् बाहरी संसर्ग होने पर भी ऐसे बहिर्मुखों के द्रव्य एवं अन्न-आदि तो सर्वथा ग्रहण नहीं करने चाहिए, यह द्योतित कर रहे हैं। इस प्रकार लौकिकदेह के निर्वाहादि एवं वैदिक भी जो कुछ है, वह सभी समर्पित करके ही कार्यान्वित करने चाहिए, न कि असमर्पित से, यह भी बता रहे हैं॥ ४ ॥

ननु स्वस्य तु समर्पणं जातम्, परन्तु यावत्पर्यन्तं दारादीनां समर्पणं प्रत्येकं न भवेत्, तावत्पर्यन्तं तत्सम्बन्धस्य बाधकत्वमाशङ्क्य तत्र तदभावप्रकारमाहुः निवेदिभिरिति।

निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः।
न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम्॥ ५ ॥

स्वसम्बन्धि सर्वं समर्प्यैव प्रभुसेवां कुर्यात्, न तु तन्मध्ये किञ्चिदप्यर्धं स्थापयित्वेति समर्पणमर्यादा। सा पूर्वमपि निवेदिभिस्तथैव कृता, आधुनिकैरपि तथैव कर्तव्येति शेषः। एवं सति स्वात्मना सह दारादीनामपि समर्पणं जायते। तेषामनुकूलत्वे सेवोपयोगित्वेन संसर्गे न कोपि दोषप्रसङ्गः। प्रतिकूलत्वे त्याग एव कर्तव्य इत्येतत्सर्वं 'सर्वेषां प्रभुसम्बन्ध' इति श्लोके नवरत्ने प्रभुचरणैरेव स्फुटीकृतम्। सेवाधिकारस्तु विशेषतः पृथगङ्गीकारे भविष्यति। एतेन यत्र दारादीनामात्मदेहार्धभूतानामपि संसर्गस्य स्वात्मना सह समर्पितत्वेन तत्रापि सेवोपयोगित्वेनैव न बाधकत्वम्, अन्यथा तथात्वमेव, तत्रान्येषामतादृशानां तथात्वे किं वाच्यमिति कैमुतिकन्यायोपि सूचितः।

यहाँ एक शंका यह होती है कि, स्वयं का समर्पण तो हो गया परंतु जब तक पत्नी-आदि प्रत्येक का समर्पण नहीं होता, तब तक उस संबंध से बाधकता तो होती ही है, ऐसी आशंका कर उसे निवृत्त करने का प्रकार **निवेदिभिः** इन शब्दों से कह रहे हैं।

स्वयं से संबंधित समस्त वस्तुओं को भगवान को समर्प कर ही प्रभुसेवा करनी चाहिए। न कि ऐसी स्वयं से संबंधित वस्तुओं का अर्धभाग अथवा एक अंश भी असमर्पित रख कर शेष बची वस्तु समर्पित करे। यह समर्पण की मर्यादा है। वह मर्यादा पूर्व में भी निवेदित-जनों द्वारा उसी प्रकार निभाई गई है, अतः आधुनिक-जीवों को भी वैसे ही करना चाहिए, यह शेष रह जाता है। ऐसा होने पर स्वयं के साथ पत्नी-आदि का भी समर्पण हो जाता है। पत्नी-आदि के अनुकूल एवं सेवा में उपयोगी होने पर तो उनसे संसर्ग में कोई भी दोष का प्रसंग उपस्थित नहीं होता है। प्रतिकूल होने पर उनका त्याग ही करना चाहिए, यह सभी "सभी का प्रभुसंबंध" इस नवरत्नग्रंथ के तीसरे श्लोक के विवरण में प्रभुचरणों ने स्फुट किया है। सेवा का अधिकार तो विशेषरूप से पृथक-अंगीकार होने पर प्राप्त होता है। इस स्पष्टीकरण से यह जानना चाहिए कि, जहाँ स्वयं के अर्धभूत-अंग पत्नी-आदि का भी संसर्ग बाधक इसलिए नहीं है क्योंकि वे स्वयं के साथ समर्पित हैं एवं उस पर भी सेवोपयोगी हैं, अन्यथा तो उनका संसर्ग भी बाधक है, वहाँ अन्य ऐसे बहिमुखों का संसर्ग बाधक हो जाने में क्या कहना? यह कैमुतिकन्याय भी सूचित किया है।

अथवा, निवेदिभिस्तादृशैः सर्वथा प्रपन्नैः सह सा पूर्वोक्ता मर्यादा कर्तव्या, किन्तु सर्वमेव स्वकीयं समर्प्य सर्वेषां भगवत्येव विनियोगं कुर्यादिति दुष्टसङ्गो निवारितः। एतेनासमर्पितानां सङ्गं त्यक्त्वा सर्वथा प्रपन्नैः सह सङ्गः कार्य इत्युक्तम्। ननु यदि दारादीनां सेवाधिकारो विशेषतः पृथक् ब्रह्मसम्बन्धकरणेनैव भवति, तदा स्वात्मना सह समर्पणस्य किं प्रयोजनं तत्राहुः न मतमिति। अयं भावः। जीवस्यात्मदेहसम्बन्धिदारादिधनपर्यन्तं यद्वस्तु तत्सर्वं स्वस्वरूपान्तःपात्येवास्तीति सर्वेषां प्रत्यहमन्यत्र स्वार्थं वोपयोगस्य पूर्वं जायमानत्वात्तस्मिन्सत्येव तन्मध्ये केवलमात्मनः समर्पणं सामिभुक्तस्य तद्भवति, तद्देवदेवस्य प्रभोर्मतं न। देव एव स्वयं निर्दुष्टो निर्दुष्टवस्तुन एव भोक्ता भवति। तस्याप्ययं देवः सर्वोत्कृष्टः। यः सर्वोत्कृष्टः स सर्वथा निर्दुष्टपदार्थस्यैवोपभोगं करोति। निर्दुष्टत्वं तु सर्वांशेनान्यसम्बन्धत्यागेन केवलं तदीयत्वकरणेनैव भवतीति तेषामन्यत्रोपयोगे विद्यमान एव तन्मध्ये केवलात्मसमर्पणस्य सर्वांशेन स्वकीयत्वाभावात् सामिभुक्तत्वेनोपभोगार्थं न सम्मतमित्यर्थः। यत्रैतत्प्रकारकसमर्पणस्यैव सामिभुक्तत्वम्, तत्र प्रमादतः स्त्रीबालादिभुक्तावशिष्टस्य निषेधस्तु प्रमाणसिद्ध इति तस्य सामिभुक्तत्वेनासम्मतत्वे किं वाच्यम्। किञ्च, दासस्याप्यसमर्पितवस्तुसम्बन्धस्य बाधकत्वात्स्वधर्महानिप्रसङ्गे स्वानुपयोगित्वेन तादृशं समर्पणं प्रभोर्न मतमित्यपि ज्ञेयम्॥ ५ ॥

---

१. संबन्धाभावेनेति पाठः।

अथवा यों समझें कि, **निविदिभिः** अर्थात् तादृशी वैष्णवों के संग अर्थात् सर्वथा-शरणागतों के साथ पूर्व में कही उस मर्यादा का पालन करना तो चाहिए ही, किंतु समस्त स्वकीय वस्तुओं को समर्प कर एवं सभी का भगवान में विनियोग करना चाहिए, इससे दुष्टसंग निवारित होता है। इससे यह ज्ञात होता है कि, असमर्पितों का संग त्याग करके सर्वथा शरणागतों का संग करना चाहिए, यह कहा है। यहाँ एक शंका यह होती है कि, यदि पत्नी-आदि का सेवा का अधिकार विशेषरूप से पृथकतया ब्रह्मसंबंध द्वारा ही प्राप्त होता है, तब स्वयं की आत्मा सहित उनके भी समर्पण का क्या प्रयोजन है? तो इसका समाधान **न मतम्** इस शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ भाव यह है कि, जीव की आत्मा एवं देह से संबंधित पत्नी-आदि धनपर्यंत जो वस्तुएँ हैं, वह सभी वस्तुएँ स्वयं के स्वरूप के अंतर्गत ही हैं, भिन्न नहीं हैं। एवं उन सभी वस्तुओं का प्रतिदिन अन्यत्र या स्वयं के लिए उपयोग पूर्व में हो चुका है, अतः ऐसे में केवल आत्मा का ही समर्पण सामिभुक्त-समर्पण हो जायेगा। एवं ऐसा आधा समर्पण देवाधिदेव प्रभु को स्वीकार्य नहीं है। जहाँ साधारण देव ही निर्दुष्ट होते हैं एवं निर्दुष्ट पदार्थों के ही भोक्ता होते हैं, वहाँ उन देवों के भी ये देव तो सर्वोत्कृष्ट हैं। जो सर्वोत्कृष्ट है, वह सर्वथा निर्दुष्ट पदार्थ का ही उपभोग करता है। निर्दुष्टता तो सर्वांशरूप से अन्य संबंध के त्यागद्वारा केवल भगवदीयत्व संपादित करने से ही होती है, अतः उनका यदि अन्यत्र उपयोग विद्यमान है, तो इसमें केवल आत्मा का समर्पण–सर्वांश में स्वकीयता का अभाव होने के कारण एवं सामिभुक्त होने के कारण–भगवद्-उपयोग के लिए संमत नहीं है, यह अर्थ है। जहाँ इस प्रकार का ही समर्पण, सामिभुक्त-समर्पण सिद्ध हो जा रहा हो, वहाँ प्रमादवश स्त्री-बालक आदि के द्वारा भोग किए गये पदार्थ के अवशिष्ट का निषेध तो प्रमाणसिद्ध है। अतः ऐसे पदार्थों का समर्पण सामिभुक्त हो जाने के कारण असंमत हो जाने में क्या कहना? और दास के लिए भी असमर्पित-वस्तु का संबंध बाधक होने के कारण स्वधर्म की हानि होती है। अतः ऐसी वस्तु स्वयं के लिए अनुपयोगी होने के कारण वैसा समर्पण प्रभु को स्वीकार्य नहीं है, यह भी जानना चाहिए ॥ ५ ॥

तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्।
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः ॥ ६ ॥
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।
सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः।

तस्मादादावेव सर्ववस्तूनां दारादिधनपर्यन्तानां देहप्राणेन्द्रियादीनां समर्पणं कर्तव्यम्, अत्र प्रयोजनं सर्वकार्ये ऐहिकपारलौकिककार्ये। ऐहिकं भगवत्सेवामात्रोपयोगित्वात्तत्तदिन्द्रियविषयत्वेन स्त्रीपुत्रादिग्रहणं तन्निर्वाहादिकं च। पारलौकिकं तु सर्वेषां पूर्वोक्तानां साक्षाद्भगवदर्थोपयोगरूपकार्यम्, तदर्थं यथा भगवत्येव सर्वेषां विनियोगो भवेत्, नान्यत्र, तथान्यविनियोगादिकं त्याजयित्वा तद्विनियोगार्थमेव सर्वेषां वस्तूनां देहादिदारान्तानां तत्तत्पदार्थानां समर्पणं कर्तव्यमित्यर्थः। एवं सति सेवोपयोगित्वेनात्मशोधकत्वेन साक्षादलौकिकरसात्मकत्वेन प्रभूपभुक्तं तद्दत्तमहाप्रसादत्वेनैव तत्तत्पदार्थेन तावन्मात्रदेहादिनिर्वाहादिकमपि कर्तव्यम्, न तु भोगत्वेन लौकिकाद्युत्साहेन च अधिकव्ययादिकमित्यपि ज्ञापितं भवतीति सर्वमनवद्यम्।

अतः सर्वप्रथम ही, देह-प्राण-इंद्रिय आदि का पत्नी-आदि से धनपर्यंत समस्त वस्तुओं का समर्पण करना चाहिए। यहाँ मूल कारिका में आए **सर्वकार्ये** शब्द देने का प्रयोजन यह है कि, लौकिक-अलौकिक समस्त कार्यों में सर्वप्रथम प्रभु को समर्पण करके पश्चात् स्वयं उपयोग करना चाहिए। लौकिक कार्यों में स्त्रीपुत्रादि का ग्रहण एवं उनका निर्वाह-आदि भी इसलिए करना है क्योंकि वे भगवत्सेवा में उपयोगी हैं। उसी प्रकार इंद्रियों के समस्त कार्य भी भगवद्-उपयोग की बुद्धि से ही करने हैं। अलौकिक-कार्य तो, पूर्व में कहे समस्त पदार्थों का साक्षात् भगवान के लिए उपयोगरूप कार्य हैं। अतः इसे सिद्ध करने के लिए जिस प्रकार भगवान में ही सभी का विनियोग हो-अन्यत्र नहीं, उस प्रकार अन्य विनियोग-आदि का त्याग करवा कर भगवत्सेवा में विनियोग करने के लिए ही पत्नी-देह आदि समस्त वस्तुओं का एवं उन-उन पदार्थों का समर्पण करना चाहिए, यह अर्थ है। ऐसा होने पर, सेवोपयोगी एवं आत्मशोधक होने के कारण साक्षात् अलौकिक रसात्मक हुआ एवं प्रभु द्वारा उपभुक्त एवं प्रभु द्वारा दिए गये महाप्रसादरूप होने के कारण उन-उन एवं उतने ही समर्पित पदार्थों से देहादि का निर्वाह भी करना चाहिए, न कि भोग करने के हेतु से। टीकाकार के कहने का अर्थ यह है कि चूँकि समर्पित किया गया प्रसाद आत्मशोधक है एवं प्रभु द्वारा दिया गया महाप्रसाद है अतः उसे भोग-दृष्टि से नहीं खाना चाहिए अपितु देह-निर्वाह हो जाय-ऐसी दृष्टि से खाना चाहिए। एवं लौकिक कार्यों के उत्साह से धन का अधिक व्यय भी नहीं करना चाहिए, यह भी ज्ञापित होता है, यह सभी कुछ उपयुक्त जान लेना चाहिए। इसी प्रकार लौकिक में भी धन का व्यय अधिक नहीं करना चाहिए।

ननु निवेदितस्य सर्ववस्तूनां समर्पणेन भगवदीयत्वे जाते तद्ग्रहणनिषेधः शास्त्रेषु श्रूयते, तत्राहुः दत्तेति। स्पष्ट एवार्थः। इदं भिन्नमार्गपरं वचनम्, न तु स्वमार्गीयम्। स्वमार्गप्रकारस्तूच्यते सेवकानामिति। सेवकानां दासानां यथा व्यवहारः लोके लौकिके प्रसिद्धो वर्तते। तथा हि। सेवकस्य दासस्य सर्वं प्रभोरेव, गृहादिकमपि प्रभोरेव, न तु स्वस्येत्यखिलं तदधीनमिति। तस्यायं धर्मः।

यत्सर्वेषां तत्रैवोपयोगकरणेनाहर्निशं तदेकपरतया यावद्भोगसामग्र्यादिकमपेक्षितम्, तत्तत्सामयिकं तत्सर्वं सम्पाद्य तदुपयुक्तं करोति। ततस्तदुपयोगे जाते स्वदेहादीनां दारादीनां च सार्थकत्वे सम्पन्ने तदुपयोगानवसरे कृपया तद्दत्तप्रसादस्य पूर्वोक्तधर्मरूपत्वात्तेनैव देहनिर्वाहादिकं तत्सम्बन्ध्यैहिकं च तन्मात्रोपयोगि करोति, तथा निवेदिनापि सर्वं समर्प्यैव कार्यम्। यस्य यादृक्प्रकारेण हि उपयोगः सम्पन्नो भवति, तादृक्प्रकारेणैव स्वप्रभावुपयुक्तं कृत्वा तदुपयोगानवसरे तद्दत्तत्वात्पूर्वोक्तधर्मरूपेण तदुपभुक्तपदार्थेन तावन्मात्रोपयोगि देहनिर्वाहादिकमन्यदप्यैहिकं कार्यं कुर्यात्, न तु भोगादिभावेनेति स्वमार्गप्रकार उक्तः।

यहाँ शंका होती है कि, निवेदित समस्त वस्तुएँ समर्पण द्वारा भगवान की हो जाती हैं, अतः शास्त्रों में उनको ग्रहण करने का निषेध सुना जाता है। ऐसी शंका का समाधान **दत्त** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। इसका अर्थ तो स्पष्ट ही है। यह वचन भिन्नमार्ग के हैं, स्वमार्गीय नहीं। स्वमार्ग का प्रकार तो **सेवकानां** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। सेवकों अर्थात् दासों का जैसा व्यवहार लोक में अर्थात् लौकिक में प्रसिद्ध है, उस प्रकार से प्रभु के सेवक की भाँति रहना चाहिए। एवं वह व्यवहार ऐसा है कि, पुष्टिमार्गीय-सेवक के अर्थात् दास के सभी कुछ प्रभु ही हैं, उसके घर-आदि भी स्वयं के न होकर प्रभु के ही हैं। अतः समस्त वस्तुएँ उनके अधीन हैं। उसका यही धर्म है कि, सभी का अपने स्वामी में ही उपयोग करके अहर्निश अपने स्वामी से एकमेक होने के कारण जो कुछ सामग्री-आदि अपेक्षित हैं - उन सभी को तत्तत् समय संपादित करके वह उनके उपयोगी करता है। तद्नन्तर अपने स्वामी के उपयोग में आ जाने के कारण स्वयं के देहादि की एवं पत्नी-आदि की सार्थकता संपन्न होती है, एवं भगवान के उपयोग के पश्चात् उनकी कृपा द्वारा, उनके द्वारा दिया गया प्रसाद पूर्व में कहा आत्मशोधक धर्मवाला होने के कारण उससे ही देहनिर्वाह-आदि एवं उससे सबंधित लौकिक वस्तुओं को उसके उपयोगी करता है। ठीक इसी प्रकार आत्मनिवेदियों के द्वारा भी सभी कुछ समर्प कर ही करना चाहिए। जिसका जिस प्रकार से उपयोग संपन्न होता हो, उस प्रकार से ही उसे स्वयं के प्रभु के उपयुक्त करके और भगवान के उपभोग के पश्चात् ..... उनके द्वारा दी गई वस्तु पूर्व में कही साक्षात्-अलौकिक रसात्मकधर्म वाली होने के कारण ..... उनके द्वारा उपभुक्त पदार्थ से मात्र देहनिर्वाह के लिए उपयोगी एवं अन्य लौकिक कार्य करने चाहिए ..... न कि भोगादि करने के भाव से - यह स्वमार्ग का प्रकार कहा है।

एवं स्थितौ सर्वेषां निर्दुष्टत्वं भवेदित्याहुः सर्वेषामिति। सर्वेषां पूर्वोक्तानां देहप्राणेन्द्रियादीनां ततस्तदनन्तरं तादृक्प्रकारकस्थित्यनन्तरं ब्रह्मता भवति। सर्वेषु तदीयत्वस्फूर्त्या तदर्थमेवोपयोगकरणात्प्राकृताध्यासनिवृत्त्या सच्चिदानन्दरूपता तिरोहितानन्दस्य प्रकटतत्रितयात्मकता भवतीत्यर्थः। एतदेवोक्तं 'ततः संसारदुःखस्ये'त्यत्र 'वस्तुस्वभावाद्भवत' इति। किञ्च, तद्दत्तमहा-प्रसादस्यापि तथात्वेन ग्रहणाद्बाह्याभ्यन्तः शुद्धया मायांशनिवृत्त्या निर्दुष्टता भवेदित्यर्थः। तदुक्त'मुच्छिष्टभोजिन' इति। एतेन ब्रह्मणः पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वाद्देहप्राणेन्द्रियादिषु तद्रूपत्वे सम्पन्ने पुनः सर्वदा तत्र साक्षात्पुरुषोत्तमावेशस्तिष्ठेदित्युक्तं भवति। किञ्च, ब्रह्मणि यथा विरुद्धधर्मेष्वपि दृश्यमानेषु निर्विकारत्वम्, तथा तादृशेषु लोकसंग्रहार्थं लौकिकवैदिकधर्मादिष्वपि सत्सु निर्विकारत्वमेव, न तु किमपि सविकारत्वमित्यपि ज्ञापितम्। पुनस्ते धर्मा दोषरूपत्वेन गणनीया न भवन्ति, कपटरूपत्वात्॥ ७ ½ ॥

इस प्रकार रहने पर सभी की निर्दुष्टता हो जाती है, यह **सर्वेषां** शब्द से कह रहे हैं। **सर्वेषां** अर्थात् पूर्व में कहे देह-प्राण-इंद्रिय आदि की **ततः** अर्थात् ऐसे समर्पण वाली स्थिति हो जाने के पश्चात् **ब्रह्मता** हो जाती है। सभी में तदीयत्व की स्फूर्ति 'तदीयत्व की स्फूर्ति' का अर्थ है - संसार की समस्त वस्तुएँ भगवान की हैं' - इस प्रकार की अनुभूति होना। द्वारा भगवान के लिए ही सभी का उपयोग करने के द्वारा प्राकृत अध्यासों 'अध्यास' का अर्थ होता है 'भ्रम'। जब जीव को अविद्या का संयोग होने के कारण स्वयं की देह में स्वयं के ही स्वामित्व का मिथ्या भास होता है एवं वह भगवान के स्वामी होने को नहीं स्वीकारता तो उसे अध्यास अथवा भ्रम कहते है। ये अध्यास पाँच प्रकार के हैं। १) इंद्रिय-अध्यास २) देह-अध्यास ३) प्राण-अध्यास ४) अन्तःकरण-अध्यास ५) स्वरूप-विस्मृति। की निवृत्ति हो जाती है एवं सच्चिदानंदरूपता हो जाती है। सच्चिदानंदरूपता का अर्थ है, तिरोहित हुए आनंद के प्रकट हो जाने से त्रितयात्मकता हो जाती है, ज्ञात हो कि प्रभु का एक नाम 'सच्चिदानंद' है। इसमें तीन पद हैं - १) सत् २) चित् ३) आनंद। जीव में 'सत्' एवं 'चित्' तो प्रकट रूप से है परंतु 'आनंद' तिरोहित है। जीव के द्वारा लौकिक में किए जाने वाले समस्त प्रयास इसी आनंद की खोज में हैं। किंतु वास्तविक आनंद की प्राप्ति तो प्रभु-प्राप्ति में ही है और जब उसे इसकी प्राप्ति हो जाती है तब वह भी 'त्रितयात्मक' अर्थात् 'सच्चिदानन्दात्मक' हो जाता है, यह अर्थ है। यह अर्थ है। यही बात ''इससे संसार के दुःख की निवृत्ति (सि.मु./२)'' के विश्लेषण में ''वस्तुस्वभाव से होती है (उक्त श्लोक पर गुंसाईंजी की विवृति)'' इस पद में 'वस्तु' शब्द का तात्पर्य भगवान से है। उनका स्वभाव आनंदमय है अतः भगवान के आनंमदमय-स्वभाव से जीव में भी आनंद प्रकट हो जायेगा यह अर्थ है। इस वाक्य से कही है और, भगवान के द्वारा दिया गया महाप्रसाद भी अलौकिक होने के कारण ग्रहण करने से बाह्याभ्यंतर-शुद्धि के द्वारा माया के अंश की निवृत्ति हो जाती है एवं इससे निर्दुष्टता हो जाती है, यह अर्थ है। यही बात ''आपकी जूठन खाने वाले दास माया से तर जाते है (श्री.भा.११/६/४६)'' इस वाक्य द्वारा कही गई है। उपर जो ब्रह्मता वाली बात कही,

---

१. तदुपयुक्तेति पाठः।

उससे यह समझना चाहिए कि ब्रह्म चूँकि पुरुषोत्तम का अधिष्ठान है अतः यदि देह-प्राण-इंद्रिय-आदि में ब्रह्मरूपता संपन्न होती है, तब पुनः वहाँ सर्वदा साक्षात् पुरूषोत्तम का आवेश रहता है, यह कहा जा रहा है। और जैसे ब्रह्म में विरूद्ध-धर्म दिखाई देने पर भी निर्विकारत्व ही रहता है, उसी प्रकार भगवदीयों में लोक संग्रह के लिए लौकिक-वैदिक धर्म दिखाई देने पर भी वे निर्विकार ही होते हैं, न कि उनमें कुछ भी विकार होता है, यह भी बता रहे हैं। एवं, चूँकि भगवदीयों के समस्त लौकिकवैदिक कार्य कपटरूप से किए जाते हैं, अतः पुनः उन लौकिकवैदिक दोषों को दोषरूप से गिनना योग्य नहीं होता ॥ ७ १/२ ॥ इसे विशेष समझने के लिए देखें-लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात् तेषु नान्यथा। (पु.प्र.म./२०)

इममेवार्थं दृष्टान्तेन प्रकटीकुर्वन्त उपसंहरन्ति गङ्गात्वमिति।

गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना।
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि ॥ ८ १/२ ॥

यथा क्षुद्रनदीनां जलेषु बहवो दोषाः सन्ति, तेषां गङ्गासम्बन्धे सति तत्तन्नदीनाम्नामपि लुप्तत्वाद्गङ्गात्वमेव भवति, गङ्गात्वे सम्पन्ने तत्तद्गुणदोषादिवर्णनापि निरूपयितुं योग्या न भवति, तज्जलानां गङ्गासम्बन्धात्ते स्वयमेव नष्टा इत्यभावादेवानिरूप्यत्वमुक्तम्, तद्वत्तथात्रापि ब्रह्मसम्बन्धानन्तरमेवंप्रकारकस्थितौ ब्रह्मतायां सम्पन्नायां ते दोषाः प्राकृतांशोद्भूताः स्वयमेव लुप्ता भवन्तीति तेषामप्यनिरूप्यत्वमुक्तम्। तादृशानां लोकसंग्रहार्थं दृश्यमानानामपि केषाञ्चित्प्राकृतरीतिर्धर्माणां[1] कपटरूपत्वाद्दग्धपटन्यायेनानिरूप्यत्वमेवेति सर्वमनवद्यम्। एवं जीवस्य तिरोहितानन्दस्य साधनसहितं पुनर्ब्रह्मसम्पत्तिपूर्वकं साक्षात्पुरुषोत्तमप्राप्तिरूपफलयोग्यता निरूपिता ॥ ८ १/२ ॥

ईश्वरवचननिरुक्तिः कर्तुं केनेह शक्यास्ति।
यदियं तदर्थरीतिः स्फुरिता मे तत्कृपैव तस्यैषा ॥ १ ॥
मद्बाल्ये नो देया दृष्टिः किन्तु स्वकीयत्वे।
मम तु तयैव भविष्यति मार्गस्थितिरन्यथा हि नो भविता ॥ २ ॥
इति निश्चयेपि शरणं प्रभो भवच्चरणपङ्कजान्येव।
सततं मम तेनैव त्वत्करुणाशापि भाविनी फलिता ॥ ३ ॥
इति श्रीव्रजोत्सवकृतसिद्धान्तरहस्यविवृतिः सम्पूर्णा।

इसी अर्थ को दृष्टांत द्वारा प्रकट करते हुए **गङ्गात्वं** इन शब्दों से उपसंहार कर रहे हैं।

जिस प्रकार क्षुद्र नदियों के जल में अनेक दोष होते हैं, किंतु उनका गंगा से संबंध हो जाने पर उन उन नदियों का नाम भी लुप्त होकर वे गंगा ही हो जाती हैं। यहाँ तक कि इस प्रकार उनके गंगामय हो जाने के पश्चात् उनके गुण-दोष आदि का वर्णन भी निरूपण के योग्य नहीं रह जाता क्योंकि वे दोष उन जलों का गंगा से संबंध हो जाने के कारण स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं। अतः उन नदियों का अस्तित्व ही न रह जाने से उनका निरूपण नहीं होता, यह कहा है। **तद्वत्** अर्थात् उसी प्रकार, ब्रह्मसंबंध के पश्चात् इस प्रकार की स्थिति में ब्रह्मता संपन्न हो जाने पर प्राकृत-अंश से उद्भूत हुए ये दोष स्वयं ही लुप्त हो जाते हैं। अतः वे भी अनिरूपणीय कहे गये हैं। यह भी जान लेना चाहिए कि, ऐसे तादृशीयों के कुछ कार्य लोक-संग्रह के लिए प्राकृतरीति से देखे भी जाते हों, तो भी वे 'दग्धपटन्याय' से कपटरूप ही होते हैं अतः उनके दोष अनिरूपणीय ही होते हैं, इस प्रकार उपर कही समस्त व्यवस्था निष्कंटक है। यहाँ दग्ध-पट न्याय को समझें। दग्ध का अर्थ है, जला हुआ एवं पट का अर्थ होता है 'वस्त्र'। जिस प्रकार एक बार यदि वस्त्र जल जाए तो सर्वप्रथम तो उसका स्वरूप ही नष्ट हो जाता है एवं तत्पश्चात् वह किसी भी निरूपण के योग्य नहीं रहता। उसी प्रकार यहाँ ब्रह्मसंबंध के पश्चात् जीव के गुणदोष भी विचारणीय नहीं रह जाते, यह अर्थ है। इस प्रकार तिरोहित हो गया है आनंद जिसका ऐसे जीव की साधनसहित पुनः ब्रह्मसंपत्तिपूर्वक साक्षात् पुरुषोत्तम की प्राप्तिरूप फल की योग्यता निरूपित की गई ॥ ८ १/२ ॥

ईश्वरवचन कहने में यहाँ कौन समर्थ है? किंतु
यह जो उनकी अर्थरीति मुझे स्फुरित हुई है, वह उनकी कृपाद्वारा ही है॥ १ ॥
अतः मुझ बालक पर अन्यथा दृष्टि न दें, किंतु स्वकीय जानें एवं
मेरी मार्ग में स्थिति तो उनकी कृपाद्वारा ही होगी, अन्यथा नहीं॥ २ ॥
यह निश्चय होने पर भी हे प्रभु! आपके चरणकमल ही मेरी शरण हैं।
उसी से तेरी करूणा की आशा भी मुझे निरंतर फलित होगी ॥ ३ ॥
यह श्रीव्रजोत्सव द्वारा की गई 'सिद्धांरहस्यविवृत्ति' संपूर्ण हुई।

१. कर्मणामिति पाठः।

श्रीकृष्णाय नमः।

सिद्धान्तरहस्यम्।

श्रीगोकुलोत्सवकृतविवृतिसमेतम्।

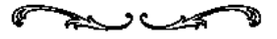

पिबत श्रीमदाचार्यचरणाम्बुजयोर्मधु।
यद्ध्यानाद्ध्वान्तमाधूय मेधा मेधार्थमादधे॥

अथ साक्षाद्भगवान् 'स ऐक्षते'त्यादिश्रुत्या क्रीडार्थं नानास्वभावं जगदुत्पाद्य, तत्र साक्षात्स्वसेवोपयोगित्वेन प्रकटितानां वक्ष्यमाणप्रबलदोषविस्मृतस्वधर्माणां दैवजीवानां तत्रापि पुष्टिमार्गीयाणां उत्तरदलानुभवार्थमेव पृथक्कृतानां तत्र संसर्गवशादुपचीयमानं बाहिर्मुख्यं अवलोक्य तदुद्दिधीर्षया स्वसेवायामङ्गीकारार्थं स्वाज्ञयैव प्रादुर्भूतानां श्रीमदाचार्याणां 'शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदाः। भगवत्सेवने योग्या नान्य'इति वाक्यात्तन्निष्ठदोषाभावस्य ब्रह्मविद्यासम्पत्तेश्च तत्राधिकारसम्पादकत्वात्। प्रतिपादकानां तत्तच्छास्त्रोक्तानां मन्त्रादीनां 'कलौ दशसहस्राणी'त्यादिवाक्यात्तिरोहितदेवतावत्त्वादनधिष्ठितानां तदसाधकत्वात्कथमेतेषां दोषनिवृत्तिः, कथञ्च ब्रह्मविद्या-नैपुण्यम्, कथञ्च भगवत्सेवोपदेशः कर्तव्य इति विचारपरतां मत्वा स्वयं पुष्टिमार्गव्यवस्थां सकलमार्गेभ्यो भिन्नामेव ज्ञापयंस्तेषां फलदान-विलम्बासहिष्णुः स्वसिद्धान्तरहस्यं यदाज्ञापयत्, तदेव कदा कस्मिन्काले केन प्रकारेणाज्ञेति प्रकाशयन्तः श्रीमदाचार्यचरणाः स्वकीय-शिक्षार्थं प्रत्यक्षरविचारेण निरूपयितुं प्रतिजानते।

श्रीमदाचार्यचरणकमलों के मधु का पान करिए
जिनके ध्यान से बुद्धि अंधकार को चीरकर बुद्धि के अर्थ को ग्रहण करती है।

अथ साक्षात् भगवान ने 'उसने विचार किया (बृहदा० १/२/५)' इत्यादि श्रुति के अनुसार क्रीड़ा करने के लिए स्वयं के नाना स्वभाव को जगत में उत्पादित कर ..... वहाँ साक्षात् स्वयं की सेवा में उपयोगी होने के कारण दैवीजीवों को ..... जिन्हें आगे कहे जाने वाले प्रबलदोषों के कारण स्वधर्मों का विस्मरण हो गया है ..... एवं उस पर भी उत्तरदल के अनुभव के लिए (विप्रयोग) पृथक किए गये पुष्टिमार्गीयों की दुष्ट-संसर्ग से एकत्रित हुई बहिर्मुखता का अवलोकन करके ..... उनका उद्धार करने को इच्छा से स्वयं की सेवा में अंगीकार करने के लिए, ... स्वयं की आज्ञा से ही प्रादुर्भूत हुए श्रीमदाचार्यचरण को ..... ''शुद्ध, प्रसन्नचित्त एवं ब्रह्मविद्या में विशारद ही भगवत्सेवा के योग्य होते हैं, अन्य नहीं (सुबो.१/१/३)'' इत्यादि वाक्यों से ऐसे दैवीजीवों में रहे हुए दोषों का निर्मूलन एवं ब्रह्मविद्या की संपत्ति ही भगवत्सेवा के अधिकार की संपादिका है। उन-उन शास्त्रों में कहे गये भगवत्सेवा के प्रतिपादक मंत्रादि के देवता चूँकि ''कलौ दशसहस्राणी'' इत्यादि वाक्यों से तिरोहित हो गये हैं, ... अतः उन मंत्रों के देवता अब वहाँ अधिष्ठित नहीं हैं एवं वे मंत्र अब असाधक हो गये हैं। ..... अतः ऐसा होने के कारण अब इन जीवों के दोषों की निवृत्ति कैसे होगी? कैसे ये ब्रह्मविद्या में निपुण होंगे? एवं इन्हें भगवत्सेवा का उपदेश कैसे करना? ऐसे विचारमग्न मान कर ''स्वयं पुष्टिमार्ग की व्यवस्था समस्त मार्गों से भिन्न ही है'' यह बताते हुए उनके फलदान के विलंब को सहन न करने वाले भगवान ने स्वयं के सिद्धांतरहस्य की जब आज्ञा दी, तब कब? किस काल में? किस प्रकार से आज्ञा दी? इन सभी को प्रकाशित करते हुए श्रीमदाचार्यचरण स्वकीयों को शिक्षा देने के लिए प्रति-अक्षर के विचारपूर्वक निरूपण करने की प्रतिज्ञा कर रहे हैं।

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते॥ १॥

श्रावणस्येति। श्रवणस्य विष्णुदैवतत्वात्तदुपलक्षितमासस्यापि तथात्वमेव। अत एवास्योपनयनादौ निषिद्धत्वेपि वैष्णवदीक्षायां प्राशस्त्यं श्रूयते। 'श्रावणे सुखसम्पत्ति'रिति। तेन यथैतन्मासस्य दैवतं विष्णुः, तथा देवानां तत्रापि पुष्टिमार्गीयाणां प्रभुः साक्षाद्भगवानेवेति तेषां भगवदधीनत्वमेव, नतु कालाद्यधीनत्वमितरमार्गीयाणामिव। अतोहमेवैतेषां दोषनिवर्तको, न साधनान्तरापेक्षेति सूचितम्। ननु मास्तु साधनान्तरापेक्षा, भगवतैव दोषनिवृत्तौ सत्यां अङ्गीकर्तव्या इति चेत्, तत्राहुः अमले पक्ष इति। यद्यप्यमलत्वं पूर्णिमायामेव सर्वथा तमोनिवृत्तेः, तथापि अमोत्तरं चन्द्रकलासम्बन्धमात्रेण पक्षस्यामलत्वं न प्रमाणविरुद्धम्, क्रमशश्चन्द्रकलाविर्भावे तमोनिवृत्तिः प्रकाशाधिक्यमाह्लादश्च सिध्यति, तथैतेषामपि सम्बन्धमात्रेण तथात्वम्। क्रमशश्च सेवया तदाविर्भावे जातेऽनिष्टनिवृत्तिर्ज्ञान-वैशिष्ट्यं भजनानन्दानुभवश्च सेत्स्यतीति भावनीयम्।

श्रावणस्य इन शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। श्रवण मास के देवता विष्णु होने के कारण उनसे उपलक्षित मास भी वैष्णव ही है। अतः यह मास उपनयन-आदि लौकिक मांगलिक कार्यों में निषिद्ध होने पर भी वैष्णव-दीक्षा में प्रशंसनीय माना गया है। अतः 'श्रावण में सुखसंपत्ति' इस प्रकार के वाक्य भी प्राप्त होते हैं। इससे जिस प्रकार इस मास के देवता विष्णु हैं, उसी प्रकार देवों के देवता भी विष्णु हैं, उस पर भी पुष्टिमार्गीयों के प्रभु तो साक्षात् भगवान ही हैं, अतः वे भगवान के ही अधीन हैं न कि अन्य मार्गीयों की भाँति काल-आदि के अधीन। अतः भगवान कह रहे हैं कि "मैं ही इनके दोषों का निवर्तक हूँ, अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं है"-यह सूचित होता है। यहाँ एक शंका यह होती है कि, भले ही अन्य साधनों की अपेक्षा न हो तथापि क्या ये उचित नहीं होगा कि, भगवान द्वारा दोषनिवृत्त होने के पश्चात् ही उन्हें जीवों को अंगीकार करना चाहिए? ऐसी शंका होने पर **अमले पक्षे** इत्यादि शब्दों से समाधान कर रहे हैं। यद्यपि सर्वथा अंधकार की निवृत्ति होने के कारण पूर्णिमा होने पर ही पूर्णरूप से 'अमलता' होती है तथापि अमावस्या के पश्चात् चंद्रमा की कलाओं के संबंध होने मात्र से पक्ष की शनैः शनैः अमलता प्रमाणसिद्ध ही है। यहाँ समझने योग्य बात यह है कि, अमावस्या को तो पूर्ण अंधकार ही रहता है, किंतु अमावस्या के पश्चात् प्रत्येक दिन चंद्रमा की कलाएँ बढ़ती जाती हैं एवं उसी मात्रा में प्रकाश भी फैलता जाता है। टीकाकार इसी बात का आधार लेकर मूल कारिका में आए 'अमले पक्षे' का तात्पर्य समझा रहे हैं। अतः चंद्रकला का आविर्भाव होने पर क्रमशः अंधकार की निवृत्ति होती है, प्रकाश की अधिकता एवं आल्हादकता सिद्ध होती है, उसी प्रकार इन दैवीजीवों का भी भगवान से संबंध मात्र होने से ऐसा ही होता है। भगवत्सेवा द्वारा क्रमशः भगवान का आविर्भाव होने पर अनिष्ट की निवृत्ति, ज्ञान की विशिष्टता एवं भजनानंद का अनुभव होगा, यह भावना करनी चाहिए।

तत्क्रमसूचनार्थमाहुः एकादश्यामिति। सा ह्येकादशेन्द्रियशोधिका भगवदेकदैवत्या च। तथा सा यथा सर्वेन्द्रियदोषनिवृत्तिपूर्वकं तत्र तत्र भगवदावेशं सम्पादयति, तथा वक्ष्यमाणब्रह्मसम्बन्धानन्तरं सेवायां प्रवर्त्तस्य तत्तदिन्द्रियैर्भगवदीयं तत्तत्कार्यं कुर्वतो यत्र यत्र यथा यथा भगवदावेशः, तथा तथा तत्तद्दोषनिवृत्तिरिति सूच्यते। अनन्तरञ्च यथैकादश्यामेकादशेन्दुकलाविर्भावेन तमसि निवृत्तप्राये दिनत्रयानन्तरं पूर्णिमायां पूर्णेन्दुसम्बन्धः तथा सेवायां प्रवृत्तस्यापि पूर्वोक्तक्रमेणैकादशेन्द्रियेष्वपि सर्वदोषनिवृत्त्या भगवदाविर्भावे सिद्धेऽवशिष्टत्रिगुणात्मकदेहसम्बन्धमात्रप्रतिबन्धकदोषनिवृत्तौ पूर्णानन्दसम्बन्धः सूच्यते। तथा चोक्तं श्रीभागवते 'यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः। तथा तथा पश्यति तत्त्वसूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसंप्रविष्ट'मिति। भाष्ये च 'आवृत्तिरसकृदुपदेशा'दिति। श्रुतिश्च 'आत्मा वारे द्रष्टव्य' इत्यादि।

इनका क्रम सूचित करने के लिए **एकादश्यां** इन शब्दों से कह रहे हैं। यह एकादशी एकादश-इंद्रियों की शोधिका है एवं उसके देवता केवल भगवान ही हैं। एवं वह एकादशी जिस प्रकार समस्त इंद्रियों के दोष की निवृत्तिपूर्वक वहाँ-वहाँ भगवद्-आवेश का संपादन करती है, उसी प्रकार कहे जाने वाले ब्रह्मसंबंध के पश्चात् सेवा में प्रवृत्त होने वाले भगवदीय की, उन-उन इंद्रियों द्वारा वे[२] भगवदीय-कार्य करते हुए जहाँ-जहाँ, जैसे जैसे भगवद्-आवेश होता है, वैसे वैसे उसके दोषों की निवृत्ति होती है, यह सूचित कर रहे हैं। एवं इसके पश्चात् जिस प्रकार एकादशी में ग्यारह कलाओं से युक्त चंद्र के आविर्भाव द्वारा अंधकार निवृत्त होने के बाद तीन दिन के पश्चात् पूर्णिमा आने पर पूर्ण-चंद्रमा से संबंध होता है, उस प्रकार सेवा में प्रवृत्त हुए जीव को भी पूर्व में कहे क्रमानुसार एकादश इंद्रियों के भी समस्त दोषों की निवृत्ति से भगवान का आविर्भाव सिद्ध हो जाने के पश्चात् अवशिष्ट जो राजस-तामस-सात्विक ऐसी त्रिगुणात्मक देह है उससे संबंधित प्रतिबंधक-दोषों की निवृत्ति हो जाने पर पूर्णानंद-भगवान से संबंध हो जाता है, यह सूचित कर रहे हैं। यही श्रीमद्-भागवत में "उद्धवजी! मेरी परमपावन लीला कथा के श्रवण-कीर्तन से ज्यों-ज्यों चित्त का मैल धुलता जाता है त्यों त्यों उसे सूक्ष्मवस्तु के दर्शन होने लगते हैं। जैसे अंजन द्वारा नेत्रों का दोष मिटने पर उनमें सूक्ष्म वस्तुओं को देखने की शक्ति आने लगती है (श्री.भा.११/१४/२६)" इस श्लोक में कहा गया है। भाष्य में भी "अध्ययन की हुई उपासना का वारंवार अभ्यास करना चाहिए (ब्र.सू.४/१/१)" यह कहा है। श्रुति भी "यह परमात्मा ही देखने योग्य है (बृहदा.४/५/६)" इत्यादि कह रही है।

ननु तथापि कालस्यासुरत्वात्कथं तत्सम्बन्धमात्रेण दोषनिवृत्तिरिति चेत्तत्राहुः महानिशीति। सा हि आसुलीवेला। असुराणामतिप्राबल्य एव हि भगवान्भक्तरक्षार्थमाविर्भवति। अक्लिष्टकर्मत्वाद्भगवतः। पूर्वमपि तथैवाविर्भावात्। एवं सति यथा पूर्वमाविर्भूय क्रमेणासुरा हताः, तथा क्रमेण दोषनिवृत्तिं विधास्यामीति भावः। तथापि आविर्भाववैजात्यात् कथं पूर्ववत्कृतिसम्भवः, तत्राहुः साक्षादिति। नन्वस्तु साक्षादाविर्भावः, अंशादिना तथात्वेपि कथं पूर्वसाजात्यम्, तत्राहुः भगवतेति। षड्गुणपूर्णेन साक्षादाविर्भूय पूर्वोक्ततत्तदभिप्रायज्ञापनपूर्वकम्, अत एव यदुक्तं तत्प्रत्यक्षरविचारेण मयोच्यते॥

यहाँ शंका करते हैं कि, चूँकि काल तो आसुरी है अतः केवल भगवान से संबंध हो जाने से दोषों की निवृत्ति कैसे होगी? तो वहाँ **महानिशि** इन शब्दों से समाधान कर रहे हैं। महानिशि निश्चित ही आसुरी वेला है, किंतु असुरों की अति प्रबलता होने पर ही भगवान भक्तों की रक्षा के लिए आविर्भूत होते हैं। क्योंकि भगवान 'अक्लिष्टकर्मा' हैं। भगवान का एक नाम 'अक्लिष्टकर्मा' भी है। चूँकि भगवान

सर्वसामर्थ्यवान हैं अतः उन्हें किसी भी कार्य को करने में किसी भी प्रकार का क्लेश नहीं होता अर्थात् कठिनाई नहीं होती। इसी कारण उन्हे 'अक्लिष्टकर्मा' कहा जाता है। क्योंकि पूर्व में भी भगवान इसी प्रकार आविर्भूत हुए थे। ऐसा होने पर – भगवान कह रहे हैं कि जैसे पूर्व में आविर्भूत होकर क्रम से असुरों का वध किया था, वैसे क्रम से दोषों की निवृत्ति करूँगा-यह भाव है। तथापि यहाँ प्रश्न होता है कि, भगवान का आविर्भाव यहाँ पूर्व की भाँति तो हुआ नहीं है। अतः पूर्व में की गई उनकी कृति यहाँ कैसे संभव है? तो कह रहे हैं कि, यहाँ प्रभु साक्षात् प्रकट हुए हैं। ठीक है, भले ही साक्षात्-आविर्भाव हुआ हो तथापि भगवान कदाचित् अंशादि के रूप में प्रकट हुए हों, यह भी तो संभव है ? तो इसका समाधान **भगवता** शब्द से किया है। अतएव षड्-गुण से परिपूर्ण होकर भगवान ने साक्षात् आविर्भूत होकर पूर्व में कहे चंद्रकला के अभिप्राय को बताने सहित जो कहा, वह प्रति-अक्षर के विचार द्वारा मैं कह रहा हूँ।

एवं प्रतिज्ञाय तद्विषयं निरूपयन्ति ब्रह्मसम्बन्धकरणादिति।

ब्रह्मसम्बन्धकरणात्सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः मताः॥ २॥

दोषनिवृत्त्युपायालाभेन हि चिन्ता सा तु न कर्तव्या, कुतः, हि यस्माद्देहजीवयोरुभयोः सम्बन्धिनां सर्वेषां ब्रह्मणः श्रीपुरुषोत्तमस्य सम्बन्धिकरणात्सर्वस्वसमर्पणेन तदीयत्वसम्पादनात्सर्वदोषनिवृत्तिर्भविष्यतीति शेषः। तथा च प्रथमं शरणं प्रविश्य सर्वसमर्पणं कारणीयम्, अनन्तरं सेवाङ्गीकर्तव्या इति सूचितम्। तथा सति सेवाभ्यासेन समर्पणानुसन्धानेन च क्रमशः सर्वत्र स्वाध्यासनिवृत्त्या भगवत्सम्बन्धस्फुरणेन च सर्वदोषनिवृत्तिर्भविष्यतीति भावः। कथमध्यासनिवृत्तिः, किम्प्रकारकं च तत्र तत्र भगवत्सम्बन्धभानम्, एतज्ज्ञापनाय दोषान् गणयन्ति दोषाः पञ्चविधाः मता इति। मताः सर्वशास्त्रेष्वित्यर्थः। अग्रे च पञ्चविधत्वे प्रमाणमेव लोकवेदनिरूपिता इति कथयन्ति। दोषा हि अविद्याजन्याः। सा च पञ्चपर्वात्मिका तत्संख्याका एवोक्ताः। यद्यपि ते बहवः, परन्तु तेष्वेवान्तर्भूता इति। अत एवाग्रे प्रत्येकं बहुवचनमुच्यते॥ २॥

इस प्रकार प्रतिज्ञा करके श्रीमदाचार्य उस विषय को **ब्रह्मसंबंधकरणात्** इन शब्दों से निरूपित कर रहे हैं।

दोषनिवृत्ति का उपाय प्राप्त न होने से ही चिंता होती है, किंतु वह नहीं करनी चाहिए। क्यों नहीं करनी चाहिए? क्योंकि देह-जीव दोनों से संबंधित सभी का ब्रह्म-पुरुषोत्तम के संग संबंध करने से सर्वसमर्पण द्वारा तदीयत्व का संपादन हो जाने से समस्त दोषों की निवृत्ति हो जायेगी, यह शेष रह जाता है। एवं इस प्रकार पहले भगवद्-शरण में जाकर सर्वसमर्पण कराना चाहिए, पश्चात् सेवा स्वीकार करनी चाहिए, यह सूचित किया गया है। ऐसा होने पर सेवा के अभ्यास द्वारा एवं समर्पण के अनुसंधान से क्रमशः सभी स्थानों से स्वयं के अध्यास (भ्रम) की निवृत्ति एवं भगवद्-संबंध के स्फुरणद्वारा समस्त दोषों की निवृत्ति हो जायेगी, यह भाव है। अध्यास की निवृत्ति कैसे होती है? एवं वहाँ-वहाँ भगवद्-संबंध का भान भी किस प्रकार का होता है? ये बताने के लिए **दोषाः पञ्चविधा मताः** इन शब्दों से कह रहे हैं। **मताः** शब्द का अर्थ है-समस्त शास्त्रों में ये दोष माने गये हैं। आगे भी पाँच प्रकार के दोषों में **लोकवेदनिरूपिता** इन शब्दों से प्रमाण ही कह रहे हैं। ये दोष निश्चित रूप से अविद्या से जनित होते हैं। एवं चूँकि अविद्या पञ्चपर्वात्मिका अविद्या के पाँच पर्व माने गये हैं। 'पर्व' का अर्थ होता हैं 'गाँठ'। ये पाँच पर्व हैं - अंतःकरणाध्यास, प्राणाध्यास, इंद्रियाध्यास, देहाध्यास, स्वरूपविस्मृति।) है अतः ये दोष भी पाँच प्रकार के ही कहे गये हैं। यद्यपि दोष तो अनेक हैं, किंतु सभी इन पांचों के अंतर्गत ही हैं अतएव आगे प्रत्येक दोष बहुवचन में कहे जा रहे हैं॥ २॥

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन॥ ३॥

तथा हि सहजा इति। नात्र क्रमो विवक्षितः। सहजा इति प्राणाध्यासजा उक्ताः। जातमात्रस्यैव प्राणपोषणप्रवृत्तेः प्राणाध्यासस्य सहजत्वम्। देशोत्था इति देहाध्यासजाः। तद्वतामेव तत्तद्देशगमने दोषसम्भवात्। कालोत्था इति स्वरूपविस्मृतिजन्याः। कालेनैव तत्सम्भवात्। संयोगजा इत्यन्तःकरणाध्यासजन्याः, तत्रैवेतरसंयोगे भगवद्बहिर्मुख्यस्वधर्मभगवद्धर्माज्ञानसंभवात्। स्पर्शजा इति मात्रास्पर्शजन्याः। तथा चेन्द्रियाध्यासजा उक्ताः। ते ब्रह्मसम्बन्धेन निवर्तिष्यन्त इत्यङ्गीकारे प्रतिबन्धकत्वेन न मन्तव्याः कथञ्चनापि। तत्प्रकारश्च एकादश्यादिपदसमभिव्याहारात्तात्पर्यनिरूपणेनोक्तः। अत एव ब्रह्मसम्बन्धकरणे पूर्वं स्वरूपस्मृतिस्ततो देहादीनां तद्धर्माणां तत्सम्बन्धिनां च भगवति तत्समर्पणेन तदीयत्वेन स्थितिरेव सम्पाद्यते। निर्दुष्टपदार्थसम्बन्धे निर्दोषताभिप्रायेण। लोकवेदनिरूपिता इति सर्वत्र प्रमाणकथनम्॥ ३॥

वे दोष **सहजा** इन शब्दों से कह रहे हैं। जानना चाहिए कि, यहाँ क्रम विवक्षित नहीं है। **सहजा** शब्द से वे दोष कहे गये हैं, जो प्राण-अध्यास द्वारा उत्पन्न होने हैं। चूँकि जीव में जन्म से ही प्राणपोषण की प्रवृत्ति होती है, अतः प्राण-अध्यास रूपी जो दोष हैं, उन्हें 'सहजा' कहा जा रहा है। **देशोत्थाः** देह-अध्यास द्वारा उत्पन्न होने वाले दोष हैं, क्योंकि देहाध्यास हुए लोगों को ही उन उन निषिद्ध देशों में गमन करने

के कारण दोष संभव होता है। 'कालोत्था' स्वरूपविस्मृति हो जाने के कारण उत्पन्न हुए दोष हैं, क्योंकि काल से ही स्वरूपविस्मृति होती है। 'संयोगजा' अन्तःकरण के अध्यास द्वारा उत्पन्न होने वाले दोष हैं, क्योंकि वहीं अन्तःकरण में ही इतर संयोग होने के कारण एवं ऐसी भगवद्-बहिर्मुखता को स्वधर्म मान लेने से एवं भगवद्-धर्म का अज्ञान संभव होने के कारण अन्तःकरण-अध्यास से जन्य दोष हो जाता है। 'स्पर्शजा' पंचतन्मात्रा रूप-रस-गंध स्पर्श--शब्द इन पाँच विषयों को 'तन्मात्रा' कहा जाता है एवं ये ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं। के स्पर्श से उत्पन्न होने वाले दोष हैं एवं वे ही इंद्रिय-अध्यास से उत्पन्न होने वाले कहे गये हैं। ये सभी दोष ब्रह्मसंबंध से निवर्त हो जायेंगें अतः प्रभुद्वारा अंगीकार करने पर इन्हें किसी भी प्रकार से प्रतिबंधक नहीं मानने चाहिए। इन दोषों के विभिन्न प्रकार तो पूर्व में कहे 'एकादशी' पद के तात्पर्यनिरूपण द्वारा कह दिये हैं। टीकाकार कहना चाह रहे हैं कि, इन पाँच मुख्य दोषों के बारे में तो स्पष्ट कर ही दिया गया है, कि ये ब्रह्मसंबंध के पश्चात् निवृत्त हो ही जायेंगे परंतु जैसा कि पूर्व में कहा कि ऐसे दोष अनेक हैं तो उनकी निवृत्ति जहाँ 'एकादशी' पद का विश्लेषण किया गया है, वहाँ दिए गये स्पष्टीकरण द्वारा समझ लेनी चाहिए, यह अर्थ है। अतएव ब्रह्मसंबंध करने पर सर्वप्रथम जीव को स्वयं के स्वरूप की स्मृति होती है, इसके पश्चात् देहादि-उसके धर्म एवं उसके संबंधियों का भगवान में समर्पण करने के द्वारा तदीयता की ही स्थिति संपादित होती है। निर्दुष्ट-पदार्थ से संबंध होने पर निर्दोषता आती है, इस अभिप्राय से। 'लोकवेदनिरूपिता' यह पद सर्वत्र 'प्रमाण' का कथन है अर्थात् इतने प्रकार के दोष लोक में, वेद में सर्वत्र प्रमाणित हैं, यह अर्थ है ॥ ३ ॥

यद्येवं प्रमेयबलमाश्रित्य दोषनिवृत्तेर्नाङ्गीकारः, तदा कालत्रयेपि न दोषनिवृत्तिरित्याहुः अन्यथेति।

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन।
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत् ॥ ४ ॥

अन्येथेति प्रमाणबलेन। अन्यत्स्पष्टम्। एवं भगवत्सम्बन्धिनामेव निर्दुष्टत्वम्, तद्व्यतिरिक्तानां तु सदोषत्वमेवेति निरूपितम्। अतो ब्रह्मसम्बन्धानन्तरं पुनस्तदतिरिक्तसंसर्गे कुञ्जरशौचमिव सर्वं भवतीति तदनन्तरं तन्निषेधमाहुः असमर्पितेति। यतो ह्यसमर्पितानां न दोषनिवृत्तिर्ब्रह्मसम्बन्धाभावात्तस्माद्धेतोस्तेषां तत्सम्बन्धिपदार्थानां वर्जनमाचरेत्, संसर्गं न कुर्यादित्यर्थः। नन्वत्र सर्वथा भगवदीय-तत्सम्बन्धिपदार्थातिरिक्तसंसर्गो निवार्यते। आत्मना सहैव समर्पितानामपि दारादीनां आनुकूल्ये न संसर्गदोषः, प्रातिकूल्ये तु 'गृहं त्यजे'दित्यपि निरूपितं निबन्धे।

यदि इस प्रकार प्रमेयबल पर आश्रित होकर प्रभु दोष-निवृत्ति के द्वारा अंगीकार न करें, तो त्रिकाल में भी दोषनिवृत्ति होनी संभव नहीं है, यह **अन्यथा** इन शब्दों से कह रहे हैं।

'अन्यथा' शब्द का अर्थ है-प्रमाणबल द्वारा दोष की निवृत्ति संभव नहीं है। अन्य दूसरे पद तो स्पष्ट ही हैं। इस प्रकार भगवान से संबंधित ही निर्दुष्ट होते हैं, उनसे अतिरिक्त तो दोषसहित ही होते हैं, यह निरूपित किया गया है। अतः ब्रह्मसंबंध के पश्चात् पुनः उन भगवद्-संबंधियों से अतिरिक्त लोगों के साथ संसर्ग होने पर गज-स्नान की भाँति सभी किए धरे पर पानी फिर जाता है। अतः ब्रह्मसंबंध के पश्चात् उनका निषेध **असमर्पित** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। चूँकि ब्रह्मसंबंध का अभाव होने के कारण असमर्पित जीवों के दोषों की निवृत्ति नहीं होती है, अतः इस हेतु से उनका एवं उनसे संबंधित पदार्थों का वर्जन करना चाहिए, इनका संसर्ग नहीं करना चाहिए, यह अर्थ है। यहाँ जानना चाहिए कि, भगवदीय एवं उनसे संबंधित पदार्थों के अतिरिक्त समस्त असमर्पित पदार्थों का निवारण किया जा रहा है। यह भी ध्यातव्य है कि, स्वयं की आत्मा के संग ही समर्पित हुए पत्नी-आदि अन्य परिवार के सदस्य भी यदि भगवत्सेवा में अनुकूल हैं, तो उनके संसर्ग में कोई भी दोष नहीं है। किंतु प्रतिकूल होने पर तो 'गृह का त्याग करना चाहिए (सर्व० २३३)' ऐसा भी श्रीमहाप्रभु ने निबंध में निरूपित किया है।

तथा सति लौकिकेऽपत्यसम्बन्धादौ वैदिकेऽकरणप्रत्यवायजनकवर्णाश्रमविहितयागऋत्विग्वरणदानप्रतिग्रहादिषु असमर्पितात्मनां प्रत्युत गृहाद्यासक्तानां शुष्ककर्मजडानां संसर्गे का गतिरिति चेत्तत्राहुः।

निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः।
न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम् ॥ ५ ॥

निवेदिभिरिति। निवेदिभिरिति सहार्थे तृतीया। समर्प्यैवेत्येवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदकः। तथा सति समर्प्यैव करणात् सर्वस्वं समर्प्यैव समर्पणानन्तरमेव तदुत्तरक्षणस्यासुरत्वात्तत्प्रवेशव्यतिरेकेणैव तत्क्षणमारभ्यैव निवेदिभिः समर्पितसर्वस्वैर्भगवदीयैः सह सर्वलौकिकमपत्यसम्बन्धादिकं वैदिकं यागादि कुर्यात्, न तु तादृशकर्मजडैरित्यर्थः। एतेन समर्पणोत्तरक्षणस्यासुरत्वात्तत्प्रवेशात्प्रागारभ्यैव नित्यं भगवदीयं सङ्गमेव कुर्यात्। अन्यथा तदैवासुरप्रवेशः स्यादिति सूचितम्। एतदेव नवरत्नविवरणे स्फुटीकृतं प्रभुचरणैः। 'निवेदनं तु स्मर्तव्य'मित्यत्र। अत एव श्रीमदाचार्यवंश्यानां नान्यमार्गीयप्रतिग्रहाङ्गीकारः। एतेन समर्पणक्षणमारभ्य भगवदीयैरेवापत्यसम्बन्धः,

तादृशानामेव यागादौ वरणं दानप्रतिग्रहौ चेति भगवदीयधर्म इति निरूपितम्। किञ्च। भगवदिच्छां विना भक्तस्य न किञ्चित्कर्मकरणमिति नवरत्ने भक्तिहंसे च निरूपितमित्यनायासतादृशसामग्रीसम्पत्तिरेव भगवदिच्छासूचिकेति तावत्तथैव साक्षिवत्पश्यतो न कोपि दोषप्रसङ्गावसरगन्धोपीति भावः। तदुक्तं 'साक्षिणो भवताखिला' इति नवरत्ने। इदमपि कर्माग्राहित्वानुरोधादुक्तम्। वस्तुतस्त्वस्मिन्मार्गे इतरसंमेलननिषेधात्सा शङ्कैव नेत्यलम्। कुर्यादित्यत्र तु कर्तृपदं स्पष्टम्। एतद्ग्रन्थस्य शरणागतं प्रति शिक्षारूपत्वेन शिष्यस्य जागरूकत्वात्। इयं निवेदिनो मर्यादास्तीत्याहुः स्थितिरिति।

ऐसा होने पर एक शंका यह होती है कि, लौकिक में पुत्रादि के उपनयन-विवाहादि के संबंधों में एवं वैदिक में वर्णाश्रमविहित यज्ञ-ऋत्विकवरण-दान-प्रतिग्रह आदि ऐसे कार्य–जिनको न करने पर दोष उत्पन्न होता है–ऐसे लौकिक-वैदिक कार्यों में यदि जीव को असमर्पित-आत्माओं का संसर्ग हो जाय बल्कि गृहादि में आसक्त कर्मजड़ों का संसर्ग हो जाय तो जीव की क्या गति होगी? इसे बताने के लिए कह रहे हैं.....

निवेदिभिः इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। **निवेदिभिः** में सह-अर्थ में तृतीयविभक्ति का प्रयोग है। अर्थात् 'निवेदितों' के साथ यह अर्थ बनेगा। यहाँ मूल कारिका में आए 'समर्प्यैव' (समर्प+एव) शब्द में प्रयुक्त 'एव' शब्द भगवान को समर्पण करने के प्रकार के अतिरिक्त अन्य किसी दूसरे प्रकार में जुड़ने का निषेध कर रहा है। ऐसे में सभी कुछ समर्प कर ही करना कहा गया होने के कारण सर्वस्व समर्प कर ही करना चाहिए क्योंकि ब्रह्मसंबंध करने के तुरंत बाद आसुरावेश न हो जाय - इस हेतु से आसुरावेश से दूर रहते हुए ब्रह्मसंबंध होने के क्षण से ही आरंभ करके निवेदितों के संग पुत्र के संबंध आदि समस्त लौकिक कार्य एवं यागादि जैसे अलौकिक कार्य करने चाहिए। ऐसे आसुरी कर्मजड़ों के संग नहीं। इससे यह ज्ञात होता है कि - चूँकि ब्रह्मसंबंध होने के तुरंत बाद आसुरावेश का भय रहता है - अतः आसुरावेश के पहले ही नित्य भगवदीयों का ही संग करना चाहिए। अन्यथा उसी समय आसुरप्रवेश हो जाता है, यह सूचित किया है। यही प्रभुचरणों ने नवरत्नग्रंथ के विवरण में 'निवेदन का स्मरण' इत्यादि वाक्यों से स्फुट किया है। अतएव श्रीमदाचार्य के वंशजों को अन्यमार्गीयों का प्रतिग्रह स्वीकार नहीं करना चाहिए। इन विश्लेषणों से जानना चाहिए कि, समर्पण के क्षण से आरंभ कर भगवदीयों से ही पुत्र-पुत्री का संबंध करना चाहिए और तादृशीयों का ही यज्ञ में वरण एवं दान-प्रतिग्रह स्वीकार करने चाहिए, यह भगवदीय का धर्म निरूपित किया गया है। कि अनायास-रूप से ही जो सामग्री प्राप्त हो जाय, वही सामग्री भगवदिच्छा की सूचिका है अतः भगवान की इच्छा को उसी प्रकार साक्षी-रूप में देखते रहना चाहिए, इसमें दोष-प्रसंग के अवसर की गंध भी नहीं है, यह भाव है। उपर्युक्त यज्ञादि के कर्म भी कर्म करने में आग्रह रखने वालों के लिए कहे गये हैं। यही नवरत्नग्रंथ में 'सभी साक्षी बनो (नव./६) इस वाक्य से कहा है। वास्तव में तो इस मार्ग में इतर मर्यादामार्गीयों से मिलना निषेध होने से वह शंका ही नहीं है, यह पर्याप्त विस्तार कर दिया गया। **कुर्यात्** पद में तो कर्तृपद स्पष्ट है, क्योंकि यह ग्रंथ शरणागतों के लिए शिक्षारूप होने के कारण शिष्य को जागरूक करने के लिए है। इसी कारण से 'कुर्यात्' अर्थात् 'करना चाहिए' इस प्रकार से कर्तृपद का प्रयोग किया गया है। यह निवेदी की मर्यादा है-यह कहने के लिए **स्थितिः** शब्द का प्रयोग किया है।

ननु भगवदीयस्य सर्वथान्यसंसर्गनिषेधाद्वर्णाश्रमविषयककार्यमानेषु च तादृशानामतिदुर्लभत्वात्तथाग्रहस्य च भगवति महाभारप्रदत्वेनास्वधर्मत्वात्तत्तत्कार्यमात्राणां चावश्यकत्वात्तत्तन्निर्वाहार्थमस्तु स्वमात्रसमर्पणम्, किं दारादीनां साहित्येनेति चेत् तत्राहुः। न मतमिति। सामिसमर्पणं भुक्तसमर्पणं च देवदेवस्य न मतम्। सामिसमर्पणतुल्यत्वज्ञापनाय समस्तं पदम्। एतेन सामिभुक्तदोषपरिहारार्थमेव स्वसमर्पणे दारादीनां साहित्यम्। तेषां साक्षात्सेवाधिकारस्तु पृथक्समर्पणेनैव भविष्यतीति सूचितम्। एतदेवोक्तं नवरत्नविवरणे। 'कस्यचिद्विशेषोऽङ्गीकारश्चेत्, सा पुष्टि'रिति। पुष्टिर्नाम च साक्षात्सेवाधिकाररूपोऽनुग्रहः। एवं सति सर्वं समर्प्य कार्यमात्रे भगवदिच्छैव नियामिकेति निश्चित्य नान्यसंसर्गं कुर्यादिति वाक्यादेतद्द्वारस्य प्रभुणैवाङ्गीकृतत्वादेतदपेक्षया सामिभुक्तसमर्पणस्य जघन्यतरप्रतीतेश्च।

यहाँ शंका होती है कि, भगवदीय को अन्य संसर्ग का सर्वथा निषेध करना तो कहा गया है, किंतु समस्या यह होती है कि वर्णाश्रम-विषयक कार्यों में ऐसे तादृशी प्राप्त होने अतिदुर्लभ हैं। तथापि यदि इनको करने का आग्रह रखा जाय तो इन्हें संपूर्ण करने के लिए भगवान से विनति करनी पड़ेगी, और उन पर महाभार देना हो जायेगा अर्थात् प्रभु को भक्त के कार्य करने पड़ेंगे और उन्हें परिश्रम होगा। एवं यह अस्वधर्म है। किंतु उन-उन कार्यों को करना तो आवश्यक है, अतः उन-उन कार्यों का स्वमार्गीय पद्धति से निर्वाह करने के लिए क्यों न मात्र स्वयं का ही समर्पण किया जाय? क्यों अन्य संसर्ग उत्पन्न करने वाले पत्नी आदि के सहित समर्पण का विधान किया जा रहा है? तो ऐसी शंका के समाधान के लिए **न मतम्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। सामि-समर्पण एवं भुक्त-समर्पण देवाधिदेव को संमत नहीं है। सामि-समर्पण अर्थात् भुक्त समर्पण की समानता बताने के लिए मूलकारिका में 'सामिभुक्तसमर्पणम्' इस प्रकार समस्त-पद दिया गया है, जिसका अर्थ होता है कि, किसी भी वस्तु का चाहे सामि-समर्पण किया जाय या भुक्त-समर्पण, देवाधिदेव-प्रभु को वह संमत नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि, सामिभुक्त-समर्पण के दोष को दूर करने के लिए ही स्वयं के समर्पण में पत्नी-आदि सहित समर्पण करना कहा गया है; परंतु उन्हें साक्षात् सेवा

का अधिकार तो पृथकरूप से समर्पण द्वारा ही प्राप्त होगा, यह सूचित किया गया है। यही नवरत्न के विवरण में ''यदि किसी का विशेषरूप से अंगीकार होता है-तो वह पुष्टि है (नव०/३/श्रीप्रभुचरणविवृति)'' इस वाक्य द्वारा कहा गया है। 'पुष्टि' का अर्थ है, साक्षात् सेवा का अधिकाररूप 'अनुग्रह'। एवं ऐसा होने पर सभी कुछ भगवान को समर्पकर-''कार्य-मात्र में भगवद्-इच्छा ही नियामक है'-यह निश्चित कर अन्य का संसर्ग नहीं करना चाहिए'' इस वाक्य से जीव के इन लौकिक कार्यभार को प्रभु ने ही पूर्ण करना स्वीकार किया है। अतः इन सभी की तुलना में सामिभुक्त का समर्पण करना जघन्यतर प्रतीत होता है।

ननु भुक्तसमर्पणनिषेधे पूर्वं दारादिभिरुपभुक्तस्य देहादेरपि समर्पणमनुपपन्नमिति चेत्। न। आकस्मिकनिजदोषस्फूर्त्या पश्चात्तापपर्याकुलस्यापराधप्रतीकारमपश्यतः शरणान्तरमलभमानस्य समस्तसाधनपरित्यागपूर्वकं महापुरुषद्वारा भगवदेकशरण्यं प्रविष्टस्य भगवदिच्छया च महापुरुषेण करुणया तदेकशरणं प्रवेश्य कृतात्मनिवेदिनो दीनवत्सलेन भगवता स्वभक्तपक्षपातेन कृपयाङ्गीकृतस्य ब्रह्मसम्बन्धमात्रेण वस्तुस्वभावान्निर्दग्धनिखिलकल्मषस्य वह्निसम्बन्धेन सुवर्णस्येव निर्दुष्टत्वात्। तथा चोक्तं गीतायां 'सर्वधर्मान्परित्यज्ये'ति। श्रीभागवतेपि 'स्वयं समुत्तीर्ये'ति। न चैवं जडत्वसामान्यात्करुणास्पदत्वादिधर्मासम्भवाद्देहादेरपि कथमङ्गीकार इति वाच्यम्। चेतनाध्यस्तत्वात्तस्य। अत एव शवशरीरस्य शरणागमनं न वा करुणास्पदत्वादि सम्भवति। किञ्च। जीवोद्धारार्थं हि कृपया श्रीमदाचार्येभ्य एतन्मार्गमादिष्टवान् भगवान्। तथा च जीवस्य यत्र यत्र स्वाध्यासेन संग्राह्यत्वबुद्धिः, तत्र तत्र प्रभुसमर्पणे कृते स्वसम्बन्धसम्पादनेन तदध्यासनिवृत्तिं विधाय तमुद्धरति। भुक्तशेषे तु जीवस्यैव हेयत्वबुद्धेः कुतस्तदा देवदेवसमर्पणावकाशः। निषेधवाक्यं तु प्रमादतस्तथाकरणेऽवधानप्रतिपादकं सामिसमर्पणस्य च तत्तुल्यताप्रतिपादकमिति ध्येयम्।

यहाँ एक और शंका यह होती है कि, भुक्त का समर्पण निषेध करने में तो फिर पत्नी-आदि के द्वारा उपभुक्त इस देह-आदि का समर्पण भी अनुचित है? किंतु नहीं, ऐसा नहीं है।

क्योंकि जीव को जब आकस्मिक रूप से स्वयं के दोषों की स्फूर्ति होती है, तब पश्चाताप से व्याकुल उस जीव को स्वयं के द्वारा किए गये अपराधों का प्रतीकार दिखाई नहीं देता ..... एवं अब भगवान के अतिरिक्त अन्य दूसरा कोई शरण प्राप्त न होने के कारण ..... समस्त अन्य साधनों का परित्याग करके महापुरूष - (श्रीमहाप्रभु) द्वारा एक भगवान की शरण में प्रविष्ट हुए उस जीव को ..... भगवान की इच्छा एवं महापुरूष (श्रीमहाप्रभु) की करूणा द्वारा उसे एक भगवान की शरण में प्रविष्ट करा देने से ..... ऐसे कृतात्मनिवेदी के; अपने भक्तों के पक्षपाती-दीनवत्सल भगवान की कृपाद्वारा ..... मात्र ब्रह्मसंबंध से समस्त पाप जल कर नष्ट हो जाते हैं ..... जैसे अग्नि से सुवर्ण का संबंध होने पर स्वर्ण निर्दुष्ट हो जाता है। यही गीता में ''सभी धर्मों का त्याग कर के (भ.गी. १८/६६)'' इस वाक्य से कहा गया है। श्रीभागवत में भी ''स्वंय तो कष्टसाध्य संसारसागर को पार (श्री.भा. १०/२/३१)'' इस वाक्य से उपर्युक्त बात कही गई है। यहाँ यह शंका भी नहीं करनी चाहिए कि चूँकि देह तो जड़ ही है और चेतना जीव में है तो फिर इस जड़ देह का समर्पण करने का विधान क्यों किया जा रहा है ? क्योंकि जड़-देह में करूणा आदि चेतनधर्म तो होते नहीं ? तो कह रहे हैं कि नहीं, ऐसा नहीं है। क्योंकि चेतना इसी देह के भीतर अवस्थित है। देह में चेतना इसी जीव के कारण होती है और इसी कारण शव-शरीर का समर्पण नहीं कराया जाता या उसमें करूणा-आदि धर्म भी संभव नहीं होते। और, जीव के उद्धार के लिए ही कृपाद्वारा भगवान ने श्रीमदाचार्यों के लिए इस मार्ग का आदेश किया है। एवं इसी प्रकार जीव की जहाँ-जहाँ स्वयं के अध्यास द्वारा भोगने के वृत्ति है, वहाँ[२] प्रभुसमर्पण करने पर स्वयं के संबंध के संपादन द्वारा उसके अध्यास की निवृत्ति कर के वे उसका उद्धार करते हैं। एवं भोग करने के पश्चात् शेष रह जाने वाले पदार्थों में तो स्वयं जीव की ही हेय-बुद्धि होती है अतः ऐसे में देवाधिदेव को ऐसी वस्तु समर्पण करने का तब कहाँ अवकाश रह जाता है? यहाँ मूलकारिका में 'न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम्' यह जो सामिभुक्त-समर्पण को निषेध करने वाला वाक्य है, वह तो कहीं भूल से ऐसा अपराध न हो जाय अतः सावधानी बरतने का द्योतक है एवं उसकी भुक्त-समर्पण से समानता को बताने के लिए है, यह ध्यान रखना चाहिए।

अपरञ्च। साधनदशायां हि दासधर्मस्वरूपनिरूपणमेतत्। वस्तुतस्तु केवलं पुष्टिमार्गे भावाधीनो भगवान्, यथा भावे तदप्यङ्गीकरोति। यथावनभोजनलीलायां 'सर्वे मिथो दर्शयन्त' इति। यथा वा फलप्रकरणे 'स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैरचीक्लृप-न्नासनमात्मबन्धव' इत्यत्र 'तत्रोपविष्टो भगवान्' इत्यत्र श्रीमदाचार्यैः प्रपञ्चितमिति सर्वमनवद्यम्। एतेन सामिसमर्पणस्य बलवद्दोषवत्त्वं निरूपितम्। अनन्यत्वभङ्गप्रसङ्गेन भगवदनङ्गीकारेण तथाभावप्रतिबन्धकत्वात्। अत एवाभ्यर्हितत्वेन पूर्वनिपातः। तथा चात्मना सह स्वसम्बन्धिसर्वमेव समर्पणीयम्, न त्वात्ममात्रम्। ततश्च भगवदीयैरेव सर्वव्यवहारकत्वम् न त्वन्यैरिति सिद्धम्। एवमेव ह्यग्रेपि यावज्जीवं भगवदप्राप्तेषु तत्त्वलौकिकवैदिकनिमित्तेष्वपि निर्मितानां पदार्थानां 'उच्छिष्टभोजिनो दासा' इति दासधर्मत्वाद्भगवते समर्पणं विधाय पश्चात्तदुपयोगं कुर्यादित्यर्थः।

और, यह साधनदशा में दासधर्म के स्वरूप का निरूपण है, वास्तव में तो केवल पुष्टिमार्ग में ही भगवान भाव के अधीन हैं कि जैसा भी भाव हो, उसे वे अंगीकार करते हैं। उपर्युक्त विश्लेषण से ज्ञात होता है कि भगवान को सामिभुक्त का समर्पण एवं अल्प-भुक्त का समर्पण

नहीं करना चाहिए क्योंकि देवाधिदेव प्रभु को वह संमत नहीं है। किंतु टीकाकार यहाँ एक विशेष बात पर ध्यान दिलाना चाह रहे हैं कि इस विधान को जीव के दासधर्म का स्वरूप मानना चाहिए? वास्तव में तो निरोध सिद्ध हो जाने पर केवल एक पुष्टिप्रभु ही ऐसे हैं जो भाव से समर्पित हरेक वस्तु को स्वीकार करते हैं। परंतु इससे जीव को अपना दासधर्म थोड़े ही भूल जाना चाहिए, यह अर्थ है। जिस प्रकार वनभोजन की लीला में "भगवान श्रीकृष्ण एवं ग्वालबाल परस्पर अपनी[3] रूचिका प्रदर्शन (श्री.भा.१०/१३/१०) इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रभु ने व्रजभक्तों के संग भोजन किया। इस श्लोक में भी ध्यान से विचार करेंगे तो ज्ञात होगा कि प्रभु ग्वालबालों के संग मिल कर भोजन कर रहे हैं। यहाँ कौन सा आदौ समर्पण का विचार रखा गया है अथवा यहाँ कौन सा सामिभुक्त या भुक्त समर्पण का विचार किया गया है? किंतु प्रभु तो ग्वालबालों के भोग को स्वीकार भी कर रहे हैं और संग मिलकर भोजन भी कर रहे हैं। टीकाकार यही पक्ष उठा कर कहना चाह रहे हैं कि यहाँ चूँकि ग्वालबालों में पूर्णनिरोध सिद्ध हो चुका है अतः पुष्टिप्रभु सभी कुछ स्वीकार कर रहे हैं किंतु इस ग्रंथ में किया जाने वाला उपदेश आरंभदशा का है अतः पुष्टिभक्तिमार्ग के विधि-निषेध आदि नियमों का स्पष्टीकरण आवश्यक है, यह अर्थ है। अथवा फलप्रकरण में 'स्वैरुत्तरीयैः ..... बन्धव (श्री. भा. १०/३१/१३)' इस वाक्य में आए 'तत्रोपविष्टो भगवान्' इन शब्दों की सुबाधिनी में श्रीमदाचार्यों ने इसे विस्तृत किया है अतः उपर्युक्त कथन पूर्णरूप से उचित ही है। इन सभी विश्लेषणों से सामिसमर्पण को बलवान्-दोष के ढंग से निरूपित किया गया है क्योंकि यदि अनन्यता भंग हो जाती है तो प्रभु अंगीकार नहीं करते अतः ऐसा भाव प्रतिबंधक है। अतएव समर्पण ही योग्य होने के कारण उसे पहले कह दिया गया है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि आत्मा के संग स्वयं के समस्त संबंधियों का समर्पण करना चाहिए, न कि केवल आत्मा का। इससे भगवदीयों के साथ ही समस्त व्यवहार करना चाहिए, न कि अन्यों के द्वारा-यह सिद्ध हुआ। इसी प्रकार आगे भी जीवनपर्यंत ..... भगवान को प्राप्त न हुए ऐसे अर्थात् तत्वतः लौकिक-वैदिक कार्यों के निमित्त भी निर्मित हुए पदार्थों को ..... 'आपकी जूठन खाने वाले दास हैं (श्री.भा.११/६/४६)' इस श्लोक में कहे दासधर्म के द्वारा भगवान को समर्पण करके पत्पश्चात् स्वयं के लिए उपयोग करना चाहिए, यह अर्थ है।

तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्।
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः ॥ ६ ॥
न ग्राह्यमितिवाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।

तस्मादिति। अयं भावः। सामिसमर्पणानङ्गीकारादात्मना सह सर्वस्वं भगवते समर्पितमनन्तरं च तत्तत्कार्ये प्राप्ते तत्तद्द्रव्यादिना तत्तत्सामग्रीं सम्पाद्यादौ भगवत एव समर्पयेत्। तद्द्रव्यनिर्मितपदार्थानां तद्भोग्यत्वात्। ततश्च तत्र विनियोगे जाते तदत्तमहाप्रसादत्वेन तदुपभुक्तवासोलङ्कारादिभिर्भगवदिच्छाप्राप्तत्वात्तत्तत्कार्यं विधेयम्। न तु स्वातन्त्र्येणानर्पयित्वेति हृदयम्। तथा साक्षादलौकिकरसात्मकत्वेन प्रभूपभुक्तत्वेन तदत्तमहाप्रसादत्वेनैव तत्पदार्थैस्तावन्मात्रका सेवोपयोगित्वादेहादिवृत्तिरपि कर्तव्या। न तु भोगत्वेन। 'उच्छिष्टभोजिनो दासा' इति दासधर्मत्वात्। अन्यथा मार्गस्थितेरुच्छेदादन्यमार्गप्रवेशात्तत्र च भगवन्नैवेद्यग्रहणे दोषश्रवणाद्दोषभाग्भवतीत्याहुः दत्तेति। इदं वचनं भिन्नमार्गपरं सम्मतम्। दत्तं पुनः स्वोपभोगाय न ग्राह्यम्, तथा हरेः सम्बन्धि किमपि न ग्राह्यमिति यद्वाक्यं तद्भक्तिमार्गातिरिक्तमार्गपरमित्यर्थः। भगवति निवेदनाभावान्निवेदितपदार्थानां भगवदुपभोगे जाते महाप्रसादस्यात्मशोधकत्वेनावश्यं ग्राह्यत्वप्रतिपादनाच्च।

तस्माद् इत्यादि वाक्यों की व्याख्या कर रहे हैं। यहाँ भाव यह है कि, चूँकि पुष्टिभक्तिमार्ग में सामि-समर्पण स्वीकार्य नहीं है, अतः आत्मा के संग सर्वस्व भगवान को समर्पित करने के पश्चात् ..... उन-उन लौकिक कार्यों में ..... उन-उन धन-संपत्ति से ..... उन-उन आवश्यक सामग्रियों को संपादित कर ..... प्रथमतः भगवान को ही समर्पित करना चाहिए क्योंकि ऐसे प्रभु को समर्पित हुए द्रव्यादि से निर्मित पदार्थ ही प्रभुभोग्य होते हैं। इसके पश्चात् भगवान में उनका विनियोग होने पर ये समस्त वस्तुएँ भगवान का दिया महाप्रसाद हो जाती हैं। अतः अब भगवदिच्छा भी प्राप्त हो गई होने के कारण उनके द्वारा उपभुक्त वस्त्र-अलंकारों के द्वारा उन-उन लौकिक कार्यों को करना चाहिए, न कि स्वतंत्रतया भगवान को अर्पित किए बिना ही लौकिक कार्य करे, यह हृदयंगम करना चाहिए। एवं साक्षात् अलौकिक-रसात्मक-प्रभु द्वारा उपभुक्त एवं भगवान द्वारा दिया गया महाप्रसाद होने के कारण ही उतने ही समर्पित पदार्थों द्वारा देहादि की वृत्ति भी करनी चाहिए क्योंकि देह भी सेवा में उपयोगी है। अतः उन पदार्थों में प्रसादबुद्धि रखकर ही ग्रहण करने चाहिए न कि भोगबुद्धि से, यह अर्थ है। क्योंकि "आपकी जूठन खाने वाले दास हैं (श्री.भा.११/६/४६)" इस वाक्य से यही दासधर्म है। अन्यथा यदि प्रभु का उच्छिष्ट न ग्रहण करें तो मार्ग की स्थिति ही उच्छेद हो जायेगी एवं तब अन्य मार्ग में प्रवेश हो जाने के कारण वहाँ चूँकि-भगवान को निवेदित वस्तु को ग्रहण करने में दोष सुना जाता है-अतः वह दोष का भागी बनता है। इन सभी को **दत्त** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। ये वचन भिन्न मार्ग के हैं। 'भगवान को दिए हुए को पुनः स्वयं के उपभोग के लिए ग्रहण न करना', इसी प्रकार 'हरि से संबंधित कुछ भी ग्रहण नहीं करना' इत्यादि जो वाक्य हैं, वह भक्तिमार्ग से भिन्न मार्गपरक हैं, यह अर्थ है। भगवान में निवेदन का अभाव होने से दासधर्म निभ नहीं पाता अतः

निवेदित पदार्थों का भगवान द्वारा उपभोग होने पर एवं महाप्रसाद के आत्मशोधक होने के कारण अवश्य ग्रहण करना कहा गया होने से, भगवान को निवेदित ही ग्रहण करना चाहिए।

उपसंहरन्ति सेवकानामिति।

सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः।
गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना ॥ ८ ॥
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि ॥८१/२ ॥

समर्प्यैव समर्पणोत्तरक्षणमारभ्य सेवकानां दासानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिद्धो वर्तते, तथैव व्यवहारो विधेयः। स च स्वकीयदेहादिपर्यन्तपदार्थेषु स्वाम्यधीनत्वभावनया तस्मिन्नैव यथासम्भवं सर्वं विनियुज्य उच्छिष्टमात्रं भुञ्जतः सेवापरतया स्थितिः। एवं सेवतो लोकेपि दासस्य देहावसाने उत्तमत्वं सिध्यति। नारदस्येव। तथा ब्रह्मसम्बन्धकरणमारभ्य भगवति सर्वं विनियुज्य सेवतो देहादिषु भगवदीयत्वभावनया सर्वत्र भगवदावेशाद्ब्रह्मता सिध्यति। ततश्च **गङ्गात्वमिति**। यथा गङ्गायां निविष्टानां जलानां गङ्गात्वमेव, न तु तद्गतकरतोयादिविलम्बनादिपूर्वदोषनिरूपणमपि। तद्वदस्यापि। यद्यपि कामादयो दोषरूपाः, तथापि भगवदीयस्य भगवत्येव कामः, तत्प्रतिपक्षेषु क्रोधः, एवं यथायथं भगवत्सम्बन्धे ब्रह्मतैव सेत्स्यतीति व्यर्थैव दोषनिवृत्तिप्रतीक्षेति हृदयम्।

श्रीमदाचार्यपादाब्जमधुमाध्वीवशादहम्।
प्रालपं साधुभिर्भाव्यं विशोध्यं साध्वसाधु वा ॥ १ ॥
इति श्रीसिद्धान्तरहस्यविवृतिः समाप्ता।

अब सेवकानां इत्यादि शब्दों से इस ग्रंथ का उपसंहार कर रहे हैं। **समर्प्यैव** अर्थात् समर्पण पश्चात् तुरंत, सेवकोंका/दासोंका जिस प्रकार का व्यवहार लोक में प्रसिद्ध है, उसी प्रकार भगवान के संग व्यवहार करना चाहिए। एवं वह व्यवहार ऐसा है कि स्वयं के देहादि पर्यंत समस्त पदार्थों में अपने स्वामी भगवान के अधीन होने की भावना द्वारा उन्हीं में यथासंभव समस्त पदार्थों को विनियोजित करके उनके उच्छिष्ट मात्र का भोजन करते हुए सेवापर होकर रहना चाहिए। इस प्रकार सेवा करते हुए लोके में भी दास का देहावसान होने पर नारद की भाँति उत्तमता सिद्ध होती है। यहाँ टीकाकार ने भगवान का उच्छिष्ट ग्रहण करने के विधान में नारदजी का उदाहरण दिया है, इसे समझें। श्रीमद् भागवत के प्रथम स्कंध में नारदजी के पूर्वजन्म के चरित्र का वर्णन है। इसमें उल्लेख है कि वहाँ नारदजी भगवान के भक्तों का उच्छिष्ट खाते थे। जहाँ उन्हें वैष्णवों का संग प्राप्त हुआ एवं उस महाप्रसाद से उनकी बुद्धि निर्मल हुई एवं उनमें भक्ति आई। तभी से उन्होंने जीवनपर्यंत असमर्पित नहीं खाया। इसी प्रसंग से टीकाकार यहाँ भगवान के उच्छिष्ट की महिमा बताना चाह रहे हैं। विशेष जानने के लिए देखें श्री.भा. १५/२५। उसी प्रकार ब्रह्मसंबंध करने से आरंभ करके भगवान में सभी कुछ विनियोजित करके सेवा करते हुए देहादि में भगवदीयता की भावना करने के द्वारा भगवद्-आवेश से सर्वत्र ब्रह्मता सिद्ध होती है। इसके पश्चात् **गङ्गात्वं** इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। जिस प्रकार गंगा में निविष्ट जलों का गंगारूप ही हो जाता है, और उसके पूर्व में रहे हुए दोषोंका भी निरूपण नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्मसंबंध हो जाने पर जीव की भी ब्रह्मता सिद्ध हो जाती है। यद्यपि काम-आदि दोषरूप हैं, तथापि भगवदीय को भगवान में ही काम होता है, इसी प्रकार भगवान के प्रतिपक्षियों में क्रोध। इस प्रकार यथायोग्य भगवद्-संबंध-होने पर ब्रह्मता होगी ही। अतः दोष निवृत्त होने की प्रतीक्षा करनी व्यर्थ ही है, यह हृदयंगम करना चाहिए।

श्रीमदाचार्यचरणकमलों के मधु की मधुरता-वश होकर मैने इतना प्रलाप किया।
अब सज्जनों द्वारा विशोधन करके भावनीय है कि यह उचित है या अनुचित?
यह श्रीसिद्धांतरहस्य-विवृति समाप्त हुई।

श्रीकृष्णाय नमः।

सिद्धान्तरहस्यम्।

श्रीहरिरायोदिता सिद्धान्तरहस्यविवृतिः।

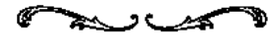

अथ श्रीवल्लभाचार्यचरणाविष्टचेतसा। कारिकाभिः स्वसिद्धान्तरहस्यार्थो विविच्यते॥ १ ॥

अथ श्रीवल्लभाचार्यचरणों में आविष्ट-चित्त के द्वारा। कारिकाओं से स्वयं के सिद्धांतरहस्य का अर्थ मैं विवेचित कर रहा हूँ॥ १ ॥

स्वरूपेण समुद्धारस्तथा भक्त्यापि चैव हि। व्यवस्था तत्र मन्तव्यावतारानवतारतः॥ २ ॥

जैसे स्वरूप से जीव का उद्धार होता है, वैसे भक्ति से भी होता है। अवतारदशा में स्वरूप द्वारा एवं अनवतारदशा में भक्ति द्वारा उद्धार होता है, यह व्यवस्था जाननी चाहिए॥ २ ॥

अवतारे त्रिधा रूपमवतीर्णं तथा रसः। पूर्वस्तथा मूलरूपं तत्पारोक्ष्यं हि सर्वथा॥ ३ ॥

अवतार-दशा में प्रभु के तीन रूप हैं। एक अवतीर्णरूप, दूसरा रसस्वरूप और तीसरा मूलरूप। किंतु अधुना ये तीनों रूप अंतर्धान हैं॥ ३ ॥

वैकुण्ठगमनान्नित्यमवस्थानस्थितेरपि[1]। लीलाविशिष्टरूपेण हृदयैकप्रवेशतः॥ ४ ॥

'वैकुंठगमन करने' 'नित्यलीला में स्थान पाने' एवं 'प्रभु के लीलाविशिष्टरूप से हृदय में प्रविष्ट होने' के द्वारा उद्धार होता है॥ ४ ॥

इन तीन प्रकारों द्वारा प्रभु अवतारदशा में जीवों का उद्धार करते हैं किंतु अनवतारदशा में आधुनिक जीवों का उद्धार कैसे होता है, यह टीकाकार आगे बता रहे हैं।

इदानीन्तनजीवानामुद्धृतिस्तु कथं भवेत्। विचार्य कृपया कृष्णो भक्त्याविष्करणोद्यतः॥ ५ ॥

तो आधुनिक जीवों का उद्धार कैसे होगा? यह विचार करके श्रीकृष्ण कृपा करके भक्ति का आविष्कार करने को तत्पर हुए॥ ५ ॥

पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदैः सा[2] त्रिविधा मता। मध्या श्रुतिपुराणेषु सर्वत्र विनिरूपिता॥ ६ ॥

वह भक्ति पुष्टि- प्रवाह-मर्यादा के भेद से तीन प्रकार की मानी गई है। प्रवाह भक्ति (मध्या) श्रुतिपुराणों में सर्वत्र निरूपित की गई है॥ ६ ॥

द्वयोर्निरूपणार्थं हि श्रीभागवतसम्भवः। व्यासावतारोपि हरेरेतदर्थक एव हि॥ ७ ॥

शेष बची पुष्टि एवं मर्यादा भक्ति के बोध के लिए श्रीमद्-भागवत है। हरि का व्यास-अवतार भी इसी के लिए हुआ है॥ ७ ॥

तत्र मार्यादिकी भक्तिः श्रीभागवतमार्गतः। तदुक्तसाधनैरेव सिद्धा भवति सर्वथा॥ ८ ॥

वहाँ मर्यादिक-भक्ति श्रीमद्-भागवत के मार्ग द्वारा एवं उसमें कहे साधनों द्वारा ही सर्वथा सिद्ध होती है॥ ८ ॥

पुष्टिस्त्वनुग्रहात्मा हि साधनैर्न भवेदिति। ज्ञापयित्वा भागवते दानाय जगतीतले॥ ९ ॥
भक्तिभावात्मकं स्वास्यं स्वयमाविश्चकार हि।

परमात्मा की अनुग्रहरूपा-पुष्टिभक्ति तो साधनों द्वारा सिद्ध नहीं होती, यह बताकर भगवान ने इस भूतल पर पुष्टिभक्ति का दान करने के लिए अपने भक्तिभावात्मक मुखारविंदस्वरूप श्रीवल्लभ का आविष्कार किया॥ ९ १/२॥

तत्सम्बन्धेन सर्वेषां मूर्तिमद्भक्तियोगतः॥ १० ॥
भविता भावसम्बन्धस्ततः पुष्टिः फलिष्यति।

ऐसे भक्ति के मूर्तिमानस्वरूप श्रीवल्लभ से जुड़ने पर सभी का सर्वप्रथम भावसंबंध से संबंध होगा और इसके पश्चात् पुष्टिभक्ति फलित होगी॥ १० १/२॥

विना द्वारं हि जीवानां तत्सम्बन्धोपि दुर्लभः॥ ११ ॥

पुष्टिभक्ति के द्वारभूत-श्रीवल्लभ के बिना जीवों का भगवान से संबंध होना भी दुर्लभ है॥ ११ ॥

स्वरूपाज्ञानतः पूर्वं तदर्थं भगवान्हरिः। मार्गं प्रकाशयन्नाविर्भूतः कालेपि तादृशे॥ १२ ॥

जीव को स्वयं के स्वरूप का ज्ञान नहीं है अतः पहले उसे उसके स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए भगवान-हरि पुष्टिभक्तिमार्ग प्रकाशित

---

१ नित्यलीलास्थानेति पाठः। २ सापि त्रिधेति पाठः।

करते हुए उसी अर्धरात्रि के समय ही आविर्भूत हुए॥ १२ ॥

फलमाचार्यसम्बन्धात्तत्सम्बन्धो हि मार्गतः। अदेयदानदक्षश्चेत्यतो नाम विराजते॥ १३ ॥

जीव को मार्ग का फल आचार्यचरणों के साथ संबंध द्वारा प्राप्त होगा; आचार्यचरणों के साथ संबंध इस मार्ग द्वारा होगा। इसी कारण आचार्यचरणों का 'अदेयदानदक्षः' यह नाम प्रसिद्ध है॥ १३ ॥

मार्गेत्र प्रथमं पुष्टिः सम्बन्धवरणात्मिका। मध्ये वेदोक्तमर्यादायुतभक्तिस्थितौ स्थितिः॥ १४ ॥

अपाषण्डित्वसिद्ध्यर्थं भगवत्तोषणाय च।

इस पुष्टिमार्ग में जीव का भगवान से प्रथम संबंध 'वरणात्मक' है। दूसरे स्थान पर अपाषंड की सिद्धि एवं भगवान की प्रसन्नता के लिए वेद में कही मर्यादा के अनुसार रहना है॥ १४ १/२॥

फलपुष्टेर्योग्यतायै फलं कृष्णेन नान्यथा॥ १५ ॥

पुष्टि की फलयोग्यता प्राप्त करने के लिए फल तो कृष्ण द्वारा ही प्राप्त होगा, अन्यथा नहीं॥ १५ ॥

निःसाधनत्वभङ्गः स्याद्यदि स्यात्साधनैः फलम्। एदादृङ्मार्गबोधाय प्राकट्ये तादृशो मतः॥ १६ ॥

यदि ऐसा न हो और साधनों से फल प्राप्त हो जाय, तब तो पुष्टिमार्ग की मूलहेतु 'निःसाधनता' ही भंग हो जाय। अतः ऐसे निःसाधनता के मार्ग का बोधन करने के लिए प्रभु का इस प्रकार प्राकट्य हुआ है॥ १६ ॥

कालो हरेः कृपापूर्णनिःसाधनफलात्मनः। श्रावणः पुष्टिमार्गीयश्चातुर्मास्यगतत्वतः॥ १७ ॥

ऐसे कृपापूर्ण-निःसाधनों के फलात्मा-हरि के प्राकट्य का काल 'श्रावणमास' है, जो पुष्टिमार्गीय है एवं चातुर्मास के अंतर्गत है॥ १७ ॥

विष्णुसम्बन्धिसम्बन्धात्सम्बन्धख्यापको मतः। बोध्यते तेन पुष्टिर्हि प्रथमं वरणात्मिका॥ १८ ॥

श्रावणमास विष्णुसंबंध से संबंधित होने के कारण भगवद्-संबंध का द्योतक है। श्रावणमास विष्णु से संबंधित है, इस कारण इस मास में उद्भावित होनेवाली पुष्टि 'वरणात्मिका है'॥ १८ ॥

मर्यादाबोधनार्थाय पक्षः प्रोक्तोऽमलस्तथा। भक्तिमार्गीयमर्यादाबोधिकैकादशी मता॥ १९ ॥

'अमल' पक्ष मर्यादापुष्टि का द्योतक है एवं 'एकादशी' तिथि भक्तिमार्गीय-मर्यादा की बोधिका है॥ १९॥

प्राकट्यकालः पूर्णस्य हरेः प्रोक्ता महानिशा। निःसाधनजनोद्धृत्यै फलदानाय भूतले॥ २० ॥

भूतल पर निःसाधनजनों के उद्धार एवं फलदान के लिए पूर्ण-हरि का प्राकट्य-काल 'अर्धरात्रि' का है॥ २० ॥

फलसामयिकी पुष्टिस्तेनात्र विनिरूपिता।

इससे फलदान करने वाली पुष्टि का समय यहाँ निरूपित किया है॥ २० १/२॥

चूँकि प्रभु के प्राकट्य का काल अर्धरात्रि है एवं यहाँ भी अर्धरात्रि को ही उन्होंने पुष्टि का उपदेश दिया अतः टीकाकार कहना चाह रहे हैं कि यह पुष्टि का उपदेश अवश्य ही फलित होगा, यह अर्थ है।

एवंविधे हरिः काले प्रादुर्भूय निजेच्छया॥ २१ ॥

ब्रह्मसम्बन्धमारभ्य सर्वं मार्गं स्वयं जगौ।

इस प्रकार के काल में हरि ने निजेच्छा से प्रादुर्भूत होकर ब्रह्मसंबंध से लेकर समस्त मार्ग का सिद्धांत स्वयं ही गाया॥ २१ १/२॥

न भक्तैर्नावतारेण न स्वप्नप्रेरकेण च॥ २२ ॥

न पूर्वरसरूपेण मूलरूपेण वै हरिः। उक्तवानिति बोधाय साक्षात्पदमिहोदितम्॥ २३ ॥

न भक्तों के माध्यम से, न अवतारूप.से, न स्वप्न द्वारा प्रेरणा दी, न ही पूर्व में कहे रसरूप द्वारा अपितु मूलरूप से हरि ने कहा-यह बताने के लिए यहाँ 'साक्षात्' पद कहा गया है॥ २३॥

सर्वलीलाविशिष्टत्वबोधाय भगवत्पदम्। साभिप्रायत्वबोधाय कथने प्रपदं मतम्॥ २४ ॥

सर्वलीलाविशिष्ट स्वरूप बताने के लिए 'भगवत्' पद दिया है। भगवान के कहने में कुछ अभिप्राय है-यह 'प्र' पद से द्योतित किया है॥ २४ ॥

यदुक्तं हरिणा तद्धि प्रत्यक्षरमिहोच्यते। ब्रह्मसम्बन्धकरणादित्यादि भगवद्वचः॥ २५ ॥

हरि ने जो कुछ कहा, वह 'ब्रह्मसंबंधकरणात्' इत्यादि इत्यादि भगवद्-वचनों को यहाँ अक्षरश कह रहे हैं॥ २५ ॥

आदौ सम्बन्धकरणं कन्ययेव स्वयंवरे।

सर्वप्रथम ब्रह्मसंबंध करने का अर्थ है-जैसे स्वयंवर में कन्याद्वारा वर का चयन किया जाता है ॥ २५ १/२॥

स्वस्य सर्वपदार्थानां मनसा तेन योजनम्॥ २६ ॥

उस ब्रह्मसंबंध द्वारा स्वयं के समस्त पदार्थों को मन से भगवान में जोड़ना है॥ २६॥

सम्बन्धवत्या दूत्येव गुरुणा तत्कृतिर्भवेत्।

दोनों व्यक्तियों से संबंध रखनेवाली दूती की भाँति ब्रह्मसंबंध कराना 'गुरु' का कार्य है॥ २६ १/२॥

सम्बन्धश्चापि निर्दोषस्तथा सर्वसमः स्मृतः॥ २७ ॥

वह संबंध भी 'निर्दुष्ट' एवं 'समानरूप' से सभी को होता है॥ २७ ॥

वह्नेरिवेति बोधाय प्रोक्तं ब्रह्मपदं पुनः।

यह संबंध अग्नि की भाँति है, इस कारण यहाँ 'ब्रह्म' पद दिया गया है॥ २७ १/२॥

टीकाकार यहाँ ब्रह्मसंबंध अथवा 'ब्रह्म' पद के लिए अग्नि का उदाहरण दे रहे हैं। आगे एक श्लोक द्वारा भी वे ये कह रहे हैं कि, ब्रह्म 'निर्दुष्ट' है एवं 'समान' है। अग्नि के लक्षण भी यही हैं। अग्नि के संपर्क में भी आने से सभी पदार्थ शुद्ध हो जाते हैं। दाहकरूप से अग्नि सभी के लिए समान है, फिर वह चिता की अग्नि हो या रसोईघर की, कोई अंतर नहीं पड़ता। ठीक इसी प्रकार ब्रह्मसंबंध करने से सभी शुद्ध भी हो जाते हैं और ब्रह्मसंबंध कोई भी करे, वह सभी के लिए समान है, यह अर्थ है।

'निर्दोषं हि समं ब्रह्मे'त्यत्रोक्तं तत्तथाविधम्॥ २८ ॥

इसी कारण ब्रह्म के लिए 'ब्रह्म निर्दुष्ट एवं सम है (भ.गी.५/१९)' यह कहा गया है॥ २८ ॥

स्यात्प्रयुक्ते कृष्णपदे विषर्मत्वं गुणाहितिः। सम्बन्धे तादृशापेक्षा नास्ति दोषनिवारणात्॥ २९ ॥

यदि 'कृष्ण' पद प्रयुक्त करते तो विषमता आ जाती । किंतु ब्रह्म के गुणों का आधान जीव में हो जाने से दोषनिवृत्त हो जाते हैं अतः यहाँ विषमता की आपत्ति नहीं है।

टीकाकार इस बात का स्पष्टीकरण कर रहे हैं कि यहाँ ग्रंथ की दूसरी कारिका में 'कृष्ण' पद न देकर 'ब्रह्म' पद क्यों दिया गया? जानना चाहिए कि 'निर्दोषं हि समं ब्रह्मः' की उक्ति-अनुसार ब्रह्म समस्त जीवों के लिए समान है। चाहे जैसा अधिकारी हो, ब्रह्म तो सभी के लिए समान ही है। किंतु 'कृष्ण के साथ ऐसा नहीं है। वे भक्तों के लिए भिन्न हैं और असुरों के लिए भिन्न। पांडवों के लिए भिन्न हैं और कौरवों के लिए भिन्न। उनके बाललीला-विशिष्ट स्वरूप, वयस्कलीलास्वरूप एवं प्रौढ़लीलास्वरूप में भी भेद है। कृष्ण की समस्त लीलाओं में भेद देखा जाता है। यहाँ किंतु, अपेक्षा 'समत्व' की है अतः 'कृष्ण' पद न देकर 'ब्रह्म' पद दिया गया है।

दोषमात्रनिवृत्त्यर्थं ब्रह्मसम्बन्ध उच्यते। गुणाधायकसम्बन्धः फलसामयिको मतः॥ ३० ॥

ब्रह्मसंबंध मात्र दोषनिवृत्ति के लिए कहा गया है। गुण प्राप्त कराने वाला संबंध तो फलदशा के समय कहा गया है॥ ३० ॥

तस्मिन्वाच्ये कृष्णपदं वाच्यं कृष्णः फलात्मकः। तत्सम्बन्धे स्वतःसिद्धे फलसंसिद्धिसंभवात्॥ ३१ ॥

फलदशा के समय 'ब्रह्म' न कह कर 'कृष्ण' पद ही कहा जायेगा, क्योंकि 'कृष्ण' ही फलात्मक स्वरूप हैं। क्योंकि ब्रह्म से संबंध होने पर भी कृष्ण से संबंध होना तो स्वतःसिद्ध है अतः फलसिद्धि भी होगी ही॥ ३१ ॥

अपरा कृष्णसेवादिकृतिर्वैयर्थ्यमाप्नुयात्।

और यदि कृष्ण के साथ संबंध न ही हुआ होता तो कृष्णसेवा करनी ही व्यर्थ हो जाती ॥ ३१ १/२॥

अतः साधनसम्बन्धो विवाह इव लौकिके॥ ३२ ॥

अतः ब्रह्मसंबंध 'साधन' है, जैसे लौकिक में विवाह होता है॥ ३२ ॥

तेन निर्दुष्टतासिद्धिर्विधिनेव रतौ पुनः। ईदृक्सम्बन्धबोधाय प्रोक्तं ब्रह्मपदं पुरा॥ ३३ ॥

जिस विधि द्वारा सर्वप्रथम परस्पर के संबंध में निर्दुष्टता आती है और पश्चात् प्रेम सिद्ध होता है-ऐसा संबंध बताने के लिए सर्वप्रथम 'ब्रह्म' पद कहा गया है॥ ३३॥

विषमश्च हरिः कृष्णो न यायात्समतां यतः। हेतुसम्बन्धसम्बन्धात्कृष्णः साधनतां गतः॥ ३४ ॥

चूँकि हरि-कृष्ण विषम हैं अतः उनमें समता नहीं आ सकती। अक्षरब्रह्म के संबंधी होने के संबंध से 'कृष्ण' भी साधन हुए हैं॥ ३४ ॥

ब्रह्मेति प्रोच्यते सर्वसमत्वाद्दोषनिर्हृतेः। व्यापकत्वं च सम्बन्धे तेनैव विनिरूपितम्॥ ३५ ॥

ब्रह्म के लिए सभी समान होने से, उसके संबंध द्वारा दोषनिवृत्त होने से, एवं उसके व्यापक होने के कारण ब्रह्मसंबंध में 'ब्रह्म' पद का ही निरूपण किया गया है॥ ३५ ॥

---

१ विषयत्वम्। २ हेतोरक्षरस्य सम्बन्धो यस्य कृष्णस्य तस्य सम्बन्धात्।

करणोक्त्या न मुख्योत्र भावित्वान्मानसी कृतिः।

'ब्रह्मसंबंध+करणात्' इस पद में जो 'करण' पद कहा गया है, वह यह बता रहा है कि मानसी-सेवा की संभावना भविष्य में होने के कारण ब्रह्मसंबध केवल कर लिया गया है, सिद्ध नहीं हुआ॥ ३५ १/२॥

टीकाकार 'ब्रह्मसंबंधकरणात्' पद को स्पष्ट कर रहे हैं। वे कहते हैं कि इस पद से यह स्पष्ट हो रहा है कि अभी आपने मात्र ब्रह्म से संबंध किया है, पूर्णरूपेण संबंध अभी स्थापित हुआ नहीं है। पूर्णरूपेण संबंध तो तनुवित्तजा-सेवा द्वारा मानसी की कक्षा तक पहुँचने पर होगा। अतः'ब्रह्मसंबंधकरणात्' पद में 'करण' पद भविष्य में सिद्ध होने वाली मानसी का द्योतक मात्र है और इसी कारण मुख्य नहीं है। यह अर्थ है।

युक्तः[1] प्रथमसम्बन्धो भावात्मा भावरूपिणा॥ ३६ ॥

अतः भावात्मा-भगवान के साथ प्रथमसंबंध भावात्मक ही होता है, यह उचित है॥ ३६॥

टीकाकार कह रहे हैं कि, इस कारण से जीव का ब्रह्मसंबंध द्वारा होता प्रथमसंबंध साधन कोटि का ही मानना चाहिए। फलदशा तो ब्रह्मसंबंध के पश्चात् आचार्यचरणों द्वारा निर्दिष्ट सेवा-पद्धति द्वारा होगी।

अग्रिमोपि तथाभूतः[2] सर्वथा नात्र संशयः। विशेषः परमेतावान् प्रथमो मानसो मतः॥ ३७ ॥

ब्रह्मसंबंध के पश्चात् का संबंध भी सर्वथा भावात्मक ही है, इसमें कोई संशय नहीं है तथापि इसमें इतना विशेष अवश्य है कि प्राथमिक संबंध तो मानसिक ही होता है॥ ३७॥

अर्थात् ब्रह्मसंबंध होने के पश्चात् का संबंध क्रियात्मक हो जायेगा, ऐसा नहीं है। वह भी भावात्मक तो होगा ही परंतु ब्रह्मसंबंध के द्वारा होता पहला संबंध तो मानसिक है-यह टीकाकार कहना चाह रहे हैं।

सर्वेन्द्रियैस्तथा चान्तःकरणैरात्मनापि हि। साक्षात्स्वरूपसम्बन्धो[3] द्वितीय इति निश्चयः॥ ३८ ॥

समस्त इंद्रियों के द्वारा, अन्तःकरण के द्वारा एवं आत्मा के द्वारा साक्षात् स्वरूप से होता संबंध द्वितीय है, यह निश्चित है॥ ३८॥

परं तत्रेन्द्रियादीनां कृत्यादीनां च सर्वथा। भावात्मकत्वं मन्तव्यं तादृग्रूपानुभूतितः॥ ३९ ॥

चूँकि भगवान का स्वरूप भावात्मक है अतः इन समस्त इंद्रियों के कार्य भी सर्वथा भावात्मक ही होने चाहिए॥ ३९ ॥

अप्राकृतत्वं चैतद्धि बोध्यं स्यादिन्द्रियात्मनाम्।

एवं भगवद्-स्वरूप को अप्राकृत समझना चाहिए, यह बोधित किया जा रहा है॥ ३९ १/२॥

मानसे पूर्वसम्बन्धे या कृतिस्तनुवित्तजा॥ ४० ॥

सा हि साधनतां प्राप्ता प्राकृतेन्द्रियदेहजा।

पूर्व में कहा मन से होने वाला संबंध होने पर; तनुवित्तजा-सेवा प्राकृत-देह एवं इंद्रियों से होने के कारण साधनरूपा हो जाती है॥ ४० १/२॥

तथोक्तमस्मदाचार्यैस्तत्सिद्धयै तनुवित्तजा॥ ४१ ॥

अतः हमारे श्रीमदाचार्यचरणों ने 'तत्सिद्धयै तनुवित्तजा (सि.मु./२)' यह कहा है॥ ४१ ॥

एतादृशस्य योगस्य सकृत्करणमात्रतः। अयोग्यानां च योग्यानां सर्वेषामधिकारिणाम्॥ ४२ ॥

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां ब्राह्मणादेरपि स्वतः। ज्ञानाज्ञानविभेदेन हीनमध्याधिकारिणाम्॥ ४३ ॥

श्रीकृष्णसात्कृतासूनामुत्तमाधिकृतावपि। भवति ब्रह्मसम्बन्धः समत्वात्सकलान्प्रति॥ ४४ ॥

इस प्रकार भगवान से मात्र एक बार ही जुड़ जाने से योग्य या अयोग्य समस्त अधिकारियों का, स्त्री-शूद्र-द्विजबंधुओं-ब्राह्मणों का भी, ज्ञान-अज्ञान के भेद से हीनमध्यम-अधिकारियों का एवं कृष्ण से आत्मसात कर लिए हैं प्राण-ऐसे उत्तम अधिकारियों-आदि सभी को समान रूप से ब्रह्मसंबंध होता है॥ ४२,४३,४४ ॥

पुरुषोत्तमरूपत्वान्न चिन्ता तदनुग्रहे। न वा समागतां कन्यां त्यजेत्पुरुषकेसरी॥ ४५ ॥

चूँकि भगवान 'पुरुषोत्तम' हैं अतः उनके अनुग्रह में चिंता नहीं करनी चाहिए। क्योंकि लोक में भी जो सिंहपुरूष होते हैं, वे शरणागत कन्या का त्याग नहीं करते॥ ४५ ॥

न च सामर्थ्यसहितः कुर्यात्कांचिद्विचारणाम्।

वे सामर्थ्यवान हैं अतः कोई भी विचार नहीं करना चाहिए॥ ४५ १/२॥

बलादङ्गीकृतिकृतिर्न गृह्णीयात्समर्पितम्॥ ४६ ॥

जिस प्रभु का स्वभाव बलपूर्वक भी अपने जीव को अंगीकार कर लेने का है, वह दीनतापूर्वक किए गये समर्पण को क्या स्वीकार नहीं करेगा? अवश्य करेगा॥ ४६ ॥

---

१ सम्बन्धः। २ न मुक्तः। ३ प्रतिमासम्बन्धः।

अतो न चिन्तालेशोपि विधेयः स्वीकृतौ हरेः। एतदेवास्मदाचार्यैर्नवरत्ने निरूपितम्॥ ४७ ॥

तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे।

अतः हरि के द्वारा स्वीकार कर लिए जाने पर लेशमात्र भी चिंता नहीं करनी चाहिए। यही हमारे आचार्यचरणों ने 'तथा .... श्रीपुरूषोत्तमे (नव./५)' इत्यादि वाक्यों द्वारा निरूपण किया है॥ ४७ १/२॥

अयमेवात्र संस्कारो मन्तव्यः कृष्णसेवने॥ ४८ ॥

यहाँ भी 'कृष्णसेवा' करते समय इसी संस्कार का ध्यान रखना चाहिए॥ ४८ ॥

उपदेशस्तु सावित्र्या यथा वैदिककर्मणि। तापक्लेशगुणाधानं शुद्धिवच्च समर्पणात्॥ ४९ ॥

जिस प्रकार वैदिक-कर्मों में गायत्रीमंत्र का उपदेश दिया जाता है एवं ग्रहणकर्ता शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार समर्पण द्वारा भगवान के लिए तापक्लेश-आदि गुणों का आधान होने पर जीव शुद्ध हो जाता है॥ ४९ ॥

यथा हि संस्कृतः शुद्धः कर्ममार्गेभिधीयते। भक्तिमार्गे तथा तापक्लेशैः शुद्धो निरूप्यते॥ ५० ॥

जैसे कर्ममार्ग में संस्कार किए गये पदार्थों को शुद्ध कहा जाता है, वैसे भक्तिमार्ग में तापक्लेश के द्वारा शुद्धता निरूपित की जाती है॥ ५० ॥

शुद्धो यत्कुरुते कर्म तत्सर्वं सफलं यथा। तथात्र तापक्लेशार्तकृता सेवापि मानसी॥ ५१ ॥

जैसे शुद्ध-व्यक्ति के द्वारा किए गये सभी कर्म सफल होते हैं, वैसे यहाँ तापक्लेश से आर्त व्यक्ति द्वारा की जाने वाली सेवा 'मानसी' को प्राप्त करती है॥ ५१ ॥

संस्कारत्वे तु सम्बन्धो देहमात्रं विशोधयेत्। गायत्रीवन्न वै जीवमित्याशङ्क्यात्र चोदितम्॥ ५२ ॥

यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि, गायत्री-उपदेश की भाँति ब्रह्मसंबंध-संस्कार होने पर क्या केवल देह की ही शुद्धि होती है, जीव की नहीं?॥ ५२ ॥

सर्वशोधकतासिद्धयै पदं यद्देहजीवयोः।

इसी शंका के निवारण के लिए और समस्तशुद्धि की सिद्धि के लिए **देहजीवयोः** पद दिया गया है ॥ ५२ १/२॥

जीवशुद्धिरविद्यातः संसाराद्विस्मृतेर्हरेः॥ ५३ ॥

अशुद्धिस्तदभावात्मा ब्रह्मसम्बन्धतस्तु सा।

अविद्या एवं संसारासक्ति से हरि की विस्मृति एवं जीव की अशुद्धि हो जाती है। इनसे दूर रह कर ब्रह्मसंबंध द्वारा जीवशुद्धि होती है॥ ५३ १/२॥

भवति ब्रह्मसम्बन्धे ह्यहन्तामममतागतिः॥ ५४ ॥

तापक्लेशे च भगवत्स्मृतिः सार्वदिकी मता।

ब्रह्मसंबंध होने पर अहंताममता दूर हो जाती हैं एवं तापक्लेश होने पर सर्वदा भगवत्स्मृति बनी रहती है॥ ५४ १/२॥

अतः शुद्धो हि योग्यस्तु भगवद्भजने मतः॥ ५५ ॥

अतः भगवद्-भजन में शुद्ध-जीव ही योग्य माना गया है॥ ५५ ॥

निवृत्तिरत्र दोषाणामेकदैव विवक्षिता। अतः सर्वपदं प्रोक्तं दोषाणां विनिवर्तने॥ ५६ ॥

यहाँ समस्त दोषों की एक बार में ही निवृत्ति होनी कही गई है। अतः दोषों के निवारण में 'सर्व' पद प्रयुक्त किया गया है॥ ५६ ॥

दोषत्वेनैव दोषाणां संग्रहस्तु निरूपितः। न प्रत्येकमपारत्वात्ते शक्यन्त उदीरितुम्॥ ५७ ॥

समस्त दोषों का संग्रह 'दोष' शब्द से कहा गया है, प्रत्येक दोष को एक[२] करके नहीं कहा गया है क्योंकि वे अपार हैं और कहने कठिन ॥ ५७ ॥

बुद्धिसौकर्यसिद्धयर्थं तत्पञ्चविधतोदिता। दुष्यन्ति यैस्तु देहाद्या जीवाः कृष्णोपयोगतः॥ ५८ ॥

निवर्तन्ते सर्वथैव ते दोषाः परिकीर्तिताः।

अतः बुद्धि की सुगमता के लिए इन समस्त दोषों के संग्रह को पाँच प्रकार से कहा है जो देहजीव को दुष्ट करते हैं किंतु कृष्ण में उपयोग करने से ये कहे गये समस्त दोष सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं ॥ ५८ १/२॥

निवृत्तिस्तु द्विधा दूरीकृतेः शुद्धिकृतेरपि॥ ५९ ॥

इन दोषों की निवृत्ति दो प्रकार से कही गई है एक इन्हें 'दूर करना', दूसरी 'शुद्धि करना'॥ ५९ ॥

आद्या तु वस्त्रमालिन्यनिवृत्तिरिव शोधकैः। द्वितीया मृण्मयस्येव पाकेनेव च शुद्धता॥ ६० ॥

पहला प्रकार यह है कि, जैसे शोधक पदार्थों द्वारा वस्त्रों से मैल दूर किया जाता है। दूसरा प्रकार यह कि, जैसे मिट्टी का पात्र अग्नि में पकने पर शुद्ध होता है॥ ६० ॥

सदोषाङ्गीकृतेस्तस्यास्तद्गतौ व्यर्थता भवेत्। अतोत्र विनिवृत्तिस्तु द्वितीयैव हि युज्यते॥ ६१ ॥

यदि भगवान जीव को सदोष ही अंगीकार करें तो शरणागति ही व्यर्थ हो जायेगी। अतः दूसरे प्रकार की निवृत्ति ही यहाँ उपयुक्त होती है॥ ६१ ॥

एतदेव हि गङ्गात्वमित्यत्राग्रे निरूपितम्। हिशब्दः सर्वदोषाणां निवृत्तौ युक्तिबोधकः॥ ६२ ॥

यही बात आगे 'गंगात्व' इस पद द्वारा निरूपित की गई है । 'हि' शब्द समस्तदोषों की निवृत्ति में युक्तता का द्योतक है॥ ६२ ॥

कोटिसूर्याग्निरूपस्य सम्बन्धाद्दोषवारणे। निश्चयार्थोपि बोद्धव्यः सत्यसङ्कल्पवाक्यतः॥ ६३ ॥

करोड़ों सूर्य की अग्नि के स्वरूप भगवान से संबंध होने के कारण दोषों की निवृत्ति निश्चित ही है क्योंकि भगवान सत्य-संकल्पी हैं और ये (सि.र. में कहे गये) उनके वाक्य हैं॥ ६३ ॥

अविद्यारूपतस्तेषां संख्या चोक्ता तथाविधा। स्मृता इति पदोक्तौ च प्रसिद्धिरपि बोधिता॥ ६४ ॥

सर्वश्रुतिपुराणेषु लोके वेदेपि चैव हि।

ये दोष अविद्यारूप हैं अतः इनकी संख्या भी पाँच कही गई है। और ये सभी दोष श्रुतिपुराणों में, लोक में, वेद में प्रसिद्ध हैं, यह 'स्मृता' पद द्वारा कहा गया है॥ ६४ १/२॥

तेषु पञ्चविधत्वोक्त्या तत्रैवान्यनिवेशनम्॥ ६५ ॥

इन दोषों को जो पाँच प्रकार का कहा है, उनमें ही अन्य दोषों को भी समाविष्ट कर लेने चाहिए॥ ६५ ॥

देहेन सह जायन्ते जीवेनापि तथा पुनः। ते हि शूद्रत्वसंसारित्वादयः सहजा मताः॥ ६६ ॥

देह के साथ उत्पन्न होने वाले एवं जीव से भी उत्पन्न होने वाले जो 'शूद्रत्व' एवं 'संसारासक्ति' जैसे दोष हैं, वे 'सहजा' माने गये हैं॥ ६६ ॥

नन्वासुरत्वं सहजं कथं न हि निवर्तते। ब्रह्मसम्बन्धतः सर्वदोषदाहकतोपि हि॥ ६७ ॥

यहाँ ये शंका होती है कि, यदि ब्रह्मसंबंध समस्त दोषों का दाहक है, तो उससे सहज-आसुरता क्यों निवृत्त नहीं होती है?॥ ६७ ॥

इति चेत्सत्यमेवास्ति परं सम्बन्धसम्भवः। दुर्लभस्तेषु तद्दोषाद्भक्तिमार्गाप्रवेशतः॥ ६८ ॥

यदि ये शंका हो, तो ठीक है परंतु इतना जान लेना चाहिए कि सर्वप्रथम ऐसे आसुरी-जीवों को ब्रह्मसंबंध होना ही दुर्लभ है क्योंकि ऐसों का भक्तिमार्ग में प्रवेश ही नहीं होता॥ ६८ ॥

यथा कथञ्चित्सम्बन्धे तन्निवृत्तिरपीष्यते। अत एवावतारे तु सम्बन्धात्तत्कृतार्थता॥ ६९ ॥

यदि किसी प्रकार से हो भी जाय तो उनकी निवृत्ति भी होती है किंतु अवतारदशा में। अतएव अवतारदशा में प्रभु के साथ संबंध होने से उनकी कृतार्थता होती है॥ ६९ ॥

परं रूपेण करणं न भक्त्येति विनिश्चयः। इदानीं भक्तिमात्रेण ह्युद्धारो भगवन्मतः॥ ७० ॥

अतः वह कृतार्थता स्वरूप के द्वारा होती है, भक्ति-द्वारा नहीं यह निश्चय है। परंतु इस समय मात्र भक्ति द्वारा उद्धार करना भगवान को अभीष्ट है॥ ७० ॥

तदा क्रोधादिभावेपि नेदानीं तद्धि साधनम्। भक्तिसाधनसत्त्वेन तेषां भक्तिविरोधतः॥ ७१ ॥

वहाँ अवतारदशा में तो क्रोध-आदि भी प्रभुप्राप्ति के साधन थे परंतु इस समय नहीं क्योंकि इस समय तो भक्ति ही साधन है एवं क्रोध आदि दोष भक्ति के विरोधी हैं॥ ७१ ॥

इस पंक्ति को समझने के लिए देखें 'गोप्यः कामात्.... (श्री.भा.७/१/३०)' जहाँ प्रभु ने अवतारदशा में कंस एवं शिशुपाल जैसे क्रोध भयादि भाव से युक्तों को भी स्वीकार किया।

सन्तो न कुर्युस्तत्सङ्गमिति सङ्गोपि दुर्लभः। तस्मादनवतारे तु नासुराणां फलं भवेत्॥ ७२ ॥

इसी कारण संतजन दुष्टों का संग नहीं करते अतः ऐसे दुष्टजनों को सत्संग भी दुर्लभ हो जाता है। इस कारण अनवतार दशा में असुरों को फल प्राप्त नहीं होता॥ ७२ ॥

अङ्गवङ्गादिगमनजनिता दैशिका मताः।

अंग-बंग आदि देश में गमन करने से उत्पन्न हुए दोष 'देशदोष' हैं॥ ७२ १/२॥

यथा परीक्षितः कालस्थानदानात्तथा पुनः ॥ ७३ ॥

कालावेशेन ये जातास्ते दोषाः कालिकाः स्मृताः।

जैसे राजा परिक्षित ने कलियुग को पाँच स्थान प्रदान किए, उसके अनुसार काल (कलियुग) के आवेश के द्वारा जो दोष उत्पन्न होते हैं, वे 'कालदोष' हैं॥ ७३ १/२॥ इस पंक्ति को विशेषरूप से समझने के लिए देखें (श्री.भा.१/१७/३५....४१)

यथा लोके राजसेवा योग्या नैव कुरूपिणः ॥ ७४ ॥

चातुर्यरहिता मूर्खा दुःशीलाः स्तेयकारिणः। कुरूपित्वादयो दोषा अतस्ते लौकिकाः स्मृताः ॥ ७५ ॥

जैसे लोक में कुरूप व्यक्ति राजसेवा के योग्य नहीं होता वैसे चतुराई से रहित, मूर्खता, दुष्टस्वभाव, चोरी, कुरूपता इत्यादि दोष 'लौकिक' कहे गये हैं॥ ७५ ॥

वेदोक्तविध्यकरणान्निषिद्धकरणादपि। वैदिकास्ते समाख्याता आज्ञाभङ्गो यतो हरेः ॥ ७६ ॥

वेद में कही विधि को न करने से अथवा निषिद्ध कर्मों को करने से उत्पन्न हुए दोष 'वैदिक' कह गये हैं क्योंकि इसमें हरि की आज्ञा भंग करने का दोष लगता है। (वेदोक्त कर्म करना भगवान की आज्ञा कही गई है) ॥ ७६ ॥

सान्निध्यादेव दोषाणामेकोक्तिर्देशकालयोः। निषिद्धकृतिजन्यानां तेषां लोकेपि सम्भवात्॥ ७७ ॥

ये दोष देश और काल में समानरूप से ही होंगे अतः इन दोनों को एक करके **'देशकालयोः'** पद दिया गया है। क्योंकि निषिद्धकृति से उत्पन्न होने वाले दोष लोक में ही संभव होते हैं॥ ७७ ॥

अपकीर्त्या लौकिकेषु साङ्कर्याद्वेदवर्तिनाम्। अतस्तथैव ग्रन्थेऽस्मिन्नेकोक्तिर्लोकवेदयोः ॥ ७८ ॥

लौकिक में अपकीर्ती के द्वारा दोष उत्पन्न होते हैं एवं विजातीय पदार्थों का मिश्रण हो जाने से वेद के अनुयायियों में दोष उत्पन्न हो जाते हैं अतः इस ग्रंथ में इन्हीं दोनों के संदर्भ में **लोकवेदयोः** पद कहा गया है॥ ७८ ॥

अतो लोकेषु संख्याया नाधिक्यमिह शङ्कितम्।

अतः लोक में इन दोषों की संख्या यहाँ बताए गये दोषों से अधिक नहीं है-ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए॥ ७८ १/२॥

सम्यग् योगो हि संयोगः कामलोभादयश्चसः ॥ ७९ ॥

भलीभाँति किसी से जुड़ना 'संयोग' कहलाता है। इस प्रकार संयोग से उत्पन्न होनेवाले दोष काम-लोभ आदि हैं॥ ७९ ॥

नैरन्तर्येण संवासशयनासनभोजनैः। म्लेच्छशूद्रादिसंयोगस्तज्जाः संयोगजाः स्मृताः॥ ८० ॥

निरंतर दुष्ट लोगों के साथ रहने, साथ सोने, साथ बैठने, साथ भोजन करने एवं म्लेच्छ-शूद्र जैसे व्यक्तियों के संग संयोग के कारण उत्पन्न होने वाले दोष 'संयोगजा' हैं॥ ८० ॥

स्पर्शजाः स्पर्शमात्रेण प्रायश्चित्तं विधीयते। यत्र चाण्डालपतितादीनां ते तादृशा मताः॥ ८१ ॥

चाण्डाल, पतित आदि लोगों का स्पर्श होने मात्र से जहाँ प्रायश्चित का विधान हो, ऐसे स्पर्श द्वारा उत्पन्न होने वाले दोष 'स्पर्शजा' कहे गये हैं॥ ८१ ॥

एवं पञ्चविधा दोषा विज्ञेया भगवत्परैः। उक्ता अनुक्ता सर्वेपि चकारेण समुचिताः॥ ८२ ॥

इस प्रकार भगवदीयों को ये पाँच प्रकार के दोष जान लेने चाहिए। यहाँ तीसरी कारिका में प्रयुक्त हुए 'च' शब्द से कहे-अनकहे समस्त दोष इन्हीं पाँच में सम्मिलित हैं॥ ८२ ॥

स्वानुभूतेः परप्रोक्तात्प्रतीता अपि सर्वथा। सेवायां बाधकत्वेन न मन्तव्या विशेषतः॥ ८३ ॥

ये समस्त दोष स्वयं को अनुभूत हों या दूसरे के कहने से प्रतीत होते हों; विशेष यह है कि, इन्हें सेवा में बाधक तो सर्वथा नहीं मानने चाहिए॥ ८३ ॥

कथञ्चनेति पदतः सूचितोर्थो निरूपितः। तव्यप्रत्ययप्रयोगेनामननं सर्वथोच्यते॥ ८४ ॥

'कथञ्चन' इस पद के द्वारा इन दोषों को न मानने का अर्थ सूचित किया गया है। **'मन्तव्याः'** पद में प्रयुक्त हुए 'तव्य' प्रत्यय से यह कहा जा रहा है कि, सेवा में इन दोषों का विचार सर्वथा नहीं करना चाहिए॥ ८४ ॥

अन्यथा स्यादविश्वासात्समस्तं फलमन्यथा।

अन्यथा तो अविश्वास करने से अपेक्षित फल प्राप्त नहीं होगा॥ ८४ १/२॥

ननु दोषनिवृत्त्यर्थं प्रायश्चित्तादिकं कथम्॥ ८५ ॥

अन्यत्र विहितं चात्र तदेव न किमुच्यते। किमर्थं ब्रह्मसम्बन्ध इति चेत्तत्र चोच्यते॥ ८६ ॥

---

१ दोषेषु।

यहाँ यह शंका होती है कि, दोषनिवृत्ति के लिए अन्यत्र प्रायश्चित-आदि तो विहित हैं ही, अतः वही न कह कर 'ब्रह्मसंबंध' करने के लिए क्यों कह रहे हैं? तो इसका समाधान आगे कह रहे हैं॥ ८६ ॥

विना तु ब्रह्मसम्बन्धं प्रायश्चित्तादिभिः पुनः। युगपत्सर्वदोषाणां न निवृत्तिर्भवेदिति॥ ८७ ॥

ब्रह्मसंबंध के बिना प्रायश्चित-आदि के द्वारा एक ही समय में समस्त दोषों की निवृत्ति नहीं होती है॥ ८७ ॥

ब्रह्मसम्बन्धकरणं सर्वदोषनिवर्तकम्। तदभावे कथं सद्यः सेवायामधिकारिता॥ ८८ ॥

'ब्रह्मसंबंध करना' अर्थात् समस्तदोषों का निवारण करना। इसके बिना सेवा में शीघ्र अधिकारिता कैसे उत्पन्न होगी?॥ ८८ ॥

अत एवाग्रिमे पद्ये प्रोक्तं सर्वपदं पुनः। अन्यथा सर्वदोषाणामित्यत्रोक्तार्थसूचकम्॥ ८९ ॥

अतएव आगे के पद्य में (चौथे श्लोक में) 'सर्व' पद दूसरी बार कहा गया है। 'अन्यथा सर्वदोषाणां' पद में यही अर्थ सूचित किया गया है॥ ८९ ॥

एवं हि ब्रह्मसम्बन्धः संस्कारोत्र निरूपितः। तदुत्तरं तस्य सर्वसमर्पणमिहोच्यते॥ ९० ॥

इस प्रकार ब्रह्मसंबंधरूपी संस्कार यहाँ निरूपित किया गया। इसके पश्चात् ब्रह्मसंबंधकर्ता का 'सर्वसमर्पण' अब यहाँ कहा जा रहा है॥ ९० ॥

यस्मात्कृतो हि सम्बन्धो विनियोगाय सर्वथा। स्वासम्बन्धि यतः कृष्णो न गृह्णातीति निश्चयः॥ ९१ ॥

भगवान में समस्त वस्तुओं का विनियोग करने के लिए ही ब्रह्मसंबंध किया जाता है क्योंकि कृष्ण स्वयं से असंबंधित कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं करते हैं, यह निश्चित है॥ ९१ ॥

एतदेवोक्तमाचार्यैर्वेणुगीतनिरूपणे। स्वभोगानन्तरं भोग्यो भगवान्भवतीति हि॥ ९२ ॥

यही आचार्यचरणों ने वेणुगीत के निरूपण में कहा है कि, स्वयं उपभोग कर लेने के पश्चात् भगवान भोग्य बन जाते हैं॥ ९२ ॥ देखें सुबो.१०/१८/५ जहाँ आचार्यचरणों ने 'रन्ध्रान् वेणोः' पद की व्याख्या की है।

तत्रापि ब्रह्मसम्बन्धो वेणुना शब्दरूपिणा। ब्रह्मणा येन संसिद्धं देहादिविनियोजनम्॥ ९३ ॥

वहाँ वेणुगीत में भी वेणु के शब्दों द्वारा ब्रह्मसंबंध हुआ है। जिसके द्वारा ब्रह्म-श्रीकृष्ण ने देह-आदि का विनियोग भगवान में करना सिद्ध किया है॥ ९३ ॥

तस्मात्सम्बन्धसहितो वर्जयेदसमर्पितम्। समर्पणं तु संसिध्येत्सम्बन्धादेव सर्वथा॥ ९४ ॥

अतः प्रभु से संबंधित जीव को असमर्पित का त्याग करना चाहिए। और समर्पण तो सर्वथा प्रभु से संबंध होने के द्वारा ही सिद्ध होगा॥ ९४ ॥

स्वसम्बन्धि यतः सर्वं गृह्णात्येवेति निश्चयः। समर्थं भक्त्युपहृतमतस्तु हरिणोदितम्॥ ९५ ॥

क्योंकि प्रभु स्वयं से संबंधित समस्त वस्तुओं को ग्रहण करते ही हैं, यह निश्चित है; इसी कारण हरि ने समर्थ होते हुए भी 'भक्ति से समर्पित किए गये का भोग करता हूँ (भ.गी. ९/२६)' यह कहा है॥ ९५ ॥

गीतायां भक्तिमार्गीयप्रभुणातिदयालुना। वस्तूनामिति यत्प्रोक्तं बहुत्वं तस्य चाशयः॥ ९६ ॥

दयालु-भक्तिमार्गीय प्रभु-श्रीकृष्ण ने प्रस्तुत ग्रंथ में जो 'वस्तूनां' कहा है, उसका आशय बहुलता में है॥ ९६ ॥

सर्वांशेनैव तत्त्यागो नैकांशेनेति बुध्यताम्।

अर्थात् असमर्पित का त्याग सर्वांश में ही करना चाहिए, किसी एक अंश में नहीं, यह जान लीजिए॥ ९६ १/२॥

यथा गायत्र्योपदेशः संस्कारोत्तरमुच्यते॥ ९७ ॥

श्रुतिस्मृत्युदिताचारस्तदभावे फलं न हि। आचरेदित्यनेनात्र ब्रह्मसम्बन्धतः परम्॥ ९८ ॥

जैसे यज्ञोपवित संस्कार होने के पश्चात् गायत्रीमंत्र का उपदेश किया जाता है एवं तत्पश्चात् श्रुतिस्मृति के कहे आचरण को न करने से फलप्राप्ति नहीं होती, वैसे ही यहाँ 'आचरेत्' (चौथे श्लोक में) पद से ब्रह्मसंबंध के पश्चात् असमर्पित-त्याग, समर्पित-ग्रहण इत्यादि आचरण कहे जा रहे हैं॥ ९८ ॥

समर्पणं तथाचारो ह्यसमर्पितवर्जनम्। तदभावेऽङ्गहीना तु सेवा नैव फलेदिह॥ ९९ ॥

वैसा आचरण सर्वसमर्पण एवं असमर्पित का त्याग है। इसके बिना अंगहीन-सेवा पुष्टिमार्ग में फलित नहीं होती॥ ९९ ॥

ननु सर्वं समर्प्यं चेद्वैदिकं लौकिकं तथा। न कुर्यात्कृष्णकार्याय सम्बन्धो विहितो यतः॥ १०० ॥

यहाँ शंका होती है कि यदि सर्वसमर्पण कर दिया है तो फिर क्या लौकिकवैदिक कार्य नहीं करने चाहिए? क्योंकि ब्रह्मसंबंध में तो समस्त कार्यों का संबंध कृष्ण के लिए विहित है॥ १०० ॥

न चान्यविनियोगोपि ह्युचितश्च निवेदिनाम्। इति चेदुच्यते सर्वं कुर्यादेव यथोदितम्॥ १०१ ॥

मर्यादामध्यपातेन पुष्टिमार्गनिरूपणात्। निवेदो वर्तते तेषां पदार्थानां पुराकृतः॥ १०२ ॥

और निवेदियों को भगवान के अतिरिक्त अन्यत्र विनियोग करना उचित भी नहीं है? यदि ऐसी शंका करें तो कह रहे हैं कि जैसा कहा गया है वैसे ही सभी कुछ करना चाहिए। क्योंकि उन लौकिकवैदिक कर्मों को भगवान के सन्मुख करके निवेदन करना होता है, दान नहीं। इस मर्यादा के साथ पुष्टिमार्ग का निरूपण हुआ है॥ १०१,१०२ ॥

तेनैव सकलं कुर्यात्समर्प्यैव हरौ परे। देहनिर्वाहवत्कृष्णप्रसादेनेति निश्चयः॥ १०३ ॥

इसी कारण परमात्मा-हरि को सभी कुछ समर्प कर ही समस्त कार्य करने चाहिए। जैसे कृष्णप्रसाद से देहनिर्वाह हो रहा है, वैसे सभी कुछ कृष्णप्रसाद रूप में मान कर ही करने चाहिए॥ १०३ ॥

स्वयं कुर्यान्न विश्वासं पुत्रादीनामपि क्वचित्। एवंप्रकारिकैवैषा स्थितिः पुष्टिफलावधि॥ १०४ ॥

ये सभी कुछ स्वयं ही करना चाहिए, पुत्र-आदि का विश्वास कभी नहीं करना चाहिए। पुष्टिफल प्राप्त होने तक इसी प्रकार से रहना चाहिए॥ १०४ ॥

मर्यादापीयमेवेह स्थित्यर्थमवगम्यताम्।

जीवननिर्वाह के लिए पुष्टिभक्तिमार्ग की यही मर्यादा है, जान लीजिए॥ १०४ १/२॥

नन्वेतदुचितं नैव यत्समर्पितयोजनम्॥ १०५ ॥

लौकिके वैदिके नीचप्रेतपित्रादियोगिनि। अतोऽसमर्पितैनैव तत्कार्यमिति चेन्न हि॥ १०६ ॥

यहाँ शंका होती है कि, लौकिक वैदिक में, नीच कार्यों में, प्रेत-पितृश्राद्ध आदि कार्यों में तो भगवान का समर्पण जोड़ना उचित नहीं है अतः इन कार्यों को तो असमर्पित वस्तुओं द्वारा ही करने चाहिए- यदि ये शंका हो तो कह रहे हैं, नहीं॥ १०६ ॥

युज्यते शेषभावास्था निखिलं तज्जुगुप्सितम्। अर्धभुक्तं देवदेवोपयोगाय भवेन्न तु॥ १०७ ॥

क्योंकि किसी अन्य के द्वारा उपभोग कर लिए जाने के पश्चात् शेष रहे समस्त पदार्थों के निंदित हो जाने की आपत्ति आ जाती है और ऐसी निंदित अर्धभुक्त वस्तु देवाधिदेव श्रीकृष्ण के उपभोगार्थ नहीं होती॥ १०७ ॥

न चोचितं सेवकानां स्वामिन्येवंविधार्पणम्। एवं समर्पणासिद्धौ सम्बन्धो विफलो भवेत्॥ १०८ ॥

अपने स्वामी को ऐसी निंदित वस्तु का समर्पण करना सेवकों के लिए उचित भी नहीं है। इस प्रकार भलीभांति समर्पण सिद्ध न होने से भगवद्-सबंध ही विफल हो जाता है॥ १०८ ॥

अतो निषिद्धं कृष्णस्य सामिभुक्तसमर्पणम्।

इस कारण कृष्ण को सामिभुक्त का समर्पण निषिद्ध है॥ १०८ १/२॥

ननु कृत्वाखिलं कर्म लौकिकं वैदिकं तथा॥ १०९ ॥

कृष्णार्पणैकबुद्ध्या वा पश्चात्कृष्णे समर्पयेत्। तदा न प्राप्यते दोषः कश्चित्तादृक्समर्पणे॥ ११० ॥

यहाँ शंका यह होती है कि यदि समस्त लौकिक-वैदिक कार्य एक श्रीकृष्ण को अर्पण करने की बुद्धि से किए जाएँ अथवा तो कार्य संपूर्ण होने के पश्चात् अर्पण कर दिए जाएँ; तब तो ऐसे समर्पण में कोई दोष नहीं है? तब ब्रह्मसंबंध अथवा पूर्व में ही समर्पण इत्यादि करने की क्या आवश्यकता रह जाती है? यदि ऐसी शंका करे तो कह रहे हैं, नहीं॥ १०९,११० ॥

इति चेद्देवदेवो हि यस्मात्कृष्णो न केवलः। अतः सेवकशेषो हि सामिभुक्तं हरेः स्मृतम्॥ १११ ॥

क्योंकि देवाधिदेव तो केवल श्रीकृष्ण ही हैं। अतः सेवक के उपभोग करने के पश्चात् शेष रही वस्तु स्वामी के लिए अर्धभुक्त कही गई है॥ १११ ॥

कृष्णार्पणैकमत्या वा कृत्वा कृष्णसमर्पणम्। तत्रापि स्यादन्यशेषो मतिमात्रेण चार्पणात्॥ ११२ ॥

भले ही एक श्रीकृष्ण को अर्पण करने की बुद्धि द्वारा लौकिक वैदिक कार्य किए जाएँ अथवा तो करने के पश्चात् कृष्ण को समर्पण किए जाएँ; वह भी अर्धमुक्त या अन्यशेष ही कहलायेगा क्योंकि वहाँ केवल मति से अर्थात् मानसिक समर्पण ही हुआ है, प्रत्यक्ष समर्पण नहीं॥ ११२ ॥

सर्वथा नार्पितं कृष्णे तन्न गृह्णाति केशवः। यतः सम्बन्धवैयर्थ्यमत आदौ समर्पणम्॥ ११३ ॥

और जो कृष्ण को सर्वथा अर्पित ही नहीं किया गया है, उसे वे ग्रहण ही नहीं करते। इस प्रकार वह भगवद्-संबंध ही व्यर्थ हो जाता है अतः सर्वप्रथम ही समर्पण करना चाहिए॥ ११३ ॥

तत्रापि सर्ववस्तूनां सर्वकार्ये तथैव च। लौकिके वैदिके वापि ह्युत्तमेऽनुत्तमेपि च॥ ११४ ॥

वहाँ भी समस्त वस्तुओं का समर्पण करना चाहिए, उसी प्रकार समस्त कार्यों में करना चाहिए, चाहे वे लौकिककार्य हों या वैदिक, उत्तम हों या अनुत्तम भी॥ ११४ ॥

पश्चाद्विधेयं सर्वं हि तदा सार्थकता भवेत्। उच्छिष्टदाने सर्वेषां माहात्म्यं चापि सिध्यति॥ ११५ ॥

ऐसे समर्पण करने के पश्चात् ही सब कुछ करना चाहिए, तब ही ब्रह्मसंबंध की सार्थकता होती है और भगवान का उच्छिष्ट देने में सभी का माहात्म्य भी सिद्ध होता है॥ ११५ ॥

नन्वेवं लौकिकार्थं हि वैदिकार्थं तथा पुनः। समर्पितपदार्थानां ग्रहणे दोषसम्भवः॥ ११६ ॥

दत्तापहाररूपो हि धर्ममार्गनिरूपितः। भगवच्छास्त्रसिद्धोपि नैवेद्यग्रहणात्मकः॥ ११७ ॥

'अपि दीपावलोकं म' इत्यादिप्रभुणोदितः।

यहाँ एक शंका यह होती है कि इस प्रकार यदि लौकिक या वैदिक कार्यों के लिए प्रभु को समर्पित किए गये पदार्थों को ग्रहण करें तो दत्तापहाररूप दोष संभव होता है जो धर्ममार्ग में निरूपित किया गया है। भगवान को निवेदित की गई वस्तु को ग्रहण करने जैसा दोष भगवत्-शास्त्र द्वारा सिद्ध भी है एवं प्रभु ने 'अपि दीपावलोकं मे (श्री.भा.११/११/४०)' इत्यादि वाक्यों से यही कहा भी है?॥ ११६,११७,११७ १/२॥

इति चेन्न यतो मार्गो भिन्नोयं पुष्टिनामकः॥ ११८ ॥

यदि ऐसी शंका हो तो, नहीं करनी चाहिए क्योंकि यह 'पुष्टिमार्ग' अन्य मार्गों से भिन्न है॥ ११८ ॥

मार्गभेदान्न दोषोत्र कर्मपूजादिरूपितः। यथाश्रमविभेदेन निषेधानां विधेरपि॥ ११९ ॥

यह वाक्य कर्ममार्ग-पूजामार्ग में निरूपित हैं अतः मार्गभेद होने के कारण यहाँ दोष नहीं है। जैसे आश्रमों के भेद से निषेध भी होता है और विधि भी॥ ११९ ॥ टीकाकार कहना चाह रहे हैं कि जैसे ब्रह्मचर्य ..... संन्यास आश्रमों के विधि निषेध में भिन्नता पायी जाती है, वैसे यहाँ भी समझना चाहिए। किसी एक आश्रम में बताई गई विधि किसी दूसरे आश्रम में निषिद्ध भी हो सकती है एवं किसी आश्रम में निषिद्ध वस्तु दूसरे आश्रम की विधि भी हो सकती है। यही प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए, यह अर्थ है।

भिन्नतात्र तथा मार्गभेदेनापि विबुध्यताम्। न वा निवेदनं दानं येन दोषो ग्रहे भवेत्॥ १२० ॥

उसी प्रकार मार्गभेद से यहाँ भी भिन्नता जाननी चाहिए। और निवेदन कोई दान नहीं है, जिससे पुनःग्रहण में दोष हो जाय॥ १२० ॥

वाक्यं पूजाप्रकरणात्तद्दोषविनिरूपकम्।

यह 'दत्तापहार' वाक्य पूजा-प्रकरण के अंतर्गत होने के कारण पूजामार्ग में ही दोष का निरूपक है, भक्तिमार्ग में नहीं॥ १२० १/२॥

नन्वेवं सर्ववस्तूनां समर्प्य विनियोजनम्॥ १२१ ॥

प्राप्येत कामचारेण दोषाभावान्न रक्षणम्। तथा च प्रभुवस्तूनां वृथैव विनियोगतः॥ १२२ ॥

यहाँ एक शंका यह होती है कि, समस्त वस्तुओं को प्रभु को समर्पित कर देने से दोष का अभाव हो जाने से इच्छानुसार आचरण (कामाचार) करने की स्वतंत्रता मिल जाने के कारण उनका रक्षण नहीं हो पाता और प्रभु की वस्तुओं का वृथा ही विनियोग हो जाता है॥ १२२ ॥

अन्यत्र तेन भविता सम्बन्धदृढताकृतिः[1]। न स्वसम्बन्धिवस्तूनां नाशनं कुरुते वृथा॥ १२३ ॥

यदि इस प्रकार से वृथा उपयोग करेंगे तो संबंधदृढ़ता प्रभु में न होकर अन्यत्र हो जायेगी। वैसे भी स्वयं से संबंधित किसी वस्तु का कोई वृथा नाश तो नहीं करता?॥ १२३ ॥

लोकेपि दृढसम्बन्धयुतः स्वाम्यर्थरक्षकः[2]।

लोक में भी अपने स्वामी से दृढ़संबंधयुक्त-सेवक स्वामी के अर्थ का रक्षक ही होता है॥ १२३ १/२॥

अतः प्रोक्तं यथा लोके सेवकानां प्रकर्षतः॥ १२४ ॥

लौकिको वैदिकश्चैव व्यवहारो हि सिध्यति। तथा सर्वं समर्प्यैव पुनः कार्यं निवेदिभिः॥ १२५ ॥

इसीलिए कहा गया है कि जिस प्रकार लोक में सेवकों का लौकिकवैदिक व्यवहार प्रकर्षरूप से सिद्ध होता है, वैसे निवेदितों को सभी कुछ भगवान को समर्प कर ही कार्य करने चाहिए॥ १२४, १२५ ॥

पदार्थैस्तेन सम्बन्धे सिद्धे भाववतां दृढे। ततः सम्बन्धतः सिद्धेन्निर्दोषसमता पुनः॥ १२६ ॥

इससे भाववालों का दृढ़-संबंध सिद्ध होने पर, उस संबंध के द्वारा 'निर्दोषता' एवं 'समता' सिद्ध होती है॥ १२६ ॥

---

१ क्षतिः। २ देवव्रतो जनः।

सेवायां सर्ववस्तूनां सर्वेषामधिकारिणाम्। अतस्तदुपयोगेन फलं सिद्धं न संशयः॥ १२७ ॥
सर्वांशकृतसम्बन्धो यतः फलमिहोच्यते।

भगवत्सेवा में समस्त वस्तुओं का, समस्त अधिकारियों का (चाहे वे उत्तम हों, मध्यम हों या जघन्य) भगवान में उपयोग करने से फल की सिद्धि होती है, इसमें संशय नहीं है, क्योंकि सर्वांश में किए गये समर्पण का ही फल प्राप्त होता है, यह कहा है॥ १२७ १/२॥

ननु दोषनिवृत्तिः का मलस्येव हि नाशनम्॥ १२८ ॥
अथवा परिपाकेन दोषतागमनं यथा। मृण्मयेपि घटे पाकादामतैव निवर्तते॥ १२९ ॥

यहाँ एक शंका यह होती है कि, यहाँ कही जाने वाली दोषनिवृत्ति क्या वस्त्रों से छूटनेवाले मैल की भाँति होगी? अथवा पक जाने पर दोषनिवृत्ति होगी, जैसे मिट्टी के घड़े के पकने पर सहजरूप से ही उसके दोषों की निवृत्ति होती है? ॥ १२९ ॥

न मृण्मयत्वमेवं हि तन्निवृत्तिरिहोच्यते। इति संशयतः प्राह प्रभुर्गङ्गात्वमेव हि॥ १३० ॥

और यहाँ मिट्टी के पात्र जैसी दोषनिवृत्ति तो कही नहीं गई है? तब किस प्रकार से निवृत्ति होगी? इस संशय के उत्तर में प्रभु ने 'गंगात्वं' इत्यादि शब्दों से कहा ॥ १३० ॥

दोषाणां तत्प्रविष्टानां जलानामिव सर्वथा। तत्प्रवेशे पुनस्तेषां गुणदोषादिवर्णना॥ १३१ ॥
गङ्गात्वेनैव कर्तव्या न पानीयप्रयोगतः।

गंगा में प्रविष्ट हुए जल की भाँति गंगा में प्रविष्ट हुए दोषों के भी गुणदोषादि का वर्णन सर्वथा गंगारूप से ही करना चाहिए, साधारण जल की भाँति नहीं॥ १३१ १/२॥

शूद्रत्वादिकथात्रापि वैष्णवत्वेन बुध्यताम्॥ १३२ ॥

इसी प्रकार यहाँ भी यदि शूद्र-आदि भी ब्रह्मसंबंध ग्रहण करके सेवा कर रहे हैं, तो उन्हें भी वैष्णव ही जानिए ॥ १३२ ॥

उपदिश्य जनोद्धारं पुष्टिमार्गेण सर्वथा। निजास्यरूपाचार्येभ्यो[1] दयार्द्रेभ्यो दयानिधिः॥ १३३ ॥
कृपया प्रकटीभूय साक्षाच्छ्रीगोकुलेश्वरः। लीलाविशिष्टरूपस्तद्धृदयं प्राविशद्धरिः॥ १३४ ॥

इस प्रकार दयानिधि-श्रीगोकुलेश्वर ने कृपा द्वारा साक्षात् प्रकट होकर मुखारविंद-स्वरूप दयार्द्र-आचार्यचरणों के लिए 'पुष्टिमार्ग' के द्वारा सभी प्रकार से जनोद्धार का उपदेश किया एवं लीलाविशिष्टरूप से उनके हृदय में प्रवेश किया॥ १३३, १३४ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यदासदासेन रूपितः। तद्वाक्यगूढवाक्यार्थस्तेन तुष्यन्तु ते मयि॥ १३५ ॥

श्रीवल्लभाचार्य के दासानुदास (हरिरायजी) द्वारा भगवान के गूढ़ वाक्यों के अर्थ-निरूपण से वे (श्रीवल्लभाचार्यजी) मुझ पर प्रसन्न हों ॥ १३५ ॥

इति श्रीहरिदासोदिताः सिद्धान्तरहस्यविवृतिकारिकाः समाप्ताः।

यह श्रीहरिराय द्वारा प्रकट की गई सिद्धांतरहस्य-विवृत्ति की कारिकाएँ समाप्त हुईं।

---

१ निजास्यरूपानाचार्यान् दयार्द्रानिति पाठः।

श्रीकृष्णाय नमः।

सिद्धान्तरहस्यम्।

श्रीविट्ठलेश्वरविरचितविवृतिसमेतम्।

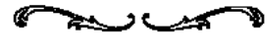

श्रीहरिः। श्रीमदाचार्याः स्वप्रकटितशुद्धपुष्टिमार्गानभिज्ञान् स्वमार्गीय सिद्धान्तजिज्ञासून् स्वसेवकान् प्रति कृपया पुरुषोत्तमसिद्धान्तं निरूपयन्ति श्रावणस्यामले पक्ष इति

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते॥ १॥

अर्धरात्रे साक्षादव्यवधानेन भगवता श्रीमद्गिरिधारिणा यत्प्रोक्तं तदक्षरश इति प्रत्यक्षरेण सप्तप्रकारेण निरूप्यते। सप्तप्रकारानाह। श्लोकार्थः, अर्धश्लोकार्थः, पदार्थः, प्रकरणार्थः, वाक्यार्थः, वेदार्थः, अक्षरार्थः। एतैः सप्तप्रकारैः साक्षादन्तरालरहितं मनोवाक्शरीरैः सकलांशेन भगवता पूर्णपुरुषोत्तमेन प्रोक्तं प्रकर्षेण निश्चयं कृत्वोक्तम्। उक्तं तत् कस्मिन्नवसरे? 'श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि' इत्येतस्मिन्नवसरे प्रोक्तम्। श्रावणे यदुक्तं तत्कथं, तत्र हेतुमाहुः। श्रावणस्तु दक्षिणायनं चातुर्मास्यं च। तस्मान्निषिद्धमासे यदुक्तं तस्यायमाशयः। पुरुषोत्तमविषये सर्वदा विधिरेव, न तु निषेधः। उक्तं च 'स्मृते सकलकल्याणभाजनं यत्र जायते। पुरुषं तमहं नित्यं व्रजामि शरणं हरिम्'। तथा चोक्तं दशमस्कन्धे जन्मप्रकरणे 'अथ सर्वगुणोपेतः कालः परमशोभन' इति। एतावता भगवत्प्रवृत्तिर्यदा भवति, तदा सर्वे उत्तमयोगा भवन्तीत्युक्तम्।

श्रीहरिः। श्रीमदाचार्यचरण स्वयं के द्वारा प्रकटित शुद्धपुष्टिमार्ग से अनभिज्ञ, स्वमार्गीय-सिद्धांत के जिज्ञासु सेवकों को कृपाद्वारा पुरुषोत्तमसिद्धांत **श्रावणस्यामले पक्षे** इन शब्दों से निरूपित कर रहे हैं।

अर्धरात्रि में, बिना किसी व्यवधान के **साक्षात्** भगवान श्रीमद्-गिरिधारी ने जो कहा, वह **अक्षरशः** अर्थात् प्रति-अक्षर को सात प्रकार से निरूपित कर रहे हैं। इन सात प्रकारों को श्लोकार्थ, अर्धश्लोकार्थ, पद का अर्थ, प्रकरणार्थ, वाक्य का अर्थ, वेदार्थ एवं अक्षरार्थ, इस प्रकार से कह रहे हैं। इन सात प्रकारों द्वारा **साक्षात्** अर्थात् विघ्नरहित, मन-वाणी-शरीर द्वारा संपूर्ण रूप से भगवान पुरुषोत्तम ने **प्रोक्तं** अर्थात् प्रकर्षरूप से निश्चय करके कहा। ये किस अवसर पर कहा? तो कह रहे हैं कि, 'श्रावणमास के अमल पक्ष में एकादशी की अर्धरात्रि' के अवसर पर कहा। श्रावण मास में ही क्यों कहा? यह प्रश्न होने पर उसका हेतु कह रहे हैं। क्योंकि श्रावण मास में तो सूर्य-दक्षिणायन में एवं चार्तुमास में आता है? अतः इस निषिद्ध-मास में जो कहा, उसका आशय यह है कि जहाँ तक भगवान का प्रश्न है वहाँ तक ये समझना चाहिए कि पुरुषोत्तम के विषय में तो सदा विधि ही है, न कि निषेध। एवं कहा भी है कि ''जिन भगवान के स्मरण से जीव समस्त कल्याण का भागी होता है, ऐसे हरि की शरण मैं नित्य लेता हूँ'। एवं वही दशमस्कंध-जन्मप्रकरण में ''अब समस्त शुभ गुणों से युक्त बहुत सुहावना समय आया (श्री.भा.१०/३/१)'' इत्यादि वाक्यों द्वारा कहा है। इससे, भगवान की प्रवृत्ति जब होती है, तब समस्त योग उत्तम हो जाते हैं, यह कहा गया है।

शुक्लपक्षस्य हेतुमाह। शुक्लपक्षस्तु पूर्वजानां रात्रिः, तत्र कर्ममार्गानधिकार इति। उक्तं च एकादशस्कन्धे 'न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव। न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा। व्रतानि यज्ञाछन्दांसि तीर्थानि नियमा यमा' इति। एकादश्या हेतुमाह। एकादशी शिवतिथिः, शिवस्तु भक्तप्रधानः। उक्तं च चतुर्थस्कन्धे। 'अथ भागवता यूयं प्रियाः स्थ भगवान् यथा, न मे भागवतानां च प्रेयानन्योऽस्ति कर्हिचित्।' तस्माच्छिवतिथिरुक्ता। महानिशीथस्यायमाशयः। यत् शृङ्गाररसलीलाभजनमुक्तम्। उक्तं च द्वादशस्कन्धे 'संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षोर्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य। लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण पुंसो भवेद्विविधदुःखदवार्दित-स्ये'ति॥ १॥

अब शुक्लपक्ष का हेतु कह रहे हैं। शुक्लपक्ष तो पूर्वजों की रात्रि है एवं वहाँ कर्ममार्ग का अधिकार नहीं है। कर्ममार्ग से तो भगवान प्राप्त होते भी नहीं, क्योंकि एकादश स्कंध में ''हे उद्धव! मुझे योग, सांख्य, धर्मपालन, स्वाध्याय, तप, त्याग, इष्टपूर्त्त, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम-नियम इत्यादि कोई भी बाँध नहीं सकते हैं (श्री.भा.११/१२/१-२)'' यह कहा गया है। 'एकादशी' का हेतु कह रहे हैं कि, एकादशी भगवान शिव की तिथि है एवं शिव तो भक्तप्रधान हैं। यही चतुर्थस्कंध में ''तुम लोग भगवद्भक्त होने के कारण भगवान के समान ही प्यारे हो। मुझे भी भगवान के भक्तों से बढ़कर कोई प्यारा नहीं हैं (श्री.भा.४/२४/३०)'' इस वाक्य से कहा गया है। अतः शिवतिथि कही

है। 'महानिशीथ' कहने का आशय यह है कि, हमारे संप्रदाय में जो प्रभु की श्रृंगाररसलीला का भजन करना कहा गया है, वह लीला अर्धरात्रि की ही है। यही भाव द्वादशस्कंध में "जो अत्यंत दुस्तर संसार-सागर से पार जाना चाहते हैं एवं अनेक प्रकार के दुःख-दावानल से दग्ध हो रहे हैं, उनके लिए पुरुषोत्तम भगवान की लीला-कथारूप रस के सेवन के अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है (श्री.भा.१२/४/४०)" इत्यादि वाक्यों द्वारा कहा गया है ॥ १ ॥

ब्रह्मसम्बन्धकरणात्सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधा मताः ॥ २ ॥

ब्रह्मसम्बन्धकरणादिति। इदानीं श्रीमदाचार्यैः श्रीगिरिधरं प्रति प्रश्नः कृतः। यत् हे सुन्दरीकान्त, भवता आज्ञा दत्ता, यज्जीवानां मदीयभजनमार्गं निरूपय। तत्र ते जीवाः सकलदोषनिधानम्, भगवान् सकलगुणनिधानम्। भगवान् पूर्णपुरुषोत्तमः। जीवस्त्वपूर्णः पुरुषाधमः। तर्हि भगवद्भजनं कर्तुं कथं योग्यो भवति। तथा च श्रुतिः 'देवो भूत्वा देवान् यजेते'ति। तदा श्रीमद्गिरिधारिणोक्तम्- यद्ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वदोषनिवृत्तिः। भगवद्भजनं कर्तुमुद्युक्तो यो जीवः स तत्कालं शुद्धो भवति। तस्य शुद्धजीवस्य मया सह सम्बन्धः कार्यः।

अब, **ब्रह्मसंबंधकरणात्** इत्यादि शब्दों की व्याख्या की जा रही है। इस समय श्रीमदाचार्य ने श्रीगिरिधर के प्रति प्रश्न किया कि, 'हे सुंदरीकांत! आपने आज्ञा दी कि, जीवों के लिए मेरे भजन का मार्ग निरूपित करिए। ऐसे में ये जीव तो समस्त दोषों के भंडार हैं एवं भगवान समस्त गुणों के भंडार हैं। भगवान पूर्णपुरुषोत्तम हैं एवं जीव तो अपूर्ण एवं पुरुषाधम है। तो, भगवद्-भजन करने में कैसे योग्य है? क्योंकि श्रुति भी "देव होकर देवों के यजन करना चाहिए' इस प्रकार कह रही है। तब श्रीमद्-गिरिधारी ने कहा कि - ब्रह्मसंबंध करने से समस्त दोषों की निवृत्ति होती है। भगवद्-भजन करने के लिए जो जीव तत्पर है, वह तत्काल शुद्ध हो जाता है। उस शुद्ध-जीव का मेरे साथ संबंध करना चाहिए।

अथवा। ब्रह्मणा मया सह सम्बन्धः कार्यः। तत्सम्बन्धप्रकारा दशमस्कन्धे उक्ताः 'कामं क्रोधं भयं स्नेह'मिति श्लोके। तेषु षट्सु कामसंबन्ध उत्तमः। कामसम्बन्धात् सकलदोषनिवृत्तिः। तत्र तत्संबन्धेन यथा कस्यचिद्राज्ञो दुःकुला स्त्री कामसंबन्धेन भजन्ती राजतुल्या स्यात्, तथा अनन्यत्वेन जीवो मां भजन् शुद्धः स्यात्। कामसंबन्ध इति किम्। साध्व्या आचारः। अथ च स्वैरिणीवत् नित्यनूतनभावेन भजनमिति। उक्तं च नवमस्कन्धे 'मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शिनः। वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथे'ति। एतेनानन्यत्वेन व्यभिचारिण्या भावमादाय भजनं विधेयमिति कामसम्बन्धः। तथा चोक्तं दशमस्कन्धे 'नन्वद्धा मयि कुर्वन्ति कुशलाः स्वात्मदर्शनाः। अहैतुक्यव्यवहितां भक्तिमात्मप्रिये यथा'। पुनराचार्यैः पृष्टम्, यत् पतिभावभजने वर्णाश्रमाणां मध्ये कोऽधिकारी। तदा श्रीमद्गिरिधारिणोक्तम्, जीवमात्रस्य भगवद्भजनेऽधिकारः। उक्तं च सप्तमस्कन्धे 'देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वे'ति।

अथवा मुझ ब्रह्म के संग संबंध करना चाहिए। उस संबंध के प्रकार दशमस्कंध में "काम, क्रोध, भय, स्नेह (श्री०भा० १०/२९/१५)" इस श्लोक में कहे गये हैं। इन छह प्रकार के संबंधों में काम-संबंध उत्तम है। काम-संबंध से समस्त दोषों की निवृत्ति होती है। वहाँ कामसंबंध द्वारा; जैसे किसी राजा की दुष्ट-कुल में उत्पन्न हुई स्त्री कामसंबंध से उसे भजती हुई राजा के तुल्य हो जाती है उसी प्रकार, जीव अनन्यता से मुझे भजता हुआ शुद्ध हो जाता हैं। यहाँ प्रश्न होता है कि, कामसंबंध का अर्थ क्या है? तो जानिए कि, साध्वी स्त्री का आचार-कामसंबंध है। उसे किसी स्वैरिणी की भाँति नित्यनूतन भाव से भजन करना चाहिए। साहित्य में स्वैरिणी का उल्लेख आता है। 'स्वैरिणी' वह स्त्री होती है जो नायक द्वारा बुलाए गये निश्चित स्थान पर स्वयं पहुँचे। ऐसी स्त्री जिस प्रकार अपने हाव-भाव एवं चेष्टाओं द्वारा नायक को रिझाती है, टीकाकार कह रहे हैं कि, उसी प्रकार जीव को भी स्वयं के भावों के द्वारा प्रभु को प्रसन्न करना चाहिए, यह अर्थ है। यहाँ विशेष यह ध्यान रखना चाहिए कि टीकाकार ने काम-संबंध का अर्थ साध्वी-स्त्री का आचारलक्षण बताया है किंतु आगे-प्रभु को कैसे भजना चाहिए- इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने 'स्वैरिणी' का उदाहरण दिया है इससे यहाँ यह अर्थ स्फुरित होता है कि प्रभु को किसी साध्वी-स्त्री, पतिव्रता स्त्री की भाँति भजना चाहिए परंतु स्वैरिणी की भाँति नित्यनूतन भाव से। एवं नवमस्कन्ध में "जैसे सती-स्त्री अपने पातिव्रत्य से सदाचारी पति को वश में कर लेती है वैसे ही मुझसे प्रेमपूर्वक हृदयबद्ध-सज्जन अपनी भक्तिद्वारा मुझे वश में कर लेते हैं (श्री.भा.९/४/६६)" इस प्रकार कहा गया है। इससे अनन्यता से व्यभिचारिणी-भाव के संग भजन करना चाहिए, यह कामसंबंध है। एवं वही दशमस्कंध में "इसमें संदेह नहीं कि संसार में अपनी भलाई को समझने वाले जितने भी बुद्धिमान पुरुष हैं, वे अपने प्रियतम के समान ही मुझसे प्रेम करते है। उन्हें अन्य किसी भी वस्तु की कामना नहीं रहती। (श्री.भा.१०/२३/२६)" इन शब्दों से कहा गया है। आचार्यचरणों ने पुनः पूछा कि, पतिभाव से भजन करने में वर्णाश्रमों के अंतर्गत कौन अधिकारी है? तब श्रीमद्गिरिधारी ने कहा कि, जीव मात्र का भगवद्-भजन में अधिकार है। एवं यही बात सप्तमस्कंध में "देव, असुर, मनुष्य, यक्ष या गंधर्व (श्री०भा०७/७/५०)" इस श्लोक से कही है।

सर्वेषां देहजीवयोरिति। अस्यायमर्थः। यथा देहस्य जीवसंबन्धात् सर्वदोषनिवृत्तिस्तथा ब्रह्मसंबन्धकरणादिति। यथा जीवमन्तरेण देहः अपूर्णः, तत्सम्बन्धेन सकलगुणपूर्णः, तथा ब्रह्मसंबन्धादिति। यथा जीवो देहदुःखेनातुरो भवति, तथाहं भक्तदुःखेनातुरो भवामीत्यर्थः। अथवा। देहजीवयोरिति। भगवद्भजनेन तस्य हीनजातिरोगादयो दोषाः, तथा हिंसादिपातकानि व्रजन्तीत्यर्थः। उक्तं च एकादशस्कन्धे 'स्वपादमूलं भजतः प्रियस्ये'ति। पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्, दोषा गता इति कथं ज्ञायते। तदा श्रीमद्गिरिधारिणोक्तम्, सर्वदोषनिवृत्तिर्हीतिशब्देन। निश्चयो यदा उत्पद्यते, तदा सर्वे दोषा गता इति ज्ञातव्यम्। उक्तं च भारते 'वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः। सर्वपापविशुद्धात्मा पाति ब्रह्म सनातनम्।' पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्, दोषाः कति सन्ति। तदा श्रीमद्गिरिधारिणोक्तं दोषाः पञ्चविधाः मता इति। तत्रापि द्वात्रिंशद्भेदाः सन्ति।

अब **सर्वेषां देहजीवयोः** इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि, जिस प्रकार देह का जीव से संबंध होने से देह के समस्त दोषों की निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मसंबंध करने से होगी। यहाँ कदाचित् ये प्रश्न हो सकता है कि, देह का जीव से संबंध हो जाने से उसके दोषों की निवृत्ति कैसे? तो जानना चाहिए कि देह की पूर्णता तब ही है जब उसका जीव से संबंध हो जाय अन्यथा जीवरहित निष्क्रिय देह से क्या प्रयोजन है ? जिस प्रकार जीव के बिना देह अपूर्ण है, एवं उससे संबंध के द्वारा ही वह समस्त गुणों से पूर्ण होती है, उसी प्रकार ब्रह्मसंबंध के बिना जीव अपूर्ण है एवं ब्रह्म से संबंध होने के पश्चात् ही वह पूर्ण होता है। भगवान कहते हैं कि, जिस प्रकार जीव देहदुःख से आतुर होता है, उसी प्रकार मैं भक्त के दुःख से आतुर होता हूँ, यह अर्थ है। अथवा इसे **देहजीवयोः** इस पद द्वारा समझने का प्रयास करें। भगवद-भजन से उसके हीनजाति एवं रोग आदि दोष तथा हिंसा-आदि पातक-दोष दूर हो जाते हैं, यह अर्थ है। एवं यह बात एकादशस्कन्ध में ''अपने प्रिय भगवान के चरणकमलों का (११/५/४२)'' इस श्लोक द्वारा कही है। पुनः श्रीमदाचार्यचरणों ने पूछा, 'दोष दूर हो गये' यह कैसे जाना जाता है? तब श्रीमद्-गिरिधारी ने **सर्वदोषनिवृत्तिर्हि** इन शब्दों से कहा कि, 'ब्रह्मसंबंध करने से हमारे समस्त दोष दूर हो गये' इस प्रकार का दृढ़ निश्चय जब स्वयं के हृदय में उत्पन्न होता है, तब समस्त दोष दूर हो गये यह जानना चाहिए। इसी निर्दुष्टता की बात महाभारत में ''मृत्युलोक का जीव यदि वासुदेव के आश्रित एवं उनमें परायण हो तो समस्त पापों से विशुद्ध होकर वह सनातन ब्रह्म को प्राप्त करता है।'' इत्यादि वचनों द्वारा कही गई है। अब श्रीमदाचार्यचरणों पुनः पूछा – दोष कितने प्रकार के होते हैं? तब श्रीमद्-गिरिधारी ने **दोषाः पञ्चविधा मता** कहा। इन पाँच दोषों के भी बत्तीस प्रकार के भेद होते हैं।

के ते दोषाः तान् प्रभुर्वदति सहजा देशकालोत्था इति।

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन॥ ३॥

सहजा द्वादश। देशोत्थाः सप्त। त्रयः कालोत्थाः। संयोगजाः सप्त। स्पर्शजास्त्रयः। एवं द्वात्रिंशद्भेदा वेदपुराणादिषूक्ताः। सहजा द्वादश। तत्र एकादश इन्द्रियाणां कुमार्गप्रवृत्तिरूपाः। एको देहस्य हीनजातिलक्षणः। देशस्य सप्त। उषरभूमिः, गर्दभक्षेत्रम्, दुर्जनवासः, हीनजलदेशः, जलान्तर्गतदेशः, स्वचक्रभीतिदेशः, परचक्रभीतिदेशः। त्रयः कालदोषाः प्रातरादयः। एते त्रयो दोषरूपाः। भगवद्भजने न गुणरूपाः। संयोगजाः सप्त, सहभोजनशयनासनगानमैथुनभाषनिवासादयः। मानसवाचिककायिकास्त्रयः स्पर्शजाः। एवं द्वात्रिंशत्प्रकारका दोषाः। एते प्रत्यहं भगवद्भजने क्रियमाणे सति नोत्पद्यन्ते। उक्तं च द्वितीयस्कन्धे 'यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्। लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः।' दशमस्कन्धे 'तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम्।' न मन्तव्याः कथञ्चन। भगवत्सम्बन्धे संपन्ने एते दोषाः किं करिष्यन्तीत्यर्थः। प्रयत्ने क्रियमाणे चेदुत्पद्यन्ते, तर्हि हरिमेव शरणं गच्छेत्। शरणगमनाद्धरिः रक्षत्येव। प्रत्यहं करोति चेत्, तदा पतितो भवेत्॥ ३॥

वे दोष कौन से हैं? उन्हें प्रभु **सहजा देशकालोत्था** इन शब्दों से कह रहे हैं। 'सहजा' दोष बारह प्रकार के हैं। 'देशोत्थाः' सात प्रकार के हैं। तीन 'कालोत्थाः' हैं। 'संयोगजाः' सात प्रकार के है। 'स्पर्शजाः' दोष तीन प्रकार के हैं। इस प्रकार इन दोषों के बत्तीस भेद वेदपुराणादि में कहे गये हैं। बारह प्रकार के 'सहजा' दोषों में ग्यारह दोष ग्यारह इंद्रियों की कुमार्ग-प्रवृत्तिरूप हैं एवं एक शरीर के हीनजाति में उत्पन्न होने के लक्षणरूप है। देश के दोष सात प्रकार के हैं, उषरभूमि, गर्दभक्षेत्र, दुर्जनवास, जल से हीन देश, जल के भीतर आए हुए देश, स्वचक्र से भयभीत देश, परचक्र से भयभीत देश इत्यादि। काल के तीन दोष प्रातः-मध्यान्ह-सायंकालीन-दोष हैं। ये तीनों काल दोषरूप हैं एवं भगवद्-भजन में गुणरूप नहीं हैं। संयोगजा सात प्रकार के दोष सहभोजन, सहशयन, सह-आसन, सहगान, सहमैथुन, सह-भाषण एवं सह-निवास इत्यादि हैं। मानस-वाचिक-कायिक ये तीन स्पर्शजा-दोष हैं। इस तरह बत्तीस प्रकार के दोष होते हैं। ये दोष प्रतिदिन भगवद्-भजन करने पर उत्पन्न नहीं होते। एवं द्वितीयस्कंध में उपर्युक्त बात ''जिनका कीर्तन, स्मरण, दर्शन, वंदन, श्रवण और पूजन जीवों के पापों को तत्काल नष्ट कर देता है, उन भगवान श्रीकृष्ण को बारंबार नमस्कार है (श्री.भा.२/४/१५)'' इस श्लोक द्वारा कही है। दशमस्कंध में ''हे भगवान! राग, द्वेष आदि चोरों की भाँति तभी तक ही अपहरण करते हैं एवं घर और उसके संबंधी तभी तक कारागृह में बाँधे रखते हैं एवं

तभी तक मोह की बेड़ियाँ पैरों पर बाँधे रखती हैं, जब तक जीव आपका नहीं हो जाता (श्री.भा.१०/१४/३६)'' इस वाक्य द्वारा कही गई है। **न मन्तव्याः कथञ्चन** इन शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। इन शब्दों का अर्थ है कि, भगवत्संबंध संपन्न होने पर ये दोष क्या करेंगे? यदि ये दोष किसी प्रकार से उत्पन्न भी हो जाएँ, तो श्रीहरि की शरण ही लेनी चाहिए। शरण जाने पर हरि रक्षा करते ही हैं। एवं यदि जीव शरणागति न करके प्रतिदिन ये दोष करता है, तो वह पतित होता है॥ ३ ॥

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन।
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत् ॥ ४ ॥

पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्, अनन्यत्वेन पतिभावं विना प्रकारान्तरेण जीवस्य दोषाः कथञ्चिदपि न गच्छन्तीति, तत् किमन्ये मार्गाः सर्वे मिथ्याभूता इति। तदा श्रीमत्प्रभुणोक्तम्-अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चनेति। अन्यथा करणे भगवत्संबन्धो न भवेत्, तदा कथमपि किञ्चिदपि सर्वदोषाणां निवृत्तिर्न स्यादित्यसमर्पितवस्तुवर्जनं कुर्यादित्यर्थः। प्रकारान्तरेण साधननिष्ठेन किञ्चिद्दोषनिवृत्तिः, न तु सकलदोषनिवृत्तिः। यथा राज्ञः स्त्री सकलदोषरहिता भवति, तत्संबन्धिनोपि भवन्ति, परन्तु तत्संबन्धिनां सकलदोषा (न)? गच्छन्ति। तथा भक्त्या भवति..... गच्छन्ति। ..... त्वेन गच्छन्ति।

पुनः श्रीमदाचार्यचरणों ने पूछा कि, अनन्यता से पतिभाव से भजन किए बिना अन्यप्रकार से जीव के दोष किसी भी प्रकार से यदि नहीं जाते हैं, तो अन्य समस्त मार्ग क्या मिथ्याभूत हैं? तब श्रीमन्-प्रभु ने **अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन** इत्यादि वचन कहे। इसका अर्थ यह है कि, ब्रह्मसंबंध न करके अन्यथा करने पर भगवत्संबंध स्थापित नहीं होता है एवं तब किसी भी प्रकार से समस्त दोषों की किंचित् मात्र भी निवृत्ति नहीं होती है। अतः असमर्पित वस्तुओं का वर्जन करना चाहिए, यह अर्थ है। किसी अन्य प्रकार से साधन करने से उसके कुछ दोषों की निवृत्ति होती है, किंतु समस्त दोषों की नहीं। जिस प्रकार राजा की स्त्री समस्त दोषों से रहित होती है एवं उससे संबंधित भी होती है किंतु उस स्त्री से संबंधित ..... यहाँ टीका के वाक्य अधूरे ही प्राप्त होते हैं अतः जो प्राप्त हैं उसी का अनुवाद कर दिया गया है।

उक्तं च गीतायां 'अपि चेत् सुदुराचार' इति श्लोके। एतेन पतिभावभजनेन सर्वदोषनिवृत्तिः, न तु भावान्तरभजनेनेति श्रुत्वा पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्, अनन्यत्वोत्पत्तेः किं साधनम्, तदा श्रीमद्गिरिधारिणोक्तम्, असमर्पितवस्तुवर्जनं कार्यम्। एतेनान्यदेवसमर्पितस्य असमर्पितस्य च वस्तुनो वर्जने क्रियमाणे भक्तिभाव उत्पद्यते। पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्, असमर्पितान्यदेवसमर्पितवस्तुवर्जनं करोतीत्यावेशः कथमुत्पद्यते। यद्यसमर्पितमश्नाति, तर्हि असुरावेशो भवति। अथ च भगवदनिवेदितनिवेदनात् सकलकर्ममिथ्यात्वम्। उक्तं च द्वितीयस्कन्धे 'तपस्विनो दानपरा यशस्विनो मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः। क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नम' इति। तस्मात् सर्वकार्याणि भगवति निवेद्य कार्याणीति। एवमावेशः कथमुत्पद्यते, तस्य किं कथं कर्तव्यमिति पृष्टे, श्रीमद्गिरिधारिणोक्तम्-निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कार्यमिति स्थितिः। ये निवेदिनो धर्मिणो भक्तास्तेषां सङ्गतिः कार्या। तया सर्वे शुद्धा भवन्ति, मद्भक्तियोग्याश्च भवन्ति। एवं सत्सङ्ग एव प्राप्तेर्मूलम्। उक्तं च द्वितीयस्कन्धे 'किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः, येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः'।

एवं गीता में ''यदि अतिशय दुराचारी भी मुझे अनन्यता से मुझे भजे तो उसे साधु ही मानना चाहिए। (भ.गी.९/३०)'' इस श्लोक में कहा है। इससे-''पतिभाव से भजन द्वारा समस्त दोषों की निवृत्ति होती है, न किसी अन्य भाव से''—यह सुनकर पुनः श्रीमदाचार्यचरणों ने पूछा कि, हृदय में भगवान के लिए अनन्यता उत्पन्न करने के क्या साधन हैं? तब श्रीमद्गिरिधारी ने कहा, असमर्पित वस्तु का वर्जन करना चाहिए। इससे यह जानना चाहिए कि अन्यदेव को समर्पित एवं भगवान को असमर्पित वस्तु का वर्जन करने पर भक्तिभाव उत्पन्न होता है। पुनः श्रीमदाचार्यचरणों ने पूछा कि ''असमर्पित एवं अन्यदेव को समर्पित वस्तु का वर्जन करने का आवेश कैसे उत्पन्न होता है? तो जानना चाहिए कि, यदि जीव असमर्पित वस्तु का भोजन करता है, तो असुर-आवेश होता है। और, भगवान को निवेदित न किए गये पदार्थों को (अन्य देवों को) निवेदन करने से समस्त कर्म मिथ्या हो जाते हैं। एवं द्वितीयस्कंध में ''तपस्वी, दानी, यशस्वी, मनस्वी, सदाचारी और मंत्रवेत्ता जबतक अपनी साधनाओं को आपके चरणों में अर्पित नहीं कर देते, तब तक उन्हें कल्याण-प्राप्ति नहीं होती (श्री.भा.२/४/१७)'' इस वाक्य में समर्पण का महत्व बताया गया है। अतः समस्त कार्यों को भगवान में निवेदित करके ही करना चाहिए। ऐसा समर्पण का आवेश किस प्रकार उत्पन्न होता है? एवं उसका ब्रह्मसंबंध के पश्चात् क्या कर्तव्य है? यह पूछने पर श्रीमद्-गिरिधारी ने कहा-**निवेदभिः समर्प्यैव सर्वं कार्यमिति स्थितिः**। जो निवेदन-धर्म वाले भक्त हैं, उनकी संगति करनी चाहिए। उनकी संगति से सभी शुद्ध एवं मेरी भक्ति के योग्य हो जाते हैं। इस प्रकार सत्संग ही भगवद्-प्राप्ति में मूल है। यही द्वितीयस्कंध में ''किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिंद, पुल्कस, आभीर, कंक, यवन और खस आदि नीच जातियाँ एवं दूसरे पापी भी जिनकी शरण ग्रहण करने से पवित्र हो जाते हैं, उन भगवान को नमस्कार है। (श्री.भा.२/४/१८)'' इस श्लोक द्वारा कहा गया है।

पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्-यत्कर्ममार्गे एवमुच्यते, अर्धं समर्प्यते, समर्पितं तदन्यस्मै दीयते, असमर्पितं च भुज्यते, तत्कथम्? तदा श्रीमद्गिरिधारिणोक्तम्-देवदेवस्य पुरुषोत्तमस्य मम साम्यर्धभुक्तं समर्पणं न मतम्। उक्तं च गीतायां 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति'। 'तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति' 'अम्बरीष नवं वस्त्रं फलमन्नाद्यमौषधम्। अनिवेद्य हरेर्भुञ्जन् सप्त जन्मानि नारकी। विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम्। पितृभिश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पते। पितृशेषं तु यो दद्यात् हरये परमात्मने। रेतोधाः पितरस्तस्य भवन्ति क्लेशभाजिनः। श्रीशं समर्प्य सर्वस्वं पुनर्ग्राह्यं समर्प्य च। भोक्तव्यमेव सकलं दासो नैव च दोषभाक्'। श्रीभागवतेपि 'त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धे'ति। एतैः श्लोकैरेवमुक्तम्, यद् अन्यस्मै दत्तं न ग्राह्यम्, परन्तु दासवनितयोर्यद् दत्तं भवति, तद् गृह्यते, तथा दीयते, तत्र न दूषणम्॥ ४ ॥ ५ ॥

श्रीमदाचार्यचरणों ने पुनः पूछा कि, कर्ममार्ग में जो इस प्रकार कहा जाता है कि-कर्ममार्गी भगवान को आधा ही समर्पित करते हैं। उस समर्पित पदार्थों को स्वयं न लेकर अन्य को दिया जाता है एवं स्वयं असमर्पित खाया जाता है, तो वह कैसे? तब श्रीमद्-गिरिधारी नें कहा- मुझ देवाधिदेव पुरुषोत्तम को अर्धभुक्त का समर्पण मान्य नहीं है। गीता में भी "पत्ता, पुष्प, फल, जल जो कुछ भी मुझे भक्तिभाव से अर्पित किया जाता है, मैं उसे ग्रहण करता हूँ (भ.गी.९/२६)" इस प्रकार कहा गया है। "हे अंबरीष! नये वस्त्र, नये फल, नये अन्न-आदि औषधि, हरि को निवेदित किए बिना खाने पर सात जन्मों का नर्क प्राप्त होता है। विष्णु को निवेदित किए गये अन्न द्वारा अन्य देवताओं का यज्ञ करना चाहिए। पितरों को भी वही देने से वह अनंत फलदायी होता है। जो हरि-परमात्मा को पितरों का अवशिष्ट देता है, उसके पितर अधम योनि में जन्म लेने वाले होते हैं एवं वह क्लेश का भागी होता है"। "भगवान को सभी कुछ समर्प कर ही पुनः ग्रहण करने पर दास दोष का भागी नहीं होता।" श्रीमद्-भागवत में भी "आपके द्वारा उपभुक्त माला, चंदन, वस्त्र (श्री.भा.११/६/४६)" यह कहा गया है। इन श्लोकों द्वारा यह कहा गया है कि, जो दूसरों के लिए दिया गया है, वह नहीं ग्रहण करना चाहिए परंतु स्वयं के दास एवं पत्नी को जो दिया जाता है वह लिया भी जाता है एवं वैसे ही दिया भी जाता है, वहाँ दोष नहीं है॥ ४ ॥ ५ ॥

तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्।
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः॥ ६ ॥

तदा पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्-यदा किञ्चित् कार्यं क्रियते, तदा त्वां कथं समर्प्यते। तदा श्रीमद्गिरिधारिणोक्तम्-तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणमिति। यस्यात् सर्वांशेनासमर्पणं यस्मै भगवदमतम्, तस्मात् सर्वस्मिन्नपि कर्तव्यत्वेन प्राप्ते कार्यमात्रे आदौ प्रथमत एव उत्सवं कृत्वा सर्ववस्तूनां पदार्थानां मनोवाक्कर्मभिः समर्पणं कुर्यादित्येवंविधो भक्तिमार्गोऽस्ति। उक्तं च तृतीयस्कन्धे 'देवानां गुणलिङ्गानामानुश्राविककर्मणाम्। सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या। अनिमित्ता भागवती भक्तिस्सिद्धेर्गरीयसी। जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा'। एतेन हरये सर्वं कार्यं नित्यं समर्पणीयं च। तेन सर्वं कर्मवागित्यादिकं भक्तिर्भवतीत्यर्थः।

तब पुनः श्रीमदाचार्यचरणों ने पूछा-जब कोई भी कार्य किया जाता है, तब तुम्हें कब समर्पण करना चाहिए? तब श्रीमद्-गिरिधारी ने कहा- **तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्**। चूँकि भगवान को पूर्णरूप से न किया गया समर्पण उन्हें मान्य नहीं है, अतः समस्त कार्यों में समर्पण कर्तव्यरूप से प्राप्त होने के कारण **आदौ** अर्थात् प्रथमतया ही उत्सव करके समस्त वस्तुओं- पदार्थों को मनसा-वाचा-कर्मणा समर्पण करना चाहिए, ऐसा भक्तिमार्ग है। एवं तृतीयस्कंध में "जिसका चित्त एकमात्र भगवान में ही लग गया है, ऐसे मनुष्य की वेदविहित कर्मों में लगी हुई तथा विषयों का ज्ञान करानेवाली इंद्रियों की जो सत्वमूर्ति श्री हरि के प्रति स्वाभाविकी-प्रवृत्ति है, वही भगवान की अहैतुकी-भक्ति है यह मुक्ति से भी बढ़कर है, क्योंकि जिस प्रकार जठरानल खाए हुए अन्न को पचाता है, उसी प्रकार यह भी कर्मसंस्कारों के भंडाररूप लिंगशरीर को तत्काल भस्म कर देती है (श्री.भा.३/२५/३२-३३)"

इस वाक्य से यही बात कही है। एवं इससे समझना चाहिए कि हरि के लिए समस्त कार्य करने चाहिए एवं वे नित्य समर्पणीय भी हैं। इससे समस्त कर्मवाणी इत्यादि भक्तिमय हो जाते हैं, यह अर्थ है।

पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्-दत्तापहारवचनं यत्, तत् किञ्चिद्विषयम्। 'अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदित'मिति। तदा श्रीमद्गिरिधारिणोक्तम्। निवेदितस्वीकारे दत्तापहारवचनं 'यत् हरे'रिति मत्परत्वेन न ग्राह्यम्, किन्तु भिन्नमार्गपरं ज्ञेयम्। भक्तिमार्गाद्भिन्ना ये मार्गास्तत्परत्वेन ज्ञेयम्। अन्ये सर्वेपि प्रकाराः पुरुषोत्तमविषये न भवन्ति, किन्तु मायावादिसिद्धान्ते भवन्ति। उक्तं च सप्तमस्कन्धे 'नैषां मतिस्तावदुरुक्रमांघ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः। महीयसां पादरजोभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्'। पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्। मायावादः कस्मिन् विषये प्रवर्तते। तदा श्रीमद्गिरिधारिणोक्तम्-मल्लीलारसमन्तरेण सर्वं मायावाद उच्यते। उक्तं च पुराणान्तरे। 'जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गलालितम्। तदन्यदिति ये प्राहुरासुरांस्तानहो बुधा' इति। मायावादस्वरूपमाह। वेदोक्तकर्माणि मन्यन्ते, निराकारस्वरूपं भजन्ते, द्वेषेण मोक्षं मन्यन्ते, सर्वदेवान् मां च समं मन्यन्ते, सर्वमेकीकृत्य जानन्ति, प्रपञ्चमसत्यं मन्यन्त इति मायावादः।

श्रीमदाचार्यचरणों ने पुनः पूछा कि जो 'दत्तापहारवचन' है, वह किस विषय में है? क्योंकि ''मुझे अर्पित किए गये दीपक का प्रकाश भी स्वयं के उपयोग में नहीं लेना चाहिए (श्री.भा.११/११/४०)'' इत्यादि वाक्य समर्पित वस्तु को ग्रहण न करने का विधान कर रहे हैं। तब श्रीमद्-गिरिधारी ने कहा कि निवेदित पदार्थों को स्वीकार करने में जो 'दत्तापहारवचन' हैं, वह (मूल कारिका में आए) **हरेः** शब्द के द्वारा मेरे अर्थ में नहीं लेने चाहिए किंतु भिन्नमार्गपरक जानने चाहिए। अर्थात् भक्तिमार्ग से भिन्न जो मार्ग हैं, उन मार्गों के जानने चाहिए। भक्तिमार्ग से भिन्न अन्य समस्त प्रकार पुरुषोत्तमविषयक नहीं होते, किंतु मायावादी-सिद्धांत में होते हैं। यही बात सप्तमस्कंध में ''जिनकी बुद्धि भगवान के चरणकमलों का स्पर्श कर लेती है, उनके जन्म-मृत्युरूप अनर्थ का सर्वथा नाश हो जाता है। जो लोग अकिंचन भगवत्प्रेमी महात्माओं के चरणों की धूल में स्नान नहीं कर लेते, उनकी बुद्धि काम्यकर्मों का सेवन करने पर भी भगवच्चरणों का स्पर्श नहीं कर सकती (श्री.भा.७/५/३२)'' इस श्लोक द्वारा कही है। पुनः श्रीमदाचार्यचरणों ने पूछा कि, मायावाद किस विषय में होता है? तब श्रीमद्-गिरिधारी ने कहा- मेरे लीला-रस के बिना सभी कुछ मायावाद कहा जाता है। एवं पुराणों में ''हे बुद्धिजीवियों! यशोदा की गोद में लालित श्रीकृष्ण को परमतत्व जान लो। इस परमतत्व के अतिरिक्त किसी और को परमतत्व कहने वाले असुर ही हैं (ब्र.सू.अ.४/ पा.४/ सू.२२ के उपसंहार में श्री प्रभुचरण का पहला श्लोक)''

यह कहा गया है। अब मायावाद का स्वरूप कह रहे हैं कि- वेदों में कहे गये कर्मों को मानते हैं। निराकार स्वरूप का भजन करते हैं; द्वेष से मोक्ष को मानते हैं, समस्तदेवों को एवं मुझे समान मानते हैं, सभी को एक करके जानते हैं, प्रपंच को असत्य जानते हैं, यह मायावाद है।

न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।
सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः।

न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्। न ग्राह्यमिति निवेद्य न ग्राह्यमिति यद्वचनं तत् मद्भजनाद्भिन्नमार्गपरं ज्ञेयम्। उक्तं च गीतायां 'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मामेवाक्षयमव्ययम्'।

पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्। सकलसिद्धान्तस्य फलमेकीकृत्य वक्तव्यम्। तदा श्रीमद्गिरिधारिणोक्तम्-लोके यथा सेवकस्य व्यवहारः प्रसिद्धोऽस्ति, तथा भजनं विधेयम्। उक्तं च गीतायां 'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः'। 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु'। 'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति'। एवं प्रथममन्यसेवकवद्भजनं विधेयम्। पश्चात् पतिव्रताधर्म आयाति।

न ग्राह्यम् ..... मतम् इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। यहाँ 'न ग्राह्यम्' इत्यादि शब्दों का अर्थ है – ''भगवान को निवेदित किया हुआ ग्रहण नहीं करना चाहिए''-ऐसे जो वचन हैं, वह मेरे भक्तिमार्ग से भिन्न मार्गपरक जानने चाहिए। एवं गीता में ''मेरे निराकार में अवतरित होने पर मूर्ख मेरा उपहास करते हैं। वे मेरे दिव्य स्वभाव को नहीं जानते (भ.गी.९/११)'' इन वाक्यों से भक्तिमार्ग एवं प्रभु के स्वरूप को न जानने वाले भिन्नमार्गीयों को मूर्ख कहा गया है। पुनः श्रीमदाचार्यचरणों ने पूछा कि, समस्तसिद्धांतों का फल एक करके कहिए। तब श्रीमद्-गिरिधारी ने कहा-लोक में जिस प्रकार सेवक का व्यवहार प्रसिद्ध है, उस प्रकार भजन करना चाहिए। यही गीता में ''मेरा कार्य करनेवाला, मुझमें परायण, मेरा भक्त (भ.गी.११/५५)'', ''मन से मेरा चिंतन कर, मेरा भक्त हो, मेरा पूजन कर, मुझे ही नमस्कार कर (भ.गी.९/३४)'', ''हे कुंतीपुत्र! प्रतिज्ञा कर कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता (भ.गी.९/३१)'' इत्यादि वाक्यों से कहा गया है। इस प्रकार सर्वप्रथम तो अन्य सेवकों की भाँति भजन करना चाहिए, इसके पश्चात् पतिव्रता-धर्म आता है।

पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्। सेवकस्य व्यवहारः कथमस्ति। तदा श्रीमत्प्रभुणोक्तम्-तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता तत इति। यथा लोके सेवकव्यवहारः, तथा समर्प्य कार्याणि कर्तव्यानि। एवं क्रियमाणे मदाश्रयेण ब्रह्मस्वरूपो भवति। शुद्धो भवतीत्यर्थः। यथा राज्ञः प्रथमं कश्चिज्जातीयः सेवक आगत्य तिष्ठति। राजसेवकान् मिलित्वा स्वसेवां ज्ञापयति, अहमद्य प्रभृति भवदीयोऽस्मि, तथा भक्तौ नामग्रहणम्। पश्चाद्राजा आज्ञां ददाति, तदनन्तरं पृष्ट्वा पृष्ट्वा राजकार्याणि करोति, पश्चाद्राजा पृच्छति, प्रसन्नो भवति, तदा तं स्वसदृशं करोति, तथाहमपि भक्तं शुद्धं करोमि। उक्तं च प्रथमस्कन्धे 'अतो वै कवयो नित्यं भगवत्यखिलात्मनि। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिं ययात्मा सुप्रसीदति। श्रुतोनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः। सद्यः पुनाति सद्धर्मस्तन्नामग्रहणादिभिः।' एतेन मद्भजनेन मत्सदृशो भवतीति सूचितम्।

पुनः श्रीमदाचार्यचरणों ने पूछा, सेवक का व्यवहार कैसा होता है? तब श्रीमद्प्रभु ने कहा - **कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः**। जिस प्रकार लोक में सेवक का व्यवहार होता है, उसी प्रकार प्रभु को समर्प कर ही कार्य करने चाहिए। इस प्रकार करने पर मेरे आश्रय द्वारा वह ब्रह्मस्वरूप वाला हो जाता है अर्थात् शुद्ध हो जाता है। जिस प्रकार राजा के पास किसी जाति का सेवक प्रथमतः आकर उसके पास बैठता है। इसके पश्चात् अन्य राजकर्मचारियों के संग मिलकर की गई सेवा राजा को बताता है। वह कहता है कि, ''आज से मैं स्वभावतया

आपका हूँ'', उसी प्रकार भक्ति में नाम ग्रहण करने की प्रक्रिया है। इसके पश्चात् राजा उसे आज्ञा देता है, इसके पश्चात् वह पूछ-पूछ कर राजकार्यों को करता है। इसके बाद राजा उस सेवक को पूछता है और उसकी सेवा देखकर उस पर प्रसन्न होता है। एवं तब उसे स्वयं के जैसे ही कहीं का स्वामी भी बना देता है। उसी प्रकार मैं भी भक्त को स्वयं के समान शुद्ध कर देता हूँ। यही प्रथमस्कंध में ''अतः बुद्धिमान व्यक्ति अखिलात्मा-भगवान की अहैतुकी-भक्ति करते हैं'' एवं एकादशस्कंध में ''यह भागवत धर्म कानों से सुनने, वाणी से उच्चारण करने, चित्त से स्मरण करने, हृदय से स्वीकार करने से अथवा कोई इसका पालन करने जा रहा हो तो उसका अनुमोदन करने से ही मनुष्य उसी क्षण पवित्र हो जाता है (श्री.भा.११/२/१२)'' इस श्लोक द्वारा कहा गया है। इससे ''मेरे भजन से मेरे सदृश हो जाता है'' यह सूचित किया है।

तत्र दृष्टान्तः। गङ्गात्वं सर्वदोषाणामिति।

गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना।
गङ्गात्वे न निरूप्या स्तात्तद्वदत्रापि चैव हि॥ ८१/२॥

यथा शुद्धमशुद्धं वा जलं गङ्गान्तः पतितं सत् गङ्गातुल्यं भवति। परन्तु गङ्गामध्ये भिन्नं तिष्ठति। शौचादिकं कुर्वन्ति जनाः, तदा गङ्गा अशुद्धं जलं ददाति, मलनिवारणार्थं निर्मलं जलं ददाति, पापक्षयार्थं गङ्गोदकं ददाति; एवं मत्सेवका मां भजन्तो मत्सदृशा भवन्ति। परन्तु सेवायां दासत्वेन स्थेयम्। यथा गङ्गायामपवित्रजलं किञ्चिद्भिन्नं भवति, तदा गङ्गोदकं न स्यात्, तथा अन्यदेवाश्रितो भवति, स शुद्धो न स्यात्। उक्तं च षष्ठस्कन्धे 'यावदन्याश्रयस्तावद्भगवानपि तं जनम्। आलोकयेन्न कृपया ह्यनन्यजनवत्सलः'। गीतायां च 'सर्वधर्मान् परित्यज्ये'ति। ननु सर्वधर्मेण सहैव निवर्त्यानां दोषाणां कथमेवं निवृत्तिः, तत्राहुस्तत इति। ततो ब्रह्मणि परं स्थितानामपि दोषाणां गङ्गात्वं गङ्गातुल्यत्वमित्यर्थः। यथा गङ्गातिरिक्तापवित्रजलानां गङ्गाप्रवाहान्तःपातित्वे सम्पन्ने गङ्गात्वमेव, तेषां न भवः, पृथग्भावः। गङ्गात्वे सम्पन्ने पूर्वकालीनगुणदोषादिवर्णना यथा जलानां न निरूप्या भवति, तद्वदेवात्रापि भगवत्सम्बन्धे जाते ते पञ्चविधदोषाणां स्थितानामप्यदोषत्वमित्यर्थः। एवशब्दोऽवधारणे। हि शब्दोप्युक्तं युक्तमेवेति।

इति श्रीश्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचितं सिद्धान्तरहस्यविवरणं समाप्तम्।

इसमें दृष्टांत **गङ्गात्वं सर्वदोषाणां** इन शब्दों से दे रहे हैं।

जिस प्रकार शुद्ध या अशुद्ध -जल गंगा में मिलने पर गंगा के तुल्य हो जाता है, परंतु गंगा में वह शुद्ध एवं अशुद्ध-जल भिन्न रूप से ही रहते हैं। वह इस प्रकार कि, जब गंगा में लोग शौचादि करते हैं, तब गंगा उन्हें अशुद्ध-जल देती है। मल-निवारण के लिए निर्मल अर्थात् शुद्ध-जल देती है एवं पाप धोने के लिए गंगाजल देती है। उसी प्रकार मेरे सेवक मुझे भजते हुए मेरे सदृश तो हो जाते हैं किंतु सेवा में तो दासरूप से ही रहना चाहिए। जिस प्रकार गंगा में अपवित्र जल कुछ भिन्नतया ही रहता है, तब वह गंगाजल नहीं होता उसी प्रकार जो अन्य देवों के आश्रित है, वह शुद्ध नहीं होता। इसी को षष्ठस्कंध में ''जब तक अन्याश्रय है तब तक अनन्यजनवत्सल-भगवान भी उस व्यक्ति पर कृपादृष्टि नहीं करते हैं'' इस वाक्य द्वारा कहा गया है एवं गीता में ''सभी धर्मों का त्याग करके मात्र मेरी शरण में आ (भ.गी.१८/६६)'' इस वाक्य से कहा गया है। यहाँ शंका होती है कि भूतशुद्धि-देहशुद्धि आदि समस्त धर्मों के साथ ही निवर्त होनेवाले इन दोषों की इस प्रकार मात्र समर्पण द्वारा ही कैसे निवृत्ति होगी? वहाँ इसका समाधान **ततः** इन शब्दों से कह रहे हैं। ततः शब्द का यहाँ अर्थ यह है कि ब्रह्मता हो जाने के पश्चात् जब जीव में रहे हुए दोष भी ब्रह्मरूप हो जाते हैं जैसे गंगा में मिला हुआ दूषित जल भी गंगाजल ही हो जाता है, यह अर्थ है।

जिस प्रकार गंगा से अतिरिक्त अपवित्र-जल गंगाप्रवाह में गिरने पर गंगामय हो जाते हैं, एवं इसके बाद वे पृथकरूप से नहीं रह जाते हैं एवं गंगामय हो जाने के पश्चात् जिस प्रकार उन जलों के पूर्वकालीन-गुणदोषों का वर्णन निरूपणयोग्य नहीं रह जाता, उसी प्रकार यहाँ भी भगवत्संबंध हो जाने पर रहे हुए वे पंचविध-दोष भी दोषरूप नहीं रह जाते, यह अर्थ है। 'एव' शब्द इस अर्थ की दृढ़ता का सूचक है। 'हि' शब्द 'यह सभी कुछ युक्त ही है' इस अर्थ को द्योतित करने के लिए कहा गया है।

यह श्रीश्रीमद्-विट्ठलेश्वरविरचित 'सिद्धांतरहस्यविवरण' समाप्त हुआ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सिद्धान्तरहस्यम् ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवरणसमेतम् ।

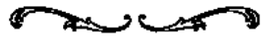

श्रीकृष्णदेवमुखपद्ममरन्दपूर्णवाक्यानुवादविनिवारितजीवदोषम् ।
आचार्यवर्यचरणौ हृदये निधाय नत्वा वचस्तदुदितं विवृणोति दासः ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा भगवदाज्ञया तदभिप्रेतं भक्तिमार्गं प्रकटीकरिष्यन्तो 'यो वै भूमा तत्सुखम्' 'कृषिर्भूवाचकः शब्द' इत्यादिश्रुतिभिर्निरवध्यानन्दरूपस्य भगवतः कृष्णस्य 'स वा अयमात्माऽपहतपाप्मा' इत्यादिश्रुत्या 'निर्दोषपूर्णगुणविग्रह' इति पञ्चरात्रस्मृत्या च निर्दोषत्वात्, 'मुक्तोपसृप्य' सूत्रे च निर्दोषैरेव सेव्य इत्यपि सिद्धत्वादिदानीन्तनानां युगदोषेण सुतरां दुष्टत्वात्तत्कृतसेवारूपाया भक्तेर्भगवतानङ्गीकारे तत्फलाभावादुपदिष्टोपि भक्तिमार्गः कथं फलिष्यतीति चिन्तां यदा कृतवन्तः, तदा तच्चिन्तानिवृत्त्यर्थमाविर्भूतेन भगवता कृपया साक्षाद्यदुक्तं तदत्र कृपया स्वीयान् ज्ञापयितुं प्राकट्यकालोक्तिपूर्वकमुपनिबध्नन्तस्तद्वक्तुं प्रतिजानते श्रावणस्येत्यादि ।

श्रीकृष्णदेव के मुखकमल के मकरंद से परिपूर्ण वाक्यों का अनुवाद जीव के समस्त दोषों का निवारक है।
आचार्यचरणों को हृदय में धारण कर, उनके द्वारा कहे वचनों को नमस्कार करके (मैं) 'दास' उनका विवरण कर रहा हूँ ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरण ने भगवद्-आज्ञा से भगवान द्वारा अभिप्रेत भक्तिमार्ग प्रकट करके की इच्छा करते हुए यह चिंता की, कि ''यह भूमा (भगवान) सुखरूप है (छान्दो. ७/२३)'', ''कृष् शब्द सत्ता का वाचक है'' इत्यादि श्रुतिवाक्यों के अनुसार भगवान कृष्ण निरवधि-आनंदरूप हैं एवं ''यह आत्मा (परमात्मा) पाप को नष्ट कर देता है।'' इस श्रुति एवं ''निर्दुष्ट एवं गुणयुक्त-विग्रह'' इस नारदपंचरात्रस्मृति के द्वारा निर्दोष हैं। वे 'मुक्तोपसृप्य' सूत्र के द्वारा दोषरहितजीवों के द्वारा ही सेव्य हैं, यह भी सिद्ध होता है। अतः आधुनिक जीवों के तो युगदोष द्वारा और भी अधिक दुष्ट हो जाने के कारण ऐसे दुष्टजीवों के द्वारा की गई सेवारूप-भक्ति भगवान द्वारा अस्वीकार कर दिए जाने पर उस भक्ति के फल का अभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति में उपदिष्ट भक्तिमार्ग भी कैसे फलित होगा ? यह चिंता जब श्रीआचार्यचरणों ने की, तब उस चिंता की निवृत्ति के लिए आविर्भूत हुए भगवान ने कृपा-द्वारा साक्षात् प्रकट होकर जो कहा, वह यहाँ आचार्यचरण कृपाद्वारा स्वीयजनों को बताने के लिए भगवान के प्रकट होने का समय कहने के साथ उपनिबंधित करते हुए कहने की प्रतिज्ञा **श्रावणस्य** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि ।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरञ्च उच्यते ॥ १ ॥

अत्र मासपक्षतिथिसमयानामुल्लेखो विवक्षितसाधनस्य साधकगताधिभौतिकादित्रिविधदोषनिवृत्तिसामर्थ्यसूचनार्थः । श्रवणर्क्षं हि वैष्णवम्, तत्सम्बन्धेन प्रसिद्धो मासः श्रावणो, 'यः कश्चिद्वैष्णवो लोक' इति न्यायेन साधकजनपावनः । पूर्वः पक्षोप्यमलत्वात्प्रत्यहमधिकाधिकतमोहर इति मासपक्षौ बाह्यभौतिकदोषनिवर्तकौ । एकादशी चोपवासेनैकादशेन्द्रियदोषहारिका गुणाधायिका चेत्याध्यात्मिकदोषहरा । महानिशा च भक्तरक्षार्थमाविर्भूतस्य भगवतः प्रादुर्भावकालत्वादाधिदैविकदोषहरेति । एतादृशे काले प्रादुर्भूय यत्साधनमुपदिष्टं तत्साधकनिष्ठत्रिविधदोषनिवर्तकमिति बोधितम् ।

यहाँ प्रथम श्लोक में आए 'मास', 'पक्ष', 'तिथि', 'समय' का जो उल्लेख किया गया है, वह आगे कहा जानेवाला ब्रह्मसंबंधरूपी-साधन 'साधक' में रहनेवाले आधिभौतिक-आदि तीन प्रकार के दोषों की निवृत्ति करने में समर्थ है'' - यह सूचन करने के लिए है। 'श्रवण' नामक नक्षत्र वैष्णव है एवं इस नक्षत्र के संबंध से प्रसिद्ध मास 'श्रावणमास' है। यह मास 'इस लोक में जो कोई भी वैष्णव है' इस श्लोकानुसार साधकजनों को पावन करनेवाला है। यहाँ पक्ष भी 'अमल' कहा होने से वह प्रतिदिन अधिकाधिक अंधकार को दूर करनेवाला है अतः 'मास' एवं 'पक्ष' जीव के बाह्यभौतिकदोषों के निवर्तक हैं। एवं 'एकादशी', उपवास के द्वारा एकादश-इंद्रियों की दोषहारिका एवं गुणाधान करने वाली होने के कारण आध्यात्मिक दोषों को हरनेवाली है। एवं 'महानिशा' चूँकि भक्तरक्षा के लिए आविर्भूत हुए भगवान के प्रादुर्भाव का काल है, अतः आधिदैविक-दोषों को हरनेवाली है। ऐसे काल में भगवान ने प्रादुर्भूत होकर जिस ब्रह्मसंबंधरूपी साधन का उपदेश किया, वह साधक में रहनेवाले त्रिविध-दोषों का निवर्तक है, यह बोधित होता है।

इदमत्रोच्यमानं सर्वं भगवद्वाक्यान्याकलय्य श्रीमदाचार्यैः पद्येषु तदर्थसङ्ग्रहरूपमुक्तमिति सर्वे प्राञ्च आहुः ।

अत्र मम त्वन्यदपि प्रतिभाति। तथाहि। एकादशस्कन्धे समर्पणं स्थलचतुष्टये निरूपितम्। तत्र पूर्वं योगेश्वरवाक्येषु कविना 'ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये। अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि ता'निति लक्षयित्वा, 'यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित्। धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिहे'ति तन्माहात्म्यं चोक्त्वा, 'कायेन वाचा' इति श्लोके सर्वक्रियाणां भगवदर्थे समर्पणमुक्तम्। ततोन्यानपि भक्तिपूर्वकगुरुभगवद्भजनादीनप्युक्त्वा, 'भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति'रिति द्वाभ्यां भक्तिप्रभृतीनि चत्वारि फलान्युक्तानि। ततः प्रबुद्धेन तत्र 'भागवतान्धर्मान् शिक्षे'दित्युपक्रम्य, 'सर्वतो मनसो सङ्ग'मित्यादिना तान् वदता 'इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम्। दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदन'मित्याद्युक्त्वा, ततो भक्त्या मायातरणरूपं तच्छिक्षाफलमुक्तम्। एकादशाध्याये च 'भक्तिस्त्वय्युपयुज्येत कीदृशी सद्भिरादृते'त्युद्धवप्रश्ने, 'मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चन'मित्याद्यष्टभिर्भगवता सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनमिति भक्तिमध्ये गणितम्; फलं तु तत्र नोक्तम्। तेन तत्र प्रश्नवाक्योक्तो भगवदुपयोग एव फलम्।

यहाँ कहे गये समस्त भगवद्-वाक्यों को एकत्र करके श्रीमदाचार्यों ने उनका अर्थ पद्यों में संग्रहीत करके कहा है, यह सभी प्राचीन-आचार्यों ने कहा है।

मुझे तो यहाँ कुछ और भी प्रतिभासित हो रहा है। अध्येताओं की सुबोधता के लिए बता दें कि यहाँ से टीकाकार किसी पूर्वपक्षी की शंका उठा रहे हैं। इसके लिए उन्होंने आगे श्रीमद्-भागवत के एकादशस्कंध के कई श्लोक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए हैं जिनसे इन श्लोकों में कहे निवेदन, समर्पण, भक्ति आदि की यहाँ इस सि. रहस्य ग्रंथ में कहे निवेदन, समर्पण और भक्ति आदि से समानता प्रतीत होती है। कदाचित् किसी पूर्वपक्षी को ये शंका हो सकती है कि यदि ये समानता प्रतीत हो रही है तो कहीं ऐसा तो नहीं कि यहाँ सि. रहस्य में उन वाक्यों का ही अनुवाद कर दिया हो? अतः अध्येताओं से अनुरोध है कि टीकाकार के पक्ष को भलीभाँति समझने के लिए इन श्लोकों के पूर्वापर प्रसंगों को अवश्य देखें तब ही सुगमता होगी। वह यह कि श्रीमद्भागवत के एकादश-स्कंध में समर्पण चार स्थानों पर निरूपित किया गया है। वहाँ सर्वप्रथम योगेश्वरवाक्यों में 'कवि' नामक योगेश्वर ने "भगवान ने अज्ञानी पुरुषों को भी सुगमता से साक्षात् स्वयं की प्राप्ति के लिए जो उपाय स्वयं कहे हैं वे ही 'भागवत-धर्म हैं' (श्री.भा.११/२/३४)" इस वाक्य से लक्षित करके एवं "हे राजन्! इन भागवत-धर्मों का अवलंबन करके मनुष्य कभी विघ्नों से पीड़ित नहीं होता और नेत्र बंद करके दौड़ने पर भी न स्खलित होता है न गिरता है (श्री.भा. ११/२/३५)" इस श्लोक के द्वारा 'समर्पण' का माहात्म्य कहकर, "शरीर से, वाणी से जो करे उसे समर्पण कर दे (श्री.भा. ११/२/३६) इस श्लोक द्वारा देह की समस्त क्रियाओं का भगवान के लिए समर्पण कहा है। इसके पश्चात् अन्यों ने भी भक्तिपूर्वक गुरु-भगवद्भजन आदि को कहकर "भक्ति, प्रभु के स्वरूप का अनुभव एवं अन्य वस्तुओं में वैराग्य (श्री.भा.११/२/४२)" इन दो श्लोकों द्वारा भक्ति के जैसे चार फलों को कहा है। इसके पश्चात् 'प्रबुद्ध' नामक योगेश्वर ने वहाँ "इन भागवत-धर्मों की शिक्षा ग्रहण करे (श्री.भा.११/३/२२)" इस श्लोक से उपक्रम करके, "भगवान से इतर सभी ओर मन की अनासक्ति (श्री.भा.११/३/२३)" इत्यादि श्लोकों द्वारा भागवत-धर्मों को कहते हुए "यज्ञ, दान, तप, जप, सदाचार का पालन, स्त्री, पुत्र, घर, प्राण इत्यादि जो कुछ प्रिय लगता हो, उसे भगवान को निवेदन करे (श्री.भा.११/३/२८)" इत्यादि वाक्य कहकर पश्चात् भक्ति के द्वारा मायातरणरूप उस भक्ति की शिक्षा का फल कहा है। एवं एकादश-अध्याय में "आपके प्रति कैसी भक्ति करनी चाहिए, जिसका संत आदर करते हैं? (श्री.भा.११/११/२६)" इस उद्धवजी के प्रश्न पर "मेरी मूर्ति, मेरे भक्तजनों का दर्शन, मेरा स्पर्श, मेरा अर्चन करे (श्री.भा.११/११/३४)" इत्यादि आठ श्लोकों द्वारा भगवान ने उपलब्ध समस्त वस्तुओं को दास्य भाव द्वारा भगवान में निवेदन करना भक्ति के अंतर्गत गिना है, किंतु ऐसी भक्ति या ऐसे निवेदन का फल क्या है? यह वहाँ नहीं कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि, उद्धवजी के इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया निवेदन ही फल है।

ऊनविंशे तु महद्भिमृग्यभक्तिप्रश्न उद्धवेन कृते 'भक्तियोगः पुरैवोक्त' इत्युक्त्वा, तत्परमकारणं कथयिष्यामीति प्रतिज्ञाय, 'श्रद्धामृतकथायां म' इत्यादिभिश्चतुर्भिस्तद्ददता, 'एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिना'मित्यनेनाधिकारतयात्मनिवेदनमुक्त्वा 'मयि संजायते भक्तिः कोन्योर्थोस्यावशिष्यत' इति फलमुक्तम्। अतोत्र निरूप्यमाणं ब्रह्मसम्बन्धात्मकं समर्पणं तत्फलं तत्प्राशस्त्यं तदावश्यकत्वं च यदस्ति, तत्तेषामेव वाक्यानामनुवाद इति शङ्कानिरासार्थं कालविशेषे पृथगाविर्भूय भगवतोक्तमिति बोधनाय तादृशत-त्कालानुवाद[1] इति च। तथा वाक्यानि तु श्लोकरूपाण्यपि भगवत एव। अक्षरश उच्यत इति कथनात्। तेन वाक्यकथनस्यैवेयं प्रतिज्ञेति च।

उन्नीसवें अध्याय में उद्धवजी के महद्भिमृग्यभक्ति के संदर्भ में प्रश्न करने पर भगवान ने "भक्तियोग तो मैं तुम्हें पहले ही कह चुका हूँ (श्री.भा.११/१९/१९)" यह कहकर "ऐसी महद्भिमृग्यभक्ति का मूल कारण कहूँगा" यह प्रतिज्ञा करके "मेरी अमृतमयी कथा में श्रद्धा रखे (श्री.भा. ११/१९/२०)" इत्यादि चार श्लोकों द्वारा उस भक्ति के परम कारण को कहते हुए "इस प्रकार जो इन धर्मों का पालन करते हैं

---

१ तदनुवाद इति पाठः।

एवं मेरे प्रति आत्मनिवेदन कर देते हैं (श्री.भा.११/१९/२४)'' इस श्लोक द्वारा अधिकारतया आत्मनिवेदन को कहकर ''उसमें मेरी प्रेममयी भक्ति का उदय हो जाता है और जिसे मेरी भक्ति प्राप्त हो गई अब उसके लिए किस दूसरी वस्तु का प्राप्त होना शेष रह जाता है (श्री.भा.११/१९/२४)'' इस श्लोक द्वारा उस महद्विमृग्यभक्ति का फल कहा है। यहाँ प्रयुक्त हुए 'अधिकारतया' शब्द को समझें। इन श्लोकों के विवरणों को ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि, जिन्होंने 'एवं धर्मैः....' इत्यादि श्लोकों के अनुसार भगवान में सभी कुछ समर्पण कर दिया है, वे ही इस महद्विमृग्यभक्ति के अधिकारी हैं। अन्यों को तो सामान्य-भक्ति ही प्राप्त होती है, यह अर्थ है। अतः उपर्युक्त श्लोकों का अनुसंधान करने पर यह शंका होती है कि यहाँ इस 'सिद्धांतरहस्यग्रंथ' में कहे जा रहे ब्रह्मसंबंधात्मक समर्पण एवं उसका फल, उसकी प्रशस्ति एवं उसकी जो कुछ भी आवश्यकता है, वह कहीं इन्हीं श्लोकों का ही अनुवाद तो नहीं ? इस शंका के निराकरण के लिए यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि यहाँ सि.र.ग्रं. में कहे जा रहे वाक्य भगवान ने पृथकरूप से आविर्भूत होकर एक विशिष्ट समय में कहे हैं एवं यह उपदेश वैसे तादृशी जीवों के लिए है एवं उसी विशिष्ट काल में प्रभु ने साक्षात् प्रकट होकर जो कहा, यह उसी का अनुवाद भी है। और, ये सभी वाक्य श्लोकरूप होते हुए भी भगवान के ही हैं, यह जानना चाहिए। क्योंकि इस ग्रंथ के अंतर्गत प्रथम कारिका में 'अक्षरशः उच्यते' यह कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ श्रीमहाप्रभुजी ने भगवद्-वाक्यों को ही कहने की प्रतिज्ञा की है। यहाँ तक टीकाकार ने ये स्पष्टीकरण दिया है कि यहाँ कहा गया समर्पण एकादश-स्कंध में कहे गये समर्पण से भिन्न है। इसे सिद्ध करने के लिए उन्होंने कुछ पक्ष भी प्रस्तुत किए हैं। किंतु यहाँ आगे कोष्टक के अंतर्गत जो बातें कहीं जा रहीं हैं वे अन्य उठी हुई कुछ दूसरी शंकाओं के निवारण के लिए हैं। कोष्टक संपूर्ण हो जाने के बाद विषय वहीं से जुड़ जायेगा जहाँ से कोष्टक आरंभ हुआ था। अर्थात् एकादश-स्कंध में कहा गया समर्पण और यहाँ सि. रहस्य में कहा गया समर्पण भिन्न है - इस पक्ष पर पुनः बात जुड़ जायेगी।

(ननु[१] यदि तदानीन्तनवाक्यकथनस्यैवेयं प्रतिज्ञा, तदा समर्पणगद्यमपि कुतो नोक्तमिति चेत्। उच्यते। तद्धि पञ्चाक्षरमन्त्रविवरकत्वादतिगोप्यम्, अतो नोक्तम्। शास्त्रे ह्यतिगोप्या मन्त्रादय उद्धियन्त एव, न तु प्रकाशतया कथ्यन्ते। यथा 'स्पर्शेषु यत् षोडशमेकविंशमि'त्यादि। तन्मन्त्रविवरकत्वं चैतस्यैव ज्ञेयम्। तत्र हि मन्त्रस्थोत्तमपुरुषान्तक्रियापदसूचितस्य कर्तुः स्वरूपम्, तस्य सपरिकरस्य भगवदीयत्वम्, तस्यैव भगवद्वियुक्तत्वादिबोधनात् मन्त्रस्थषष्ठ्युक्तभगवत्स्वामिकत्वसंबन्धशालित्वं च विवृतम्, भगवत्पदविशेषितकृष्णपदेन च निरङ्कुशजगदीश्वरत्वादिबोधनादवतारं व्यावर्त्य मन्त्रस्थं कृष्णपदं विवृतम्, तादर्थ्यचतुर्थ्या समर्पणफलं च बोधितमिति तथेति तदनुक्तिः। किञ्च, समर्पणं नवविधभक्तावात्मनिवेदनत्वेन प्रसिद्धमिति न तत्र कोपि सन्देह इत्यतोपि तथा। तस्य दोषनिवर्तकत्वं तु षष्ठस्कन्धे 'यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पुरुषनिषेवये'त्यनेन भगवदीयसङ्गादुक्तम्। किञ्च, 'दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभा'इत्यत्र सर्वाशुभनिवारकत्वेन सिद्धस्य दुःसहभगवद्विरहतापस्य तदानीमभावात् सेवाङ्गीकारसम्पादिका दोषनिवृत्तिः कथं स्यादिति शङ्कानिवृत्त्यर्थं हि ब्रह्मसम्बन्धकरणपदेन तत्पूर्वोक्तं सर्वमनूद्य ततः सर्वदोषनिवृत्तिरत्राभिधित्सिता। एकादशोनविंशाध्याये भगवतात्मनिवेदनस्य भक्तिमार्गीयधर्माधिकारत्वबोधनेन एतस्यैवार्थस्य सूचनात्। अतो यदुरूहं तदेव व्युत्पाद्यम्, न तु निःसंदिग्धं सुबोधं वा। अतोपि तदनुक्तिरिति जानीहि।

यहाँ एक शंका यह होती है कि, यदि श्रीमहाप्रभुजी ने उस समय उन भगवद्-वाक्यों को अक्षरश कहने की प्रतिज्ञा की है तो समर्पणगद्यमंत्र का उल्लेख क्यों नहीं किया ? इस शंका का समाधान यह है कि 'समर्पणगद्यमंत्र' पंचाक्षरमंत्र के अंतर्गत होने के कारण अति गोपनीय है, इसलिए नहीं कहा। शास्त्र में जो मंत्रादि अति गोपनीय होते हैं, वे केवल उद्धरित किए जाते हैं, स्पष्टरूप से प्रकाशित कर के नहीं कहे जाते। जैसे ''स्पर्शों में 'सोहलवाँ' एवं 'इक्कीसवाँ' वर्ण (श्री.भा.२/९/६)'' इस श्लोक में कहा है। यहाँ टीकाकार उपर्युक्त श्रीमद्-भागवत के श्लोक से यह समझाना चाह रहे हैं कि मंत्रों गी गोपनीयता क्या है? उपर्युक्त श्लोक का विरण करने से पहले यह जान लें कि यहाँ कहे 'स्पर्श' शब्द का क्या अर्थ है? संस्कृत-व्याकरण 'क' से लेकर 'म' तक के वर्ण स्पर्श कहे गये हैं (देखें लघु.सि.कौ.-संज्ञाप्रकरण/१०)। इन स्पर्श-वर्णों में सोलहवाँ वर्ण 'त' एवं इक्कीसवां वर्ण 'प' है। इन दोनों को मिला देने पर 'तप' शब्द बनता है। श्रीमद्भागवत में प्रसंग आता है कि जब भगवान ने सृष्टि की रचना करने के लिए 'ब्रह्माजी' की रचना की, वहाँ आरंभ में ब्रह्माजी को स्वयं के स्वरूप का ज्ञान नहीं था। उनके जन्म का प्रयोजन भी उन्हें ज्ञात नहीं था अतः वे विचारमग्न हुए। ऐसे में प्रलय के समय पार्श्व में ध्वनि प्रकट हुई। उस ध्वनि ने इसी सोलहवें एवं इक्कीसवें वर्ण का उपदेश किया, जिसका अर्थ होता है 'तप करो'। टीकाकार इसी का उदाहरण देते हुए समझाना चाह रहे हैं कि जैसे यहाँ भी सीधे-सीधे न कह कर सांकेतिक शब्दों में भगवद्-वाक्य कहे गये हैं उसी प्रकार यहाँ भी - चूँकि भगवद्-वाक्य हैं और गोपनीय हैं - अतः स्पष्टरूप से नहीं कहे गये हैं, यह अर्थ है। भगवद्-वाक्य, भगवद्-मंत्र आदि का तात्पर्य गंभीर होता है अतः अनधिकारीयों से गुप्त रखने के लिए वे सूत्रात्मकशैली में ही कहे जाते हैं। देखें 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः (ऐत.उप.१/३/४) उस गद्यमंत्र की गोपनीयता भी इसी उदाहरण से जान लेनी चाहिए। उस पंचाक्षरमंत्र में रही हुई 'उत्तमपुरुष' की क्रिया 'कर्ता' के स्वरूप का सूचन कर रही है। इस वाक्य से

---

१ ( ) चिह्नान्तर्गतं श्रीपुरुषोत्तमैः पञ्चाक्षिखितमिति प्राचीनपुस्तकेषु प्रायः तद्दर्शनाभावात् प्रतिभाति।

टीकाकार पंचाक्षर-मंत्र में रहे 'अस्मि' पद का विवेचन कर रहे हैं। वे कहते हैं कि चूँकि 'अस्मि' पद उत्तमपुरुष की क्रिया है अतः इससे निवेदनकर्ता की उत्तमता बोधित हो रही है। उसकी उत्तमता क्या है? यह वे आगे स्पष्ट कर रहे हैं कि सर्वप्रथम तो वह स्वयं ही समर्पण कर रहा है और दूसरे उसके समर्पण कर देने से उसका संपूर्ण परिकर भी भगवदीय हो जा रहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि निवेदन करने के पश्चात् उसका संपूर्ण परिकर भी भगवदीय हो जाता है। चूँकि 'अस्मि' पद देने के द्वारा यह सिद्ध हो रहा है कि भगवान से वियोग भी उसी का हुआ है अतः पंचाक्षरमंत्र में रही हुई षष्ठिविभक्ति – भगवान ही उसके स्वामी है – इस प्रकार का बोध करा रही है। जानना चाहिए कि टीकाकार यहाँ पंचाक्षर-मंत्र की चर्चा कर रहे हैं। पंचाक्षर-मंत्र में प्रयुक्त 'तव' पद में षष्ठी-विभक्ति है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार यदि कहीं 'संबंध' दर्शाना हो तो वहाँ षष्ठी-विभक्ति का प्रयोग होता है। विशेषरूप से यदि स्वामि-भृत्य का संबंध दर्शाना हो तो वहाँ भी षष्ठी-विभक्ति का प्रयोग होता है। उदा. के लिए राज्ञःपुरुषः (राजा का आदमी) में स्वामी-नौकर का संबंध होने के कारण 'राजन्' शब्द में षष्ठी-विभक्ति हुई है। इसी प्रकार यहाँ भी जीव निवेदन के द्वारा स्वयं को सेवक एवं प्रभु को स्वामी स्वीकार कर रहा है अतः यहाँ भी षष्ठी-विभक्ति का ही प्रयोग हुआ है जो उसके स्वामी-भृत्य के संबंध का द्योतन कर रही है। एवं विशेषतया भगवत्पद के वाचक 'कृष्ण' पद से भगवान निरंकुश-जगदीश्वर हैं, यह बताया जा रहा है। उन्हें कोई मात्र अवतार न समझ ले, इस शंका के निराकरण हेतु इस पंचाक्षरमंत्र में 'कृष्ण' पद दिया गया है। 'कृष्ण' पद में यद्यपि स्पष्टतया कोई भी विभक्ति नहीं दिखाई देती, तथापि चतुर्थी-विभक्ति (तादर्थ्ये) के अंतर्निहित होने के कारण 'कृष्ण' को ही फल समझना चाहिए। और समर्पण नवधाभक्ति में 'आत्मनिवेदन' रूप से प्रसिद्ध ही है, इसमें भी कोई संदेह नहीं है। इस कारण से भी यदि यहाँ समर्पण की बात न कही हो तो कोई आपत्ति नहीं है। आत्मनिवेदन समस्त दोषों का निवारक है, यह षष्ठस्कंध में ''पापी पुरुष की जैसी शुद्धि भक्तजनों का संग करने से होती है एवं कृष्ण को आत्मसमर्पण करके होती है, वैसी तपस्या से भी नहीं होती (श्री.भा.६/१/१६)'' इस श्लोक में भगवदीयों का संग करने के द्वारा कहा गया है। और भी, ''कृष्ण के प्रति तीव्रताप से समस्त अशुभ भस्म हो गये (श्री.भा.१०/२९/१०) इस श्लोक द्वारा भगवान के लिए हृदय में उत्पन्न हुआ विरहताप ही समस्त अशुभ का निवारक है। अतः समझना चाहिए कि आधुनिक जीवों में तो इस समय उस सिद्ध-भगवद्-विरहताप का अभाव है, तो भगवान द्वारा सेवा को अंगीकार करानेवाली दोषों की निवृत्ति कैसे होगी ? इस शंका के निराकरण के लिए आचार्यचरणों को यहाँ 'ब्रह्मसंबंधकरण' इस पद के द्वारा पूर्व में कही गई उस विरहता को कह कर, इसके पश्चात् समस्त दोषों की निवृत्ति ही यहाँ अभीष्ट है। क्योंकि श्रीमद्-भागवत के एकादशस्कंध के उन्नीसवें अध्याय में भगवान ने 'आत्मनिवेदन' को भक्तिमार्गीय-धर्म का अधिकार कहा है एवं उपर्युक्त-अर्थ की ही सूचना ही है। अतः जो दुरुह हो अर्थात् जो समझने कठिन हों - उन्हीं का विवरण करना चाहिए, संदेहरहित अथवा सुबोध का विवरण करने की आवश्यकता नहीं होती। इसी कारण यहाँ इस ग्रंथ में गद्यमंत्र में कहे वाक्यों को नहीं कहा गया है यह जान लीजिए। यहाँ टीकाकार कह रहे हैं कि जो अर्थ दुरुह हों उनका ही अर्थ करना चाहिए सुबोध का नहीं। इस वाक्य का आशय यह है कि पूर्व में यह शंका उठी थी कि यदि श्रीमहाप्रभुजी ने 'अक्षरश उच्यते' कहा है तो फिर इस ग्रंथ में गद्यमंत्र का उल्लेख क्यों नहीं है ? टीकाकार इसी शंका के उत्तर में उपर्युक्त वाक्य कह रहे हैं। वे कहते हैं कि निवेदन-समर्पण-भक्ति इत्यादि समस्त वस्तुओं की चर्चा तो श्रीमद्-भागवत में की जा चुकी हैं अतः उन समझे-समझाए वाक्यों की पुनरावृत्ति करने में क्या लाभ ? हाँ, पर जीव के दोषों की एवं उनके निवारण की ऐसी दोई चर्चा वहाँ विस्तारपूर्वक नहीं हुई है, और यही दोषों की निवृत्ति भगवान की सेवा करने में अधिकार उत्पन्न करती है। अतः श्रीमहाप्रभुजी को इस ग्रंथ में दोषों की निवृत्ति को बताना ही अभिप्रेत है। यही दुरुह है अतः यही बता रहे हैं। सुबोध वाक्यों की पुनरावृत्ति करने से क्या लाभ ? यह अर्थ है।

ननु वाक्यकथनप्रतिज्ञापेक्षया तदर्थकथनप्रतिज्ञैव साधीयसी, एतदुपपादनानपेक्षत्वादिति चेद्, गद्यं मन्त्रविवरणरूपम्, तस्यार्थस्य सुतरां गोप्यत्वम्। अतोर्थप्रतिज्ञायामपि सर्वेषां वाक्यानामर्थे क्रियमाणेऽपि वाक्यार्थप्रतिज्ञातत्वात् गद्यार्थः कुतो नोक्त इति शङ्का उदियात्, तदा गद्यस्यापि अर्थोवश्यं कर्तव्यत्वेनायाति, तदा वाक्यार्थयोः प्रतिज्ञायामविशेषः। तेनार्थप्रतिज्ञापेक्षया श्रीमुखवाक्यप्रतिज्ञा गरीयसीति सैव कृता। गद्यार्थः कुतो नोक्त इति शङ्कायास्तदाप्युदयात्। उदितायां तस्यां तत्राप्युपपादनस्यावश्यकत्वमिति पक्षद्वयेपि विशेषाभावात्। यत् पुनः प्राचीनैरत्र किमपि नोक्तम्, तत्रैतद्गोप्यत्वमेव बीजम्। मया तु यदिदमुक्तम्, तद्बहिर्मुखमुखध्वंसार्थमेवेति न तद्विरोधो दोषाय। यद्यपि मदुक्तौ मार्गरहस्यप्रकाशनापराध आयाति, तथापि प्रकाशनस्यान्यैरेव कृतत्वेन तदर्थसन्देहवारणस्यैव मत्कृतितया स्वोत्कर्षप्रकाशनार्थत्वाभावाद् भगवान् श्रीमदाचार्यचरणाश्च मदपराधं क्षमन्त्विति विज्ञापयामीतिदिक्।)

यहाँ एक शंका यह होती है कि, श्रीमहाप्रभुजी के लिए भगवान द्वारा कहे गये वाक्यों को अक्षरक्षः कहने की प्रतिज्ञा की अपेक्षा उन वाक्यों का अर्थ कहने की प्रतिज्ञा करनी ही क्या अधिक उचित नहीं थी ? क्योंकि किसी के वाक्यों को अक्षरशः कहने की अपेक्षा उनका अर्थ कहना ही अपेक्षित होता है, कोरे वाक्यों को कह देने से क्या लाभ ? ऐसी शंका के निराकरण हेतु समझना चाहिए कि यह गद्यमंत्र 'पंचाक्षर' मंत्र का ही विवरणरूप है एवं इसका अर्थ और भी अधिक गोपनीय है। अतः यदि उन वाक्यों का अर्थ कहने की भी प्रतिज्ञा करते तो भगवान द्वारा कहे गये समस्त वाक्यों का अर्थ करने पर भी 'गद्यमंत्र का अर्थ क्यों नहीं किया?' तब आप ऐसी शंका करते। ऐसी परिस्थिति में गद्यमंत्र का भी अर्थ करना कर्तव्यरूप से अवश्य प्राप्त हो जाता और तब उस 'वाक्य' एवं 'अर्थ'; दोनों की प्रतिज्ञा में कुछ

अंतर ही न रह जाता। इसलिए अर्थ कहने की प्रतिज्ञा की अपेक्षा भगवान के श्रीमुख से निकले हुए वाक्यों को कहने की प्रतिज्ञा ही उचित है, अतः वही की है। क्योंकि यदि वाक्यों का अर्थ कहते तो ''गद्यमंत्र का अर्थ क्यों नहीं कहा ? यह शंका फिर भी रहती। दोनों ही शंकाओं में तब फिर कुछ अंतर ही न रह जाता। जो प्राचीन आचार्यों ने इस समर्पणगद्यमंत्र के विशेष में कुछ नहीं कहा है, उसमें गोपनीयता ही मूल कारण है। मैंने तो जो कुछ भी इस विषय में कहा है, वह बहिर्मुखों को मुँहतोड़ उत्तर देने के लिए कहा है, क्योंकि ऐसे बहिर्मुखों का विरोध करने में कोई भी दोष नहीं है। यद्यपि मेरे इस पंचाक्षरमंत्र अथवा समर्पणमंत्र के विषय में कुछ भी कहने पर मार्ग के रहस्य को खोलने का अपराध आपतित होता है, तथापि जानना चाहिए कि मार्ग के इस रहस्य का प्रकाशन अन्यों ने भी किया है एवं उसमें रहे हुए संदेहों को दूर करने के लिए ही मैंने ऐसा किया है, स्वयं के उत्कर्ष के लिए नहीं। अतः यदि मुझसे कोई अपराध हुआ हो तो भगवान एवं आचार्यचरण मुझे क्षमा करें, यह प्रार्थना करता हूँ।)

न च प्रबुद्धोक्तदारसुतगृहप्राणनिवेदनस्य कव्युक्तकायादिधर्मसमर्पणस्यैकादशाध्यायोक्तस्य दास्येनात्मनिवेदनस्य च गद्ये प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्समर्पणगद्यस्य तदनुवादत्वं शंक्यम्। अर्थतः शब्दतो वा पुरोवादसादृश्यस्यानुवादत्वतन्त्रस्यात्रानुपलम्भात्। तदुक्तफलस्यात्राकथनाच्च। किन्तु सेवाकरणोपदेशात्पूर्वं ब्रह्मसंबन्धकरणेनोनविंशोक्तसेवाधिकारत्वस्यात्र स्फुटत्वादात्मनिवेदनपूर्वकं क्रियमाणसेवाफलत्वेनोक्ताया महद्विमृग्यभक्तेरत्र सहस्रपरीत्यादिनाधिकारिविशेषणेन फलतया सूचनात्प्रबुद्धाद्युक्तार्थसंग्रहेण्यन्तःकरणा-मेहपराणामधिकानां निवेशनेनोनविंशोक्ताधिकारिविशेषणसूचितसंस्कारस्वरूपनिश्चायकेऽस्मिन् गद्ये योगेश्वराद्युक्तातिरिक्तमेवेदं समर्पणं बोध्यते। न चान्तःकरणाद्यन्तकथनस्याधिक्यात् समर्प्यत्वांशे अप्रामाण्यं शङ्क्यम्। अम्बरीषमभिप्रेत्य 'ये दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम्, हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे' इति नवमस्कन्धे दुर्वाससं प्रति भगवद्वाक्ये तेषामपि बोधनात्।

और प्रबुद्ध द्वारा कहे गये पत्नी-पुत्र-गृह-प्राण का 'निवेदन' (देखें श्री.भा.११/३/२८), कवि द्वारा कहे गये काया-आदि धर्म का 'समर्पण' (देखें श्री.भा.११/२/३६) एवं एकादश-अध्याय में दास्यरूप से कहा गया 'आत्मनिवेदन' चूँकि इस गद्यमंत्र में समाहित है, अतः इस गद्यमंत्र को इन्हीं श्रीमद्-भागवत के वाक्यों का अनुवाद नहीं मान लेना चाहिए। क्योंकि अर्थ से अथवा शब्द से किसी भी प्रकार से पूर्व श्रीमद्-भागवत् में कहे गये वाक्यों के समान यहाँ अनुवाद प्राप्त नहीं है। क्योंकि वहाँ श्रीमद्-भागवत में इन समर्पणों का जो 'मायातरणरूपी' फल कहा गया है, वह फल यहाँ इस ग्रंथ में नहीं कहा है। किंतु यहाँ तो यह समझना चाहिए कि, सेवा करने के उपदेश से पहले ब्रह्मसंबंध करना कहा गया होने के कारण श्रीमद्-भागवत के एकादश-स्कंध के उन्नीसवें अध्याय में कहा गया सेवा का 'अधिकार' तो यहाँ समस्त जीवों को प्राप्त ही है। अतः महद्विमृग्यभक्ति को आत्मनिवेदनपूर्वक की जानेवाली सेवा का फल कहा गया है। चूँकि समर्पणगद्यमंत्र में कहे जानेवाले 'सहस्रपरि' इत्यादि वाक्यों द्वारा 'अधिकारी' विशेषण के द्वारा उस समर्पित जीव की फलरूप से सूचना दी गई है, अतः प्रबुद्ध-आदि के द्वारा कहे गये 'पत्नी-पुत्र-गृह-प्राण' इत्यादि का समर्पण में समावेश होने पर भी, यहाँ समर्पणगद्यमंत्र में ''अन्तःकरण-आप्त-इह-पराणि'' इत्यादि अधिक वस्तुओं का समावेश हुआ है। अतः उन्नीसवें अध्याय में ऐसी विशिष्ट भक्ति के अधिकारी के स्वरूप को निश्चय करनेवाले इस समर्पणगद्यमंत्र में कहा हुआ समर्पण योगेश्वर द्वारा कहे हुए समर्पण से भिन्न जानना चाहिए। इसी प्रकार समर्पणगद्यमंत्र में जो 'अन्तःकरण'से लेकर अंत तक जितनी श्रीमद्-भागवत के उपर्युक्त श्लोक में कही वस्तुओं से अधिक वस्तुओं का समर्पण बताया गया है, उसे अप्रामाणिक नहीं मानना चाहिए। क्योंकि भगवान ने नवमस्कंध में राजा अंबरीष को लक्षित करके इन्हीं समस्त वस्तुओं का समर्पण ''जो भक्त स्त्री-पुत्र-गृह-गुरुजन-प्राण-धन-इहलोक-परलोक सभी को छोड़कर मेरे शरणागत हुए हैं, मैं उन्हें कैसे छोड़ सकता हूँ (श्री.भा.९/४/६५)'' दुर्वासा को कहा है।

न चास्मिन् वाक्ये हित्वेति पदाद्दारादित्याग एव बोध्यते, नतु समर्पणमिति तदंशे कथमस्य प्रामाण्यमिति शङ्क्यम्। अम्बरीषस्य तदानीं राज्यदशासद्भावेन परमहंसवद्गृहस्त्यागस्याभावादान्तर एव स वाच्यः। राजा च 'करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिष्वि'त्यादिवाक्या-न्महाराजोपचारेण स्वयं सेवां करोतीति भगवद्धर्मं जानन् रक्षकत्वेन भगवन्तमनुसन्दधानस्तानि कथं न समर्पयेदित्यर्थत एव प्राप्तत्वात्। वस्तुतस्तु राजा मर्यादापुष्टावङ्गीकृतो, न केवलपुष्टौ, न वा पुष्टिमर्यादायाम्, अतस्तस्य महद्विमृग्यभक्त्यर्थित्वाभावात्तत्र तदकथनेप्यदोषः। तस्य तदर्थित्वाभावे च 'केवलेन हि भावेने'ति सन्दर्भे तदनुल्लेख एव गमकः। श्रीकृष्णावतारात् प्राक् तस्य मार्गस्याप्राकट्यादिति। तेन यदस्मिन् गद्ये उच्यते, तन्न कस्याप्यनुवादः, किन्तु कर्मणः कल्पसूत्रवदिदमात्मनिवेदनप्रकारनिश्चायकम्[१], अतो नात्रानुवादशङ्कालेश इति दिक्।

और, इस वाक्य में चूँकि 'हित्वा' अर्थात् 'छोड़कर' पद दिया गया है, अतः यहाँ पत्नी-आदि का 'त्याग' ही अभिप्रेत है 'समर्पण' नहीं अतः - इस वाक्य को समर्पण के लिए प्रमाण मानना उचित नहीं है - ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए। टीकाकार उपर्युक्त श्रीमद्-भागवत (९/४/६५) के श्लोक की चर्चा कर रहे हैं। वे कह रहे हैं कि इस श्लोक में आए 'हित्वा' पद से कोई पूर्वपक्षी यह शंका करे कि यहाँ पत्नी-

---

१ निश्चायकमिति बोध्यमिति पाठः।

पुत्र आदि का त्याग करने का ही उपदेश किया गया है अतः इसे समर्पण के लिए प्रमाण कैसे माना जा सकता है। यहाँ तो त्याग का उपदेश है समर्पण का नहीं ? तो टीकाकार कहते हैं कि ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। इस श्लोक में किया गया उपदेश त्याग का नहीं अपितु समर्पण का ही द्योतक है। इसे वे आगे स्पष्ट कर रहे हैं। क्योंकि राजा अंबरीष उस समय राज्य का शासक था अतः त्याग का प्रश्न तो उपस्थित ही नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि इस श्लोक में कहा जाने वाला त्याग 'परमहंस' की भाँति बाह्यत्याग न होकर आंतरिकत्याग ही है। जाबालोपनिषद् के – संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नाम स परमहंसो नाम - इस वाक्यानुसार संन्यास के द्वारा जो देहत्याग करता है, वह संन्यासी 'परमहंस' है। स्वयं राजा अंबरीष-''उन्होंने हाथों को हरिमंदिर के मार्जन आदि में लगा रखा था (श्री.भा. ९/४/१८)'' इत्यादि श्लोक के द्वारा वहाँ बड़े वैभव से सेवा कर रहा है और इस प्रकार से सेवा करते हुए अपने भगवद्-धर्म को जानते हुए रक्षकरूप-भगवान का ही अनुसंधान कर रहा है तो स्वयं से संबंधित समस्त वस्तुओं को भगवान को समर्पण क्यों नहीं करेगा ? यह बात तो उपर्युक्त श्लोक के अर्थ से ही ज्ञात हो रही है। इस कारण यहाँ 'हित्वा' का अर्थ त्याग न होकर समर्पण ही है। वास्तव में तो राजा अंबरीष मर्यादापुष्टि में अंगीकृत हैं, केवल पुष्टि या पुष्टिमर्यादा में नहीं। अतः उनमें 'महद्विमृग्यभक्ति' की कामना का अभाव है, इस कारण से यदि उनको लक्षित करके कहे गये इस श्लोक में 'हित्वा' का अर्थ समर्पण न लेकर त्याग भी ले लें तो कोई विशेष आपत्ति नहीं है। राजा अंबरीष में 'महद्विमृग्यभक्ति' की कामना नहीं है यह ''निश्चय ही केवल भाव से ही (श्री.भा.११/१२/८)'' इस श्लोक में कहे गये 'केवल भाव' पद का उपर्युक्त नौवें स्कंध में उल्लेख न होना ही प्रमाणित करता है। उपर्युक्त श्रीमद्भागवत (११/२/२८) के श्लोक को ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि यहाँ प्रभु प्राप्ति का साधन केवल भाव ही है न कि किसी प्रकार के साधन। जानना चाहिए कि शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग में निस्साधनता ही प्रभु-प्राप्ति का हेतु है। अतः जहाँ नौवें स्कंध में राजा अंबरीष की चर्चा आई है वहाँ तो राजा अंबरीष बड़े राजसी वैभव से प्रभु-सेवा कर रहे हैं, उनके पास साधनों की कोई कमी नहीं है। अतः इससे भी ज्ञात होता है कि वे शुद्धपुष्टि के अधिकारी नहीं है। वहाँ राजसी वैभवरूप साधन हैं और यहाँ केवल भाव, यह अर्थ है। और भी, स्वयं राजा अंबरीष के समय भगवान श्रीकृष्ण का प्राकट्य हुआ ही नहीं था, इस कारण पुष्टिभक्तिमार्ग का भी प्राकट्य नहीं हुआ था। इन कारणों से यह सिद्ध होता है कि, राजा अंबरीष शुद्धपुष्टि के अधिकारी नहीं थे।

इन समस्त विवरणों से यह सिद्ध होता है कि, जो कुछ भी इस समर्पणगद्यमंत्र में कहा जा रहा है वह किसी भी वाक्यों का अनुवाद नहीं है, किंतु कर्मों के 'कल्पसूत्र' की भाँति इस आत्मनिवेदन के प्रकार का निश्चय करने हेतु कहा जा रहा है। शास्त्र में लौकिक-वैदिक कर्मों को करने के लिए आचार-संहिता दी गई है जिसमें इन कर्मों के विधि-निषेध आदि का उल्लेख हुआ है। इसे कर्मों के 'कल्पसूत्र' कहते है। इसी प्रकार यहाँ इस ग्रंथ के द्वारा भी 'निवेदन' के प्रकार में विधि-निषेध आदि को स्पष्ट किया जा रहा है, यह अर्थ है। अतः यहाँ अनुवाद की लेशमात्र भी शंका नहीं है, यह दिशा स्पष्ट हुई।

न च भवत्वेवम्, तथाप्यत्र पूर्वोक्तवाक्यार्थसङ्ग्राहकत्वं तु स्फुटम्। तथा सति तत्र पुरुषाणां जिज्ञासूनामेवाधिकारदर्शनादत्र पुंसाम् एवाधिकुर्युः नतु स्त्रियोपीति शङ्क्यम्। 'को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजम्। न भजेत्सर्वतो मृत्युरूपास्यममरोत्तमैः। 'सर्वेधिकारिणो ह्यत्र विष्णुभक्तौ यथा नृप'। 'देवोसुरो मनुष्यो वे'त्यादिवाक्यैरिन्द्रियवत्त्वेनैव सर्वेषां नवविधायामपि भक्तौ सामान्येना-धिकारसिद्धौ भक्तिविशेषभूत आत्मनिवेदने स्त्रीणां नाधिकार इति वक्तुमशक्यत्वात्, निषेधाभावात्, प्रत्युत सप्तमस्कन्धे 'तत्तु कालस्य दीर्घत्वात्स्त्रीत्वान्मातुस्तिरोदध' इति दैत्यबालकान् प्रति प्रह्लादवाक्ये कयाधूमुद्दिश्य नारदेन नवविधभक्त्युपदेशस्य बोधनेन तस्यां तस्यापि प्राप्तेश्च। भगवताप्येकादशे सम्वादं समापयता 'साधवे शुचये ब्रूयाद् भक्तिः स्याच्छूद्रयोषिता'मिति शूद्रयोषिद्भ्यो भक्तिसद्भावे पूर्वोक्तस-र्वकथनस्याङ्गत्वात्। कथनस्य च यथाधिकारं करणैकप्रयोजनत्वात्। 'विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोन्त्यजाः। रजस्तमः प्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगेऽनघ। बहवो मत्पदं प्राप्ता' इति तासामपि सत्सङ्गफलस्यापि बोधनाच्च।

चलिए मान लें कि, यह उन एकादश-स्कंध के वाक्यों का अनुवाद नहीं है परंतु उनमें कहे गये वाक्यों का अर्थ तो यहाँ समाविष्ट है ही, यह तो स्पष्ट ही ज्ञात हो रहा है। अतः यह मानना पड़ेगा कि वहाँ कहे समर्पण में एवं इस गद्यमंत्र में कहे समर्पण में समानता तो है ही। इस शंका को यदि सत्य मान लिया जाय तो वहाँ एकादश-स्कंध में जिज्ञासू पुरुषों का ही अधिकार दिखाई देता होने से; इस समर्पण में पुरुष ही अधिकारी हैं, स्त्रियाँ नहीं – यह सिद्ध हो जायेगा। किंतु यहाँ तो ''ऐसा प्राणी कौन है राजन्! जो ब्रह्मा आदि के उपास्य भगवान के चरण कमलों का भजन न करना चाहे? (श्री.भा.११/२/२)''; ''हे राजन्! जैसे विष्णुभक्ति करने में सभी अधिकारी हैं, वैसे'', ''देव-असुर या मनुष्य कोई भी हो (श्री.भा.७/७/५०)'' इत्यादि वाक्यों के द्वारा समस्त इंद्रियवानों का नवधाभक्ति में सामान्यरूप से अधिकार सिद्ध है, अतः भक्ति के आधाररूप-आत्मनिवेदन में स्त्रियों का अधिकार नहीं है, यह कहना असंभव है। क्योंकि भक्ति में कोई स्त्रियों का निषेध है, ऐसा नहीं है, प्रत्युत सप्तमस्कंध में दैत्यबालकों के प्रति प्रह्लाद ने ''बहुत समय बीत जाने के कारण एवं स्त्री होने के कारण माता को स्मृति न रही (श्री.भा.७/७/१६)'' इस वाक्य में 'कयाधू' को लक्षित करके नारद द्वारा दिए गये नवधाभक्ति के उपदेश का बोध कराया है, जिसमें उनकी माता को भी भक्ति की प्राप्ति हुई है।•भगवान ने भी एकादशस्कंध-संवाद को समाप्त करते हुए ''यदि शूद्र और स्त्री भी मेरे प्रति प्रेम-भक्ति रखते हों तो उन्हें भी ब्रह्मविद्या का उपदेश करना चाहिए (श्री.भा.११/२९/३१)'' इस श्लोक के द्वारा उद्धवजी को यह आज्ञा दी कि,

यदि स्त्रीशूद्रों में भी भक्ति हो तो उन्हें भी भक्ति का उपदेश करना चाहिए। किसी को भी कुछ कहने या उपदेश करने का प्रयोजन ही यह है कि, वह यथाधिकार साधन में प्रवृत्त होकर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर ले। और ''मनुष्यों में वैश्य, शूद्र, स्त्री और अन्त्यज आदि रजोगुणी-तमोगुणी प्रकृति के बहुत से जीवों ने मेरा परमपद प्राप्त किया है (श्री.भी.११/१२/४)'' इस श्लोक के द्वारा स्त्रियों को केवल साधन में प्रवृत्ति ही नहीं अपितु प्रवृत्त होने के पश्चात् सत्संग का फल भी बोधित किया गया है।

न च भवतु स्त्रीणामप्यात्मनिवेदनेधिकारः, तथापि स्त्रीव्यक्तिवीतरागिबालानां निवेदने कार्यमाणे तेषां दाराद्यभावात्तत्र तत्पदाकथनं पत्याद्यूहश्च प्राप्नोति, अन्यथा तेषामसमर्पितत्वे तत्सङ्गादोषः स्यात्, अतः स तत्र कुतो न क्रियत इति शङ्क्यम्।

चलिए मान लें कि, आत्मनिवेदन में स्त्रियों का भी अधिकार सिद्ध है तथापि यदि स्त्री, पुरुष, विरक्त, बालक या अन्य ऐसा कोई व्यक्ति जिसके पत्नी-पुत्र आदि हैं ही नहीं, तो वह समर्पण करते समय इनका समर्पण कैसे करेंगे या इनके भविष्य में होने की कल्पना भी कैसे करेंगे? यह शंका होती है। और यदि इस प्रकार भविष्य में होने की कल्पना ब्रह्मसंबंध प्राप्त करते समय न करें तो ये सभी असमर्पित ही रह जायेंगे और तब इनका संग करने पर दोष उत्पन्न होगा। अतः उचित तो यही रहेगा कि भविष्य में जैसे[१] पत्नी-पुत्र-गृह आदि प्राप्त होते जाएँ वैसे[१] तब[१] इनका समर्पण करना चाहिए, इनके पूर्व में न होने के समय केवल इनकी कल्पना करने से क्या तात्पर्य है? यह प्रश्न उपस्थित होता है।

सृष्टिन्यायाद्भूमनिबन्धनया गौण्या दारपदात्पत्युः सुतपदात् पित्रोश्चोपलक्षणे तेषां समर्पितत्वसिद्धेः पूर्वोक्तदोषासंसर्गे तत्प्रयोजनाभावात्। सृष्टिन्यायस्तु पूर्वतन्त्रे प्रथमाध्यायस्योपान्त्ये। तत्र हि 'सृष्टिरूपं दधाती'तिवाक्यं सृष्टिसञ्ज्ञकानामिष्टकानामुपधानं विधत्ते। तत्र काः सृष्टय इत्याकाङ्क्षायाम् 'तद्धानासामुपधानो मन्त्र' इति पाणिनिसूत्राद्यदुपधाने सृष्टिवान् मन्त्रस्ताः सृष्टय इति सिध्यति। मन्त्रास्तु 'ब्रह्मासृज्यत, भूतान्यसृज्यन्त' इत्यादयः पश्चात्पठ्यन्ते। प्रथममन्त्रे 'सृजति'र्न प्रयुक्तः, किन्तु 'दधाति' प्रयुक्तः, 'एकया स्तुवत प्रजा अधीयन्ते'ति तत्पाठात्। तथापि द्वितीयतृतीयादिषु बहुषु मन्त्रेषु सृजति धातुप्रयोगाद्भूमरूपं सादृश्यमस्तीति सृष्टिशब्दः। स सृष्टिसङ्गं बोधयतीति।

इस शंका के निवारण-हेतु समझना चाहिए कि, 'सृष्टिन्याय' के अनुसार सृष्टि में उत्पन्न होनेवाला पदार्थ गौण है और सृष्टिकर्ता मुख्य है। टीकाकार उपर्युक्त उठी शंका को 'सृष्टिन्याय' के उदाहरण द्वारा समझाना चाह रहे हैं। किसी भी वस्तु के सृजन होने में दो ही मुख्य कारण हैं एक 'बीज' एवं दूसरी 'भूमि'। यदि ये दो न हो तो किसी भी पदार्थ का सृजन संभव नहीं है अतः इन दोनों की ही मुख्यता है किंतु इनके संयोग से उत्पन्न होने वाला पदार्थ इनके आगे गौण है। जैसे मिट्टी का घड़ा बनाने के लिए 'कुम्हार' एवं 'मिट्टी' आवश्यक होती है अतः ये दोनों ही मुख्य हैं, इनके संयोग से निर्मित हुआ घड़ा तो गौण है। इसे सृष्टिन्याय कहा जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि वस्तु का मूलकारण ही मुख्य होता है, निर्मित हुई वस्तु नहीं। कारण मुख्य होता है, कार्य नहीं। इसी बात को समझाते हुए टीकाकार कहते हैं कि यहाँ भी 'दारा' पद से मूल एवं मुख्य कारण 'पति' स्वयं ही समाविष्ट हो ही जाता है एवं इसी प्रकार 'सुत' पद से मुख्य कारण 'पिता' समाविष्ट है ही, यह अर्थ है। इसी प्रकार यहाँ भी 'दार' पद कह देने से 'पति' का समावेश हो ही जाता है एवं 'सुत' पद कह देने से 'पिता' का। अतः इनका समर्पण भी सिद्ध है और इसी कारण इनसे संसर्ग होने पर दोष की आपत्ति नहीं है। उपर्युक्त 'सृष्टिन्याय' पूर्वतन्त्र के प्रथमाध्याय के अंत में आया है। वहाँ 'वह सृष्टिरूप धारण करता है' इत्यादि वाक्य से 'सृष्टि' का परिचय देने वाले मंत्रों का विधान है। वहाँ 'सृष्टि क्या है?' इस प्रश्न के उत्तर में ''यदि किसी विशेष वाक्य का विधान किया जा रहा हो तो उसे 'मंत्र' कहते हैं'' इस पाणिनीसूत्र के द्वारा उपर्युक्त वाक्य में सृष्टि का विधान किया जा रहा है इसलिए वे सृष्टिरूप मंत्र हैं, यह सिद्ध होता है। मंत्र तो बाद में 'ब्रह्मा का सृजन हुआ', 'प्राणियों का सृजन हुआ' इत्यादि वाक्यों से पढ़े जाते हैं। सर्वप्रथम तो ''ब्रह्म सृष्टिरूप धारण करता है'' यह ही पढ़ा जाता है। इस विवेचन से भी यही सिद्ध होता है कि, 'ब्रह्म' जो कि सृष्टि का मूल कारण है, उसी का पाठ सर्वप्रथम पढ़ा जाता है और अन्य प्राणियों की सृष्टि होने का पाठ बाद में। अतः यहाँ भी सिद्ध हुआ कि 'कारण' मुख्य है एवं 'कार्य' गौण है। यहाँ भी प्रथममंत्र में 'वह सृजन करता है' यह नहीं कहा गया है किंतु 'वह धारण करता है यह प्रयुक्त किया गया है। ''एक के द्वारा स्तुति करने पर समस्त प्रजा उसका पाठ करती है'' यह पाठ दिया गया होने से। तथापि इसके पश्चात् दूसरे-तीसरे अनेक मंत्रों में 'वह सृजन करता है' यह प्रयोग किया होने से यह ज्ञात होता है कि सृष्टि को धारण करनेवाले भगवान में एवं स्वयं सृष्टिरूप से सृजित होने वाले भगवान में समानता है। यह 'सृष्टि' शब्द से ज्ञात होता है। यह 'सृष्टि' शब्द जिस प्रकार धारणकर्ता एवं सृजनकर्ता इत्यादि समस्त समुदायों का बोध करा रहा है, उसी प्रकार यहाँ समर्पणगद्यमंत्र में प्रयुक्त हुए दार-सुत आदि शब्द न कहे हुए अतिरिक्त समस्त वस्तुओं का बोध करा रहे हैं, यह अर्थ है।

ननु भवत्वेवम्, तथापि 'देहाद्यात्मान्तान् समर्पयामी'त्यनुक्त्वा, यदत्रैवमुक्तम्, तत्र किं बीजमिति चेत्। उच्यते। विधेयांश-निष्कर्षोनूद्यैष्वध्यासाभावाय तत्स्वरूपस्फुटीकरणं चेति जानीहि। अत्र ह्यात्मनिवेदने सर्वसाहित्यं विधेयमिति देहादीननूद्यात्मसा-

---

१ ४-४-१२५ सूत्रपाठे।

हित्यमवयुत्या निरूप्यते। देहादयोऽहमित्यध्यासविषयास्तद्धर्मा अहं ममेत्युभयाध्यासविषया दारादयः केवलममताविषया इति। आत्मना सहेति सहपदप्रयोगस्तु 'पितरि निमन्त्रिते पुत्रः पित्रा सहागत' इत्यत्रेव प्राधान्यं न विहन्ति। तस्माद्वये बोध्यमानं समर्पणमूनविंशोक्ताधिकारस्वरूपस्यैव बोधकम्, नतु कस्याप्यनुवादः, वाक्यार्थस्यापूर्वत्वादिति। प्रकृतमनुसरामः॥ १॥

चलिए मान लें कि 'दार-सुत-गृह' आदि कहने के द्वारा समस्त वस्तुओं का समर्पण में समावेश हो गया, परंतु यदि समस्त वस्तुओं का समर्पण करना आवश्यक ही है, तो उचित तो यह होता कि "देह से लेकर आत्मा तक समस्तवस्तुओं का समर्पण करता हूँ" इस प्रकार कह दिया जाता। ऐसे न कह कर जो एक[२] वस्तुओं को गिना[२] कर समर्पण करना कहा जा रहा है, वह किसलिए? इसका क्या कारण है? यह शंका होती है? इस शंका का समाधान यह है कि, जीव से संबंधित समस्त वस्तुओं का भगवान में समर्पण करने के विधान का निष्कर्ष कहने के पश्चात् उन[२] वस्तुओं में रहे हुए जीव के अध्यास की निवृत्ति करने के लिए एवं जीव एवं उनके संबंध का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट करने के लिए एक[२] वस्तुएँ गिनाई जा रही हैं, यह जान लीजिए। यहाँ आत्मनिवेदन में चूँकि सबके सहित आत्मनिवेदन करने का विधान है अतः देह-आदि को कह कर पश्चात् पत्नी-पुत्र-गृह आदि को भी कहना आवश्यक है। यहाँ समझना चाहिए कि, देह-इंद्रिय-प्राण-अन्तःकरण इत्यादि सभी जीव के अहंकाररूप अध्यास के विषयक हैं अर्थात् इन सभी से जीव में अहंकार पनपता है। किंतु इस देह-इंद्रिय-प्राण आदि के जो धर्म हैं, वे 'अहं' एवं 'मम' इन दोनों के अध्यास-विषयक हैं। पत्नी-पुत्र आदि में केवल ममता होती है। इस समर्पणगद्यमंत्र में 'आत्मनासह' पद में जो 'सह' पद का प्रयोग हुआ है, वह 'पिता को निमंत्रण देने से पुत्र तो निमंत्रित हो ही जाता है' इस वाक्यानुसार आत्मा के संग समर्पित होने वाले पत्नी-पुत्र आदि की प्रधानता भी बनी रहती है। टीकाकार कहना चाह रहे हैं कि उपर्युक्त विवेचनों से यह सिद्ध होता है कि स्वयं की आत्मा के संग अप्रत्यक्षरूप से समर्पित होने वाले पत्नी-पुत्र स्वयं के आगे गौण नहीं हो जाते, वे भी समर्पित ही माने जायेंगे, यह अर्थ है। इन समस्त विवेचनों से यह सिद्ध होता है कि इस गद्यमंत्र में बोधित किया गया समर्पण उन्नीसवें अध्याय में कहे अधिकार के स्वरूप का बोधक ही है, किसी वाक्य का अनुवाद नहीं है क्योंकि यहाँ कहे गये भगवद्-वाक्यों का अर्थ पूर्व में कहीं किया नहीं गया है। अब प्रस्तुत विषय की चर्चा करें॥ १॥

एवं प्रतिज्ञाय वाक्यान्याहुर्ब्रह्मसम्बन्धेत्यादि।

ब्रह्मसम्बन्धकरणात्सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः॥ २॥

ब्रह्मसम्बन्धो नाम सर्वस्मिन् भगवत्स्वामिकत्वरूपः सम्बन्धः, तस्य करणं नाम भगवता आचार्यान् प्रति गद्येनोक्तो य आत्मसमर्पणप्रकारः, तद्रीत्या भगवति स्वात्मसहितस्वीयसर्वपदार्थानां भगवति तथात्वविज्ञापनम्। 'स वै नैव रेम' इति श्रुतेः, 'क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुधियो पर ईश कुर्यु'रित्यादिवाक्याच्च, वस्तुतः सर्वस्य भगवदीयत्वेपि 'स वै नैवे'त्यादिश्रुत्या रमणार्थं द्वितीयनिर्माणादिश्रावणात्तेनापादिता या तत्तत्पदार्थे जीवस्य स्वत्वस्वीयत्वाभिमतिः तत्परित्यागेन तेषु भगवदीयत्वस्य विज्ञापनमिति यावत्। तस्मात्सर्वेषां समर्पितात्मनां देहजीवयोः स्थूललिङ्गशरीरयोः।

इस प्रकार, भगवद्-वाक्यों को अक्षरश कहने की प्रतिज्ञा करके उन्हीं वाक्यों को **ब्रह्मसंबंध** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

'ब्रह्मसंबंध' का अर्थ होता है – समस्त वस्तुओं में भगवान को स्वामीरूप से संबंधित करना। ब्रह्मसंबंध करने का अर्थ यह है कि, भगवान ने आचार्यचरणों के प्रति गद्यमंत्र द्वारा आत्मसमर्पण का जो प्रकार कहा था; उस रीति से भगवान में स्वयं की आत्मासहित स्वयं के समस्त पदार्थों में भगवान को समर्पणसहित स्वामीरूप से मानना। वास्तव में तो 'उसने रमण नहीं किया (बृहदा.१/४/३)' इस श्रुति एवं 'हे प्रभु! आपने क्रीड़ा के लिए इस जगत् की रचना की है परंतु जो कुबुद्धि हैं, वे स्वयं को इसका स्वामी मानते हैं (श्री.भा.८/२२/२०)" इस वाक्य द्वारा सभी कुछ भगवान का तो है ही तथापि "उसने रमण नहीं किया (बृहदा. १/४/३)' इस श्रुति के द्वारा भगवान ने रमण करने के लिए जिस दूसरी सृष्टि का निर्माण किया था, उसमें जीव को जो स्वत्व एवं स्वीयत्व की अनुभूति हो जाती है, उसके त्याग द्वारा उन[२] वस्तुओं में भगवदीयत्व स्थापित करना ब्रह्मसंबंध करना है। अतः ब्रह्मसंबंध से समस्त समर्पित आत्माओं की अर्थात् देहजीव की अर्थात् स्थूललिंगशरीर के समस्त दोषों की निवृत्ति हो जाती है। यहाँ टीकाकार ने 'देहजीव' पद का अर्थ 'स्थूललिंगशरीर' किया है। वे देह का अर्थ स्थूलशरीर कह रहे हैं एवं जीव का अर्थ लिंगशरीर बता रहे हैं। स्थूलशरीर दृश्यमान होता है अर्थात् जो शरीर नेत्रों से दिखाई दे वह स्थूलशरीर है। इस स्थूलशरीर के भीतर अदृश्यमान एवं १७ तत्त्वों से बना एक सूक्ष्म शरीर और भी है, जिसे 'लिंगशरीर' कहते हैं।

सर्वदोषनिवृत्तिः। हि निश्चयेन। (यतो भगवतैव गीतायां 'यत् करोषि यदश्नासी'त्यादिना सर्वकर्मार्पणं कर्तव्यत्वेनोपदिश्य, 'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनै'रिति तत्फलमुक्तम्। एकादशे च 'यानास्थाय नरो राज'न्नित्यनेन प्रमादाद्यभावरूपं भगवद्धर्मास्थितिफलमुक्तम्।) युक्तं चैतत्। वस्तुतः सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वात्तत्र भगवदीयत्वेऽनुसंहिते तदुपदेहभूतप्राकृतगुणजन्यदोषस्य निवृत्तिर्भवतीति।

---

१ ( ) इदमपि श्रीपुरुषोत्तमानां पाश्चात्यम्।

तथा च जीवादिदोषवशात्तत्कृतसेवाङ्गीकारविषयिणी चिन्ता न कार्येत्यर्थः। अत्र सर्वेषामित्यनेन 'देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा। भजन् मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्यथा वय'मिति सप्तमस्कन्धीयप्रह्लादवाक्योक्ताः सर्वेपि भजनाधिकारिणः सङ्गृहीताः। जीवपदेन च शरीरविशिष्टश्चेतनः, नतु केवलः, तस्मिन् स्वतो दोषाभावस्यासङ्गश्रुत्या 'शारीरब्राह्मणे' सिद्धत्वात्। देहपदस्य पृथगुक्तिस्तु स्थूलशरीरदोषाणामभीक्ष्णमनुभूयमानतया दोषाकरत्वबोधनार्था।

अब **सर्वदोषनिवृत्तिः** शब्द की व्याख्या कर रहे हैं। मूल कारिका में आया 'हि' शब्द निश्चय-अर्थ द्योतक है। (भगवान में समस्त वस्तुओं का समर्पण करने से समस्त दोषों की निवृत्ति हो जाती है—यह बात इसलिए निश्चयपूर्वक कही जा रही है क्योंकि स्वयं भगवान् ने गीता में 'जो करता है, जो खाता है वह मुझे अर्पण कर (भ.गी. ९/२७)' इत्यादि वाक्यों से समस्त कर्मों को उनके लिए अर्पण करना कर्तव्यरूप से उपदिष्ट किया है एवं, ''इस प्रकार तू संपूर्ण शुभ-अशुभ कर्मफलों से छूट जायेगा और फिर इस संन्यासयोग से युक्त चित्तवाला मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा(भ.गी. ९/२८)'' इस वाक्य द्वारा उसका फल भी कह दिया है। एकादशस्कंध में भी ''हे राजन्! इन भागवत-धर्मों का पालन करने पर मनुष्य विघ्नों से पीड़ित नहीं होता (श्री.भा. ११/२/३५)'' इस श्लोक द्वारा जीव के लिए प्रमाद-आदि का अभावरूप उसकी भगवद्-धर्म में स्थिति को फल कहा गया है।) और यह उचित भी है। वास्तव में तो सभी के ब्रह्मरूप होने के कारण जीव में जब भगवदीयत्व की अनुभूति होती है, तब इस अनुभूति के द्वारा प्राकृतगुणों से उत्पन्न हुए दोष की निवृत्ति हो जाती है। इसी कारण जीव को—स्वभावतः दुष्ट होने पर भी उसके द्वारा की गई सेवा प्रभु द्वारा स्वीकार की जायेगी या नहीं? यह चिंता नहीं करनी चाहिए। **सर्वेषाम्** पद का अर्थ यह है कि, ''देव, असुर, मनुष्य, यक्ष अथवा गंधर्व-कोई भी हो, जो भगवान के चरणकमलों का भजन करता है वह हमारे समान कल्याण का भाजन होता है (श्री.भा. ७/७/५०)'' इस सप्तमस्कंध में प्रह्लाद द्वारा कहे वाक्य के अनुसार समस्त जीव प्रभुभजन में अधिकारी हैं। यहाँ मूल कारिका में प्रयुक्त हुए 'जीव' पद से शरीरविशिष्ट-जीव (आत्मा) का अर्थ लेना चाहिए, केवल जीव का नहीं, क्योंकि यदि ऐसा अर्थ न लें तो जीव तो वैसे ही दोषरहित है एवं उसे तो अन्य किसी का संसर्ग हो ही नहीं सकता, यह बात 'शारीरब्राह्मण' ग्रंथ में सिद्ध की गई है। इसी प्रकार यहाँ जो भिन्न रूप से 'देह' पद कहा गया है, वह स्थूलशरीर में निरंतर अनुभूत होने वाले दोषों के कारण कहा गया है। यह शरीर समस्त दोषों का खजाना है-यह बोध कराने के लिए 'देह' को पृथकरूप से प्रयुक्त किया गया है।

यद्वा। जीवपदेनाविद्यासम्बन्धवांश्चेतनः। देहपदेन देहद्वयमिति बोध्यम्। ननु ब्रह्मसम्बन्धकरणमात्राच्चेत्सर्वेषां देहजीवगतसर्वदोषनिवृत्तिः तदा निर्दुष्टत्वात्, प्रतिबन्धकाभावेन तदानीमेव सेवया मुख्यफलप्राप्तिः, गद्ये तादर्थ्येनैव समर्पणस्योक्तत्वात्, तस्य दानहेतुकत्वाद्भगवदिच्छाधीनत्वात्, तदभावेपि सायुज्यप्राप्तिस्तु स्यादेव। तत्र प्रतिबन्धकस्याभावात् सेवायाश्च पूर्वं कृतत्वात्, प्रमाणसिद्धायास्तस्या नैष्फल्यस्य[१] वक्तुमशक्यत्वात्। तथा सति विवक्षितस्य पुष्टिमर्यादाभक्तिमार्गस्यैवोच्छेदः, उपदेशकस्याभावात्। किञ्च, उक्तरीत्या ब्रह्मसम्बन्धकरणोत्तरमपि दोषाणां प्रत्यक्षतोऽनुभूयमानत्वात्तद्विरोधोपीति कथं तन्निवृत्त्यवगतिरित्याकाङ्क्षायां दोषानिवृत्तिस्वरूपं वक्तुं पूर्वं दोषान् गणयंस्तन्निवृत्तिस्वरूपं सपादश्लोकेन भगवानाहेत्याहुर्दोषा इत्यादि।

अथवा 'जीव' पद का अर्थ अविद्या से संबंधित चेतनवस्तु कर लें एवं 'देह' पद से 'स्थूलशरीर' एवं 'लिंगशरीर' ऐसे दो प्रकार की देह जाननी चाहिए। यहाँ एक शंका यह उत्पन्न होती है कि, यदि मात्र ब्रह्मसंबंध करने से ही सभी के देहजीव में रहने वाले समस्त दोषों की निवृत्ति हो जाती है एवं प्रतिबंधकों का अभाव होने से वह निर्दुष्ट हो जाता हो, तो उसी समय प्रभुसेवा करने के द्वारा भगवद्-प्राप्तिरूप मुख्यफल प्राप्त हो जाना चाहिए? क्योंकि गद्यमंत्र में भी भगवान के लिए ही सर्वसमर्पण करना कहा गया है—तो ऐसा क्यों नहीं होता? इस शंका के निराकरण-हेतु यह समझना चाहिए कि, जीव को उसके अधिकारानुसार मुख्यफल का दान करना भगवान की इच्छा के अधीन है। फिर भी, मुख्यफल की प्राप्ति भगवान की इच्छा के अनुसार चाहे जब हो परंतु सायुज्य की प्राप्ति तो होती है। टीकाकार कहना चाह रहे हैं कि जीव को मुख्यफल का दान करना भले ही भगवान की इच्छा के अधीन हो परंतु उसे भगवत्सेवा करने में सर्वथा ही फल प्राप्त नहीं होगा, ऐसा भी नहीं है। वे कहते हैं कि 'सायुज्य' की प्राप्ति तो होगी ही। जानना चाहिए कि पुष्टिभक्तिमार्ग में सायुज्य-आदि मुक्ति की प्राप्ति होना मुख्यफल नहीं है। विशेष जानने के लिए देखें श्री. भा. ३/२९/१३। क्योंकि ब्रह्मसंबंध करने के पश्चात् प्रतिबंधकों का अभाव हो जाता है एवं जीव ने ब्रह्मसंबंध के पश्चात् सेवा भी की ही है। अतः प्रमाण सिद्ध होने के कारण-उसके द्वारा की गई सेवा निष्फल हो जाय, यह कहना संभव नहीं है। यदि ऐसा हो तो पुष्टिमर्यादाभक्तिमार्ग का ही उच्छेद हो जायेगा, क्योंकि ऐसा उपदेश करने वाला कोई नहीं है। टीकाकार कहना चाह रहे हैं कि, प्रभुसेवा द्वारा जीव को मुख्यफल की प्राप्ति शीघ्र हो या विलंब से, यह प्रभु-इच्छा पर निर्भर है। किंतु 'सायुज्य' की प्राप्ति तो अवश्य होगी ही। जीव को उसकी सेवा का यह फल तो प्राप्त होगा ही। जीव द्वारा अनन्य-भाव से की जाने वाली सेवा निष्फल चली जाय, ऐसा उपदेश आजतक किसी उपदेशकर्ता ने नहीं किया है, यह अर्थ है। अब, चूँकि ब्रह्मसंबंध करने के बाद भी दोष तो प्रत्यक्षरूप से अनुभूत होते ही हैं एवं ये दोष विरोध भी उत्पन्न करते ही हैं अतः इनकी निवृत्ति कैसे होगी? यह आकांक्षा उत्पन्न होती है। अतः इन दोषों की निवृत्ति का स्वरूप कहने से पहले उन दोषों को गिनाते हुए भगवान दूसरे श्लोक के एक चरण **दोषाः** इत्यादि वाक्यों से दोषनिवृत्ति

---

१ नैर्बल्यमिति पाठः।

का स्वरूप कह रहे हैं।

अत्र जीवस्य सहजा दोषा अविद्यासम्बन्धतत्कृताभिमतिप्राणधारणप्रयत्नाः। लिङ्गदेहस्य सहजाः कामक्रोधादयः क्षुधादयश्च। स्थूलदेहस्य सहजास्तु मातापितृमलानुषङ्गात्मत्वं रोगादयश्च। देशकालोत्थादयस्तु देहयोरेव, न जीवस्य। ते तद्द्वारा जीव उपचर्यन्ते। तत्र देशोत्था मगधमरुसिन्धुप्रभृतिदेशेषूत्पत्त्या तत्र गमनादिना च जाताः। कालोत्थाः कलिप्रभवा दुर्मुहूर्तप्रभवा अवस्थादिकृताश्च। उत्थशब्दो द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। तेनात्र दोषद्वयम्।

यहाँ जीव का जो अविद्या से संबंध होने के कारण मात्र पशुवत् जीवित रहने का प्रयत्न करना है, वह 'सहजदोष' है। लिंगदेह के सहजदोष काम-क्रोध आदि एवं भूखप्यास आदि हैं। स्थूलदेह के सहजदोष मातापिता से प्राप्त हुए आनुवंशिक रोग-आदि हैं। देशकाल से उत्पन्न होने वाले दोष तो स्थूलदेह एवं लिंगदेह में ही होते हैं, जीव में नहीं। ये देशकाल से उत्पन्न होने वाले दोष जीव में केवल कह देने मात्र के लिए हैं, वास्तव में ये जीव में होते नहीं। देशोत्था को मगध-मरू-सिंधु जैसे देशों में उत्पन्न होने वाले दोष एवं वहाँ जाने से उत्पन्न हुए दोष जानने चाहिए। कालोत्थाः दोष कलियुग से उत्पन्न हुए दुष्टमुहूर्त एवं अशुद्ध-अवस्था में किए गये कार्यों से उत्पन्न हुए दोष जानने चाहिए। यहाँ तीसरी कारिका में प्रयुक्त हुए 'देशकालोत्था' शब्द के अंतर्गत आया 'उत्थ' शब्द 'देश' एवं 'काल' दोनों में समानरूप से प्रयुक्त हुआ जानना चाहिए। संस्कृतव्याकरण में 'द्वन्द्वान्ते..... सम्बध्यते' वाक्य का यह अर्थ है कि, यदि द्वन्द्वसमास के अंत में कोई पद जुड़ा हो तो वह द्वन्द्व के दोनों पदों में समानरूप से प्रयुक्त होता है। उदा. के रूप में जैसे किसी का नाम 'सीतारामदास' हो तो यहाँ सीताराम में 'दास' पद जुड़ा हुआ है, जिसका अर्थ यह हुआ कि उक्तनाम वाला व्यक्ति सीता एवं राम दोनों का दास है। इसी प्रकार यहाँ 'देशकालोत्था' को समझें। 'उत्थ' शब्द का अर्थ होता है-उत्पन्न हुआ। तदनुसार अर्थ बनेगा-'देश एवं काल में उत्पन्न होने वाले दोष'। इस कारण से जानना चाहिए कि ये दो प्रकार के दोष हैं।

एतान् भक्तिमार्गीयेभ्यो दोषेभ्यो व्यावर्तयितुं विशिंषन्ति लोकवेदनिरूपिता इति। इदं च विशेषणं देहलीदीपवत् पूर्वापरयोः सम्बध्यत इति पञ्चस्वपि तदन्वयः। उचितं चैतत्। 'गुणदोषभिदा दृष्टिर्निगमात्ते न हि स्वत' इत्येकादशस्कन्ध उद्धववाक्ये गुणदोषयोः श्रुतिमूलकत्वस्य कथनात् लोकस्यापि दूरतस्तदुपजीवकत्वादिति। संयोगजाः। बुद्धिपूर्वकं कामेन च सम्यङ्मनोयोगजन्याः। स्पर्शजा अबुद्धिपूर्वकमकामतश्च जाताः। ते कथञ्चन केनापि श्रौतेन वा स्मार्तेन वा लौकिकेन वा प्रकारेण न मन्तव्याः सेवाप्रतिबन्धकतया न विचारणीयाः। ब्रह्मसम्बन्धकरणोत्तरं देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवेषु तद्धर्मेषु च भगवदीयत्वेऽनुसंहिते तत्स्वामित्वेन तत्प्रेरकत्वेन च भगवत एवानुसन्धानात्तेषां स्वसम्बन्धित्वनिवृत्तिरिति तेषां स्वरूपतः सत्त्वेपि पारक्यवत् तं प्रत्यकिञ्चित्करत्वात्तेषां सेवाप्रतिबन्धकत्व-निवृत्तिरेव निवृत्तित्वेनाभिप्रेता, नतु स्वरूपतो निवृत्तिरत्राभिप्रेता। तथा च स्वरूपतः सत्त्वान्न तदानीमेव सायुज्यादिप्राप्तिः, न वा प्रत्यक्षविरोधः। प्रतिबन्धसामर्थ्यस्य निवृत्तत्वाच्च सेवाङ्गीकार इति न काचिदनुपपत्तिरित्यर्थः।

किंतु ये दोनों दोष भक्तिमार्गियों में नहीं होते, यह बताने के लिए आगे 'लोकवेदनिरूपिता' पद दिया गया है। यहाँ प्रयुक्त हुआ 'लोकवेदनिरूपिता' विशेषण देहलीदीपन्याय के अनुसार इसके पूर्व में कहे गये सहज-देश-काल दोष एवं इसके पश्चात् कहे गये संयोग-स्पर्श दोष ऐसे इन पाँचों दोषों से संबंधित है। और यह उचित भी है, क्योंकि एकादशस्कंध के "गुण-दोष में भेद-दृष्टि वेद के अनुसार ही है, स्वयं की कल्पनानुसार नहीं (श्री.भा.११/२०/५)" इस उद्धव-वाक्य में गुण-दोषों का मूल्यांकन करने का साधन श्रुति को कहा गया है, क्योंकि लोक में भी कहे गये जो विधि-निषेध हैं, वे अंततोगत्वा वेद-द्वारा ही कहे गये हैं। अब **संयोगजाः** शब्द की व्याख्या करते हैं। बुद्धिपूर्वक एवं काम से मन को भलीभाँति किसी अयोग्यकार्य से जोड़ा जाय, तो वह संयोग-दोष कहलाता है। **स्पर्शजा** दोष अर्थात् बिना बुद्धि से एवं बिना काम से यदि कोई दोष उत्पन्न हो जाता हो तो, वह स्पर्श-दोष है। ये समस्त दोष **कथञ्चन** अर्थात् श्रुति-स्मृति या अन्य किसी भी लौकिक प्रकार से भगवद्-सेवा में प्रतिबंधकरूप से नहीं मानने चाहिए-यह **न मन्तव्याः** शब्द का अर्थ है। चूँकि ब्रह्मसंबंध करने के पश्चात् देह-इंद्रिय-प्राण-अन्तःकरण-जीव में एवं इनके समस्त धर्मों में भगवान के स्वामी एवं प्रेरक होने के कारण सर्वत्र भगवदीयता की ही अनुभूति होती है, अतः इनसे स्वयं के किसी भी प्रकार के संबंध की निवृत्ति हो जाती है। इस कारण यदि ये दोष जीव में स्वरूपतः विद्यमान हों तो भी जीव का कुछ नहीं बिगाड़ सकते। अतः ये दोष भगवद्-सेवा में प्रतिबंधक नहीं हो सकते, इसी अर्थ में इनके दोषों की निवृत्ति कही गई है, स्वरूपतः निवृत्ति हो जाती हो ऐसा नहीं है। वे स्वरूपतः तो रहते ही हैं और इसी कारण ब्रह्मसंबंध करने के पश्चात् उसी समय सायुज्य की प्राप्ति नहीं होती। यह होने पर भी ये दोष भगवद्-सेवा में प्रत्यक्षतया विरोध करते हों, ऐसा भी नहीं है। और, दोषों के प्रतिबंध करने की सामर्थ्य निवृत्त हो जाने पर ही प्रभु जीव द्वारा की गई सेवा को स्वीकार करते हैं अतः यहाँ उपर कहे अर्थ में कोई भी आपत्ति नहीं है।

नन्वेवंविधाया दोषनिवृत्तेः प्रायश्चित्तादिनापि संभावाद्ब्रह्मसम्बन्धतः को विशेष इत्यत आहुरन्यथेत्यादि। अन्यथा एतदतिहाय सर्वदोषाणां निवृत्तिः कथञ्चन केनापि कर्मज्ञानभक्तिरूपेण साधनेन न, दोषहेतूनां कर्मदेशकालानां विद्यामानत्वात्तैः संयोगस्पर्शाभ्यां तदुत्पत्तिनैयत्यात्। कृते तु ब्रह्मसम्बन्धे दूष्येषु जीवदेहादिषु भगवदीयत्वानुसन्धानात्तेषु स्वसम्बन्धनिवृत्तेर्दोषाणामकिञ्चित्करत्वमितीदमेव

स्वतन्त्रं दोषनिवृत्तिसाधनम्, नान्यदित्यर्थः।

यहाँ एक शंका यह होती है कि, इस प्रकार की दोषनिवृत्ति तो प्रायश्चित आदि से भी संभव है? ब्रह्मसंबंध में ही ऐसी क्या विशेषता है? तो इसके प्रत्युत्तर में **अन्यथा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। 'अन्यथा' शब्द का यहाँ ये अर्थ है कि, इस ब्रह्मसंबंध को छोड़कर समस्त दोषों की निवृत्ति **कथञ्चन** अर्थात् अन्य किसी भी कर्म-ज्ञान-भक्तिरूप साधनों द्वारा नहीं होती है। क्योंकि दोषों के मूलभूत कारण कर्म-देश-काल तो नित्य विद्यमान हैं ही एवं इनके संयोग-स्पर्श आदि के द्वारा इन दोषों की उत्पत्ति भी नित्य ही है। ब्रह्मसंबंध कर लेने पर दूषित जीवदेह-आदि में भगवदीयता का अनुसंधान होने से स्वयं के अहंताममतात्मक संबंध की निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार तब ये दोष कुछ नहीं कर सकते अतः केवल यही एक स्वतंत्र दोषनिवृत्ति का साधन है, अन्य कोई नहीं यह अर्थ है।

अत्रेदं बोध्यम्। एकादशस्कन्धे 'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया। ज्ञानं कर्म च भक्तिश्चे'तिवाक्ये भगवता त्रीणि जीवानां श्रेयःसाधनान्युक्तानि। श्रेयश्च दुःखाभावः सुखं चेति। चतुर्थस्कन्धे 'श्रेयस्त्वं कतमद्राजन्कर्मणात्मन ईहसे। दुःखहानिः सुखावाप्तिः श्रेयस्तन्नेह चेष्यत' इति नारदेनोक्तम्। तत्र पूर्वं दुःखाभावो मृग्यः। बुद्धेस्तत्रैव प्रथमप्रवृत्तेः। दुःखं च पूर्वोक्तेभ्य एव दोषेभ्यः। दोषाणां च निवृत्तिर्न प्रायश्चित्तकर्मणा आत्यन्तिकी। तदुत्तरमपि पुनः पापे मनःप्रवृत्तिदर्शनात्। 'कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते। अविद्वदधिकारित्वात्प्रायश्चित्तं विमर्शन'मिति षष्ठे शुकवाक्याच्च।

यहाँ ये समझना चाहिए कि, एकादश-स्कंध के ''मैंने अधिकारि-भेद से ज्ञान-कर्म-भक्ति यों तीन प्रकार के योगों का उपदेश किया है (श्री.भा. ११/२०/६) '' इस वाक्य में भगवान ने ज्ञान, कर्म एवं भक्ति इन तीनों को जीवों के कल्याण का साधन बताया है। 'कल्याण' का अर्थ है – दुःख का अभाव एवं सुख की प्राप्ति। यही बात चतुर्थस्कंध में ''हे राजन्! इन कर्मों के द्वारा तुम अपना कौन सा कल्याण चाहते हो? दुःख का नाश एवं आनंद की प्राप्ति का नाम कल्याण है और वो कर्मों से नहीं मिलता (श्री.भा.४/२५/४)'' इस वाक्य द्वारा नारदजी ने कही है। यहाँ सर्वप्रथम दुःख का अभाव ही ढूँढने योग्य है क्योंकि बुद्धि की भी सर्वप्रथम यहीं प्रवृत्ति होती है। और दुःख तो पूर्व में कहे गये इन दोषों द्वारा ही होता है। और प्रायश्चित-कर्मों के द्वारा इनकी पूर्णरूप से निवृत्ति नहीं होती क्योंकि प्रायश्चित करने के बाद भी पुनः मन की पाप में प्रवृत्ति देखी जाती है। यही बात षष्ठस्कंध में ''कर्म के द्वारा कर्म का नाश नहीं होता क्योंकि कर्म का अधिकारी अज्ञानी है। अतः सच्चा प्रायश्चित तो तत्वज्ञान ही है (श्री.भा. ६/१/११) '' इस शुकवाक्य द्वारा भी कही गई है।

न च तर्हि ज्ञानात्तन्निवृत्तिरस्तु। 'यथैधांसि समिद्धोग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथे'ति गीतायां भगवद्वाक्याच्चेति शङ्क्यम्। 'नाश्नतः पथ्यमेवान्नं व्याधयोभिभवन्त्युत। एवं नियमकृद्राजन् शनैः क्षेमाय कल्पते। तपसा ब्रह्मचर्येण शमेन च दमेन च। त्यागेन सत्यशौचाभ्यां यमेन नियमेन च। देहवाग्बुद्धिजं धीरा धर्मज्ञाः श्रद्धयान्विताः। क्षिपन्त्यघं महदपि वेणुगुल्ममिवानल' इति त्रिषु प्रथमे पथ्याशनदृष्टान्तेन शनैर्नानासाधनतः क्षेमशब्दोदितज्ञानोत्पत्तिमुक्त्वा, द्वितीये तत्सहकारीणि नवसाधनान्युक्त्वा, तृतीये पापनाशकथनात्। श्रीधरीये तप ऐकाग्र्यम्। 'मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं परमं तप' इति स्मृतेः। ब्रह्मचर्यं च 'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव चे'त्यष्टाङ्गमैथुनाद्विपरीतम्। शमो मनोनिग्रहः। दमो बाह्येन्द्रियनिग्रहः। त्यागो दानम्। सत्यं सत्यभाषणम्। शौचं देहाशुद्धिनिवारक आचारः। यमोऽहिंसादिः। नियमो जपादिरिति तेषां विवरणात्। एवं बहुकालतो दोषनिवृत्तिरिति सहकार्यभाव इदानीं ज्ञानस्योत्पत्तेरेव दुर्घटत्वात्कथञ्चित् भवनेपि सहकारिसंपत्तेर्दुर्लभत्वाच्च।

और ज्ञान द्वारा भी इन दोषों की निवृत्ति नहीं होती। किंतु, ''जैसे प्रज्वलित अग्नि इंधन को भस्म कर देती है, उसी भाँति हे अर्जुन! ज्ञानरूपी-अग्नि प्राकृत क्रियाओं के संपूर्ण बंधनों को जला डालती है (भ.गी. ४/३७) '' इस भगवद्-गीता में कहे भगवद्-वाक्य के अनुसार ज्ञान द्वारा समस्त दोषों की निवृत्ति तो बताई गई है? यह शंका उत्पन्न होती है। इस शंका का समाधान इस प्रकार समझें कि, ''हे राजन्! जो पुरुष केवल सुपथ्य का ही सेवन करता है, उसे रोग अपने वश में नहीं कर सकते। वैसे ही जो नियमों का पालन करता है वह धीरे-धीरे कल्याण प्राप्त करता है। जैसे बाँसों के झुरमुट में लगी आग बाँसों को जला डालती है, वैसे ही धर्मज्ञ और श्रद्धावान धीर-पुरुष तपस्या, ब्रह्मचर्य, इंद्रियदमन, मन की स्थिरता, दान, सत्य, बाहर-भीतर की पवित्रता, यम एवं नियम इन नौ साधनों से मन, वाणी और शरीर द्वारा किए गये बड़े से बड़े पापों को भी नष्ट कर देते हैं (श्री.भा.६/१/१२,१३,१४)'' इस वाक्यानुसार इन तीनों श्लोकों में प्रथमश्लोक में पथ्यभोजन के दृष्टांत द्वारा शनैः शनैः अनेक साधनों के द्वारा 'क्षेम' शब्द से उत्पन्न हुए ज्ञान की उत्पत्ति कही गई है। इसके पश्चात् दूसरे श्लोक में उस ज्ञान के सहयोगी नौ प्रकार के साधनों को कह कर, तीसरे श्लोक में पाप का नाश होना कहा गया है। श्रीमद्-भागवत के एक प्राचीन टीकाकार 'श्रीधरजी' ने स्वयं की टीका में इन नौ साधनों की व्याख्या की है। वहाँ ''मन की एवं इंद्रियों की एकाग्रता परम-तप है'' इस स्मृतिवाक्य के अनुसार इन नौ साधनों में प्रथम साधन 'तप' का अर्थ 'एकाग्रता' बताया है। दूसरे 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ ''स्मरण-कीर्तन-क्रीड़ा-प्रेक्षण-गुप्त बातचीत-संकल्प-अध्यवसाय-क्रियानिवृत्ति'' इन मैथुन के आठ अंगों के विपरीत कार्य करना है। तीसरे 'शम' का अर्थ है-मन का निग्रह। 'दम' का अर्थ है – बाह्य-इंद्रियों का निग्रह। 'त्याग' का अर्थ है – दान करना। 'सत्य' का अर्थ है – सत्य बोलना। 'शौच का

अर्थ है – देह की अशुद्धि का निवारण करने वाला आचरण करना। 'यम' का अर्थ है – अहिंसा आदि। 'नियम' का अर्थ है – जप करना। इस प्रकार बहुत समय के बाद दोषों की निवृत्ति होती है। किंतु आधुनिक काल में ज्ञान के सहयोगी ये समस्त साधन ही जहाँ अत्यंत दुर्लभ हैं, वहाँ स्वयं ज्ञान की उत्पत्ति होनी भी अत्यंत दुर्लभ ही है।

अतः परं भक्तितो दोषनिवृत्तिरवशिष्यते। 'केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः। अघं धुन्वन्ति कात्स्न्र्येन नीहारमिव भास्करः। न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तपआदिभिः। यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया। सप्रीचीनो ह्ययं लोके पन्थाः क्षेमोऽकुतोभयः। सुशीलाः साधवो यत्र नारायणपरायणाः। प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम्। न निःपुनन्ति राजेन्द्र सुराभाण्डमिवापगाः। सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयोर्निवेशितं तद्गुणरागि यैरिह। न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान् स्वप्नेपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृता' इति वाक्यैस्तस्या अपि पापनिवारकत्वेनोक्तत्वात्। सा तु ब्रह्मसम्बन्धकरणादेव सिध्यति, न तु तदतिहाय। तथा हि। अत्र प्रथमे 'केचिदि'तिपदेन तादृशाधिकारिणां दुर्लभत्वं सूचितम्। 'केवलये'तिपदेन सहकारिनिरपेक्षत्व बोधनाद्भक्तेर्ज्ञानापेक्षया प्राबल्यं च बोधितम्। 'कात्स्न्र्ये'पदेन नीहारभास्करदृष्टान्तेन च निरन्वयपापध्वंसजनकत्वम्। प्रौढे भास्करे नीहारस्य तथा नाशात्। द्वितीये 'कृष्णार्पितप्राण' इत्यधिकारिविशेषणेन तस्य कृतब्रह्मसम्बन्धत्वस्य बोधनात्। उचितं चैतत्। अपहतपाप्मनः स्वस्वामित्वेऽनुसंहिते दोषनिवृत्तेर्युक्तत्वादिति। परमयं विशेषः। तथा हि। तत्र तृतीयान्तेन 'तत्पूरुषनिषेवये'तिपदेन सर्वदा भगवद्भक्तसङ्गित्वं च सूचितम्। तृतीये मार्गोत्कर्षबोधनार्थं भगवद्भक्तस्वरूपबोधनेन दाम्भिकादिसंसर्गत्यागः सूचितः। चतुर्थे बहिर्मुखकृतप्रायश्चित्तस्य 'सुराभाण्डमिवापगा' दृष्टान्तेन वैफल्यमुक्त्वा, पञ्चमे सकृद्भगवच्चरणनिवेशितमनस्तद्गुणरागि येषां जातम्, तेषां यमतद्भटदर्शनाभाव-बोधनेन पापानां निःशेषनाशो निगमितः, ततोऽजामिलोपाख्याने प्रपञ्चितश्च।

अतः इन सबके पश्चात् अब भक्ति द्वारा ही दोषनिवृत्ति होनी शेष रह जाती है। क्योंकि ''भगवान की शरण में रहनेवाले भक्तजन-जो विरले ही होते हैं- केवल भक्ति द्वारा सारे पापों को वैसे ही भस्म कर देते हैं जैसे सूर्य कोहरे को संपूर्णरूप से नष्ट कर देता है। पापी पुरुष की जैसी शुद्धि भगवान को आत्मसमर्पण करने से और उनके भक्तों का संग करने से होती है, वैसी तपस्या आदि से भी नहीं होती। जगत् में यह भक्ति का पंथ ही सर्वश्रेष्ठ, भयरहित एवं कल्याणकारी है क्योंकि इस पंथ पर भगवत्परायण, सुशीलपरायण चलते हैं। हे परीक्षित! जैसे शराब से भरे घड़े को नदियाँ पवित्र नहीं कर सकतीं, वैसे ही प्रायश्चित किए जाने पर भी भगवद्विमुख-मनुष्य को पवित्र करने में असमर्थ हैं। जिन्होंने अपने भगवद्गुणानुरागी मन-मधुकर को भगवान श्रीकृष्ण के चरणारविंद-मकरंद का एक बार पान करा दिया, उन्होंने सारे प्रायश्चित्त कर लिए। वे स्वप्न में भी यमराज और उनके दूतों को नहीं देखते। फिर नर्क की तो बात ही क्या है? (श्री.भा.६/१/१५....१९)'' इन वाक्यों के द्वारा भक्ति को भी पाप के निवारक रूप से कहा गया है। वह भक्ति तो ब्रह्मसंबंध करने से ही सिद्ध होती है, अन्यथा नहीं। यह इसलिए क्योंकि उपर्युक्त प्रथम श्लोक में 'केचित्' पद के द्वारा भक्ति के ऐसे अधिकारियों की दुर्लभता सूचित की गई है। 'केवलया' पद के द्वारा- भक्ति को किसी सहकारी की अपेक्षा नहीं है- यह बोधित किया गया है। उपर्युक्त श्लोकों के द्वारा ज्ञान से भक्ति की प्रबलता सिद्ध होती है एवं 'कात्स्न्र्य' पद से एवं कुहरा-सूर्य के दृष्टांत द्वारा-भक्ति में पाप का नाश करने की क्षमता निरंतर है -यह समझाया गया है। 'कात्स्न्र्य' का अर्थ होता है-संपूर्ण रूप से। क्योंकि पूर्णरूप से सूर्य के उदय होने पर कुहरा नष्ट हो जाता है। दूसरे श्लोक में (कृष्णार्पितप्राण) ''कृष्ण को जिसने प्राण अर्पित कर दिए हैं'' इस अधिकारी के विशेषण द्वारा वह भक्ति उस जीव के द्वारा किए गये ब्रह्मसंबंध की ही बोधक है। और यह उचित ही है, क्योंकि भक्ति द्वारा पापरहित हुए उस जीव में जब भगवान के लिए स्वयं के स्वामी होने की अनुभूति होती है, तब उसके दोषों की निवृत्ति हो जानी युक्त ही है। किंतु यहाँ इतना विशेषरूप से अवश्य ही जान लेना चाहिए कि, यहाँ तृतीयान्तपद 'तत्पूरुषनिषेवया' (तत्पूरुषनिषेवया का अर्थ होता है – भगवद्-भक्तों का निरंतर सत्संग करने के द्वारा) से सर्वदा भगवद्-भक्तों का संग करना सूचित किया गया है। तीसरे श्लोक में भक्तिमार्ग के उत्कर्ष का बोध कराने के लिए भगवद्-भक्त का स्वरूप बताया गया है। उस स्वरूप का ज्ञान होने के बाद दंभी लोगों के संसर्ग का त्याग सूचित किया गया है। चौथे श्लोक में बहिर्मुख द्वारा किए गये प्रायश्चित की विफलता ''शराब से भरे घड़े (श्री.भा. ६/१/१८)'' इस दृष्टांत द्वारा कह कर, पाँचवें श्लोक में ''जिसने एक बार भगवद्-चरणाविंद में अपना मन निविष्ट करा दिया है एवं उनके गुणों का अनुरागी बना दिया है, उसे यमराज अथवा यमदूतों के दर्शन नहीं करने पड़ते'' इस प्रकार से उसके समस्त पापों का समूल नाश कह दिया गया है। इसके पश्चात् अजामिल-उपाख्यान में भी यही बात विस्तारूप से कही गई है।

अतो भगवद्भक्तसङ्गो दाम्भिकतत्सङ्गत्यागः साधनान्तरश्रद्धाराहित्यं भगवद्गुणरागिचित्तत्वं च यदा भवति, तदा तथेति। यतस्तस्यापि निर्णयः श्रीमदाचार्यैस्तत्रत्यनिबन्धे 'भगवत्सेवका ये तु कथञ्चिद्विन्नतां गताः। सर्वात्मना पापनाशस्तेषामेव भवेत् ध्रुव'मिति कारिकया निरूपितः। एवं सति ये पूर्वं भगवत्सेवकाः कुतश्चन हेतोरिहागताः, तेषामेवार्थेऽयं मार्ग इति त एव ब्रह्मसम्बन्धकरणे तेन निवृत्तसर्वदोषा भवन्ति। त एव च तत्राधिकुर्वन्ति। अत एव निबन्धारम्भे 'सात्त्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधि-कारिणः। भवान्तसम्भवा दैवात्तेषामर्थे निरूप्यत' इत्युक्तम्। एवं च यद्यपि 'सर्वेऽधिकारिणो ह्यत्र विष्णुभक्तौ यथा नृपे'ति

माघस्नानविषयकवाक्योक्तदृष्टान्तात् 'देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा। भजन् मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्यथा वय'मिति सप्तमस्कन्धीयप्रह्लादवाक्याच्च स्वरूपयोग्यतारूपः सर्वेषामधिकारः, तथापि फलमुख उक्तविधानामेव। अतो ब्रह्मसम्बन्धस्तादृशामेव कारणीयः।

अतः जिस समय भगवद्-भक्तों का संग, दंभीजनों एवं उनके संग का त्याग, भक्ति से अतिरिक्त अन्य साधनों में श्रद्धा न रखनी एवं भगवद्-गुणानुरागी चित्त होता है, तब जीव के समस्त दोषों का नाश होता है। क्योंकि इन पंक्तियों का अर्थ श्रीमदाचार्यचरणों ने इसी के निबंध में "भगवान से किसी प्रकार से बिछुड़े हुए भगवत्सेवकों का ही सभी प्रकार से पापों का नाश होता है" इस कारिका द्वारा निरूपित किया है। इस विवेचन से यह ज्ञात होता है कि, पूर्व में जो भगवान के सेवक थे और येनकेन प्रकारेण उनसे बिछड़ कर यहाँ आ गये हैं; उनके लिए ही यह पुष्टिभक्तिमार्ग है। इनके ही ब्रह्मसंबंध करने पर वे समस्त दोषों से निवृत्त हो जाते हैं। वे ही इस मार्ग में अधिकारी हैं। अतएव निबंध के आरंभ में, "जो सात्विक हैं, भगवद्-भक्त हैं एवं प्रभु-इच्छा से भूतल पर आ गये हैं, जो मुक्ति के अधिकारी हैं, एवं जिनका यह अंतिम जन्म है; उनके लिए ही इस ग्रंथ का निरूपण किया जा रहा है (शा.प्र./२)" श्रीमहाप्रभुजीने यह कहा है। और यद्यपि "जैसे विष्णुभक्ति में सभी जीव अधिकारी हैं" इस माघस्नान-विषयक वाक्य में कहे गये दृष्टांत द्वारा एवं "देव, असुर, मनुष्य, यक्ष अथवा गंधर्व-कोई भी हो, भगवान के चरणकमलों का जो भजन करता है, वह हमारे समान कल्याण का भाजन होता है (श्री.भा. ७/७/५०)" इस सातवें स्कंध के प्रह्लादवाक्य द्वारा भगवान की भक्ति करने में स्वरूपयोग्यतारूप-अधिकार तो सभी जीवों का है तथापि फलमुख-योग्यता तो उपर्युक्त तादृशी जीवों की ही है; अतः ब्रह्मसंबंध ऐसे जीवों को ही कराना चाहिए। यहाँ स्वरूपयोग्यता एवं फलमुखयोग्यता को समझें। जैसे कोई दो वर्ष बालक हो, तो उसमें भविष्य में पिता बनने की स्वरूपयोग्यता तो है किंतु फलयोग्यता नहीं है। इस नन्हीं अवस्था में वह पिता नहीं बन सकता। किंतु जब यही बालक वयस्क हो जायेगा, तब उसमें पिता बनने की फलमुखयोग्यता भी आ जायेगी। उसी प्रकार यहाँ टीकाकार यह कहना चाह रहे हैं कि इन दोनों दृष्टांतों से यह सिद्ध तो होता ही है कि भक्ति करने का अधिकार अर्थात् स्वरूपयोग्यता तो सभी को प्राप्त है किंतु भगवद्-प्राप्ति की फलयोग्यता उपर कहे लक्षणों वाले तादृशी जीवों की ही है, यह अर्थ है।

तादृशत्वं चोत्कटभजनादरजनिकया गुरुशुश्रूषया तदनुकूलप्रश्नमार्गरुचिवेशभाषाचारैश्चावधारणीयम्। यः पुनः पूर्वं पापाचारः पश्चाद्भगवन्मार्ग उत्कण्ठते, सोप्युपदेष्टव्यः, 'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि स' इतिवाक्ये तादृशस्यापि साधुतया मन्तव्यत्वकथनात्। 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति' इत्यनेनाग्रे तदभिज्ञापकस्यास्यापि कथनाच्च। यस्तु स्वयमनुत्कण्ठः सत्सङ्गात्कुलपारंपर्याद्वोपसीदेत्, सोप्युपदेशमर्हति। परं तत्र भगवत्कृपायाः सन्दिग्धत्वात्फलमुखता न निश्चेतुं शक्या। तथापि तदुपदेष्टरि न दोषमावहति। सत्सङ्गादिना तथा सम्भावनया कृतत्वात्। स परं परीक्षणीयः। यदि पश्चाच्छ्रद्धत्ते भगवद्धर्मे, तदा तु 'यथा यथा हरिः कृष्णो मनस्याविशते निजे। तथा तथा साधनेषु परिनिष्ठा विवर्धत'इत्याचार्यचरणोक्तात् ज्ञापकान्मार्गरीत्या बोधनीयः। यद्युदास्ते, तदा न बोधनीयः। यदा तु बाहिर्मुख्यं प्रकटयति, तदा तूपेक्षणीयः। 'ईश्वरे तदधीने च बालिशेषु द्विषत्सु च। प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यम' इत्येकादशस्कन्धे योगेश्वरवाक्ये भागवतलक्षणे तथोक्तत्वात्। 'निवेदितात्मभिन्नेषु सदौ दासीन्यमाचरेत्। प्रावाहिकास्तेपि चेत् स्युरुपेक्षैवोचिता सदे'ति विज्ञप्तौ प्रभुचरणैरपि तथोक्तत्वात्। 'विजातीयजनाक्रान्ते निजधर्मस्य गोपनम्। देशे विधाय सततं स्थेयमित्येव भासते। हरेरेव तथेच्छास्ति सर्वोद्धृतिविरोधिनी। अन्यथाचार्यविमुखाः कथमेतत्पथि स्थिता' इति पत्रेपि[1] तथा लिखितत्वाच्च। तदेतदौच्छृङ्खल्यनिवारणाय मार्गरीतिबोधनाय तत्रान्यथाबुद्ध्यपहाराय च प्रसङ्गादुक्तम्।

ऐसे जीवों की तादृशता-उनमें रही हुई भजन में उत्कट आदर को उत्पन्न करनेवाली गुरुसेवा, उनके मनमें उठने वाले अलौकिक प्रश्न, उनकी मार्ग में रुचि, उनका वेश, उनकी भाषा एवं उनके आचरण द्वारा जाननी चाहिए। जो जीव पहले पापाचार करता है और बाद में भगवद्-मार्ग में उत्कंठा रखता है, वह भी उपदेश करने योग्य है। क्योंकि "यदि अतिशय दुराचारी भी अनन्यता से मेरा भजन करे तो उसे भी साधु ही समझना चाहिए (भ.गी. ९/३०)" इस वाक्य में पापी को साधु मानने की बात कही गई है। और आगे "वह शीघ्र धर्मात्मा होकर सदा रहने वाली शांति को प्राप्त हो जाता है। हे अर्जुन! निश्चयपूर्वक घोषणा कर कि, मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता (भ.गी.९/३१)" इस श्लोक द्वारा वह पापी कैसे सदाचारी हो जाता है, यह भी कहा गया है। और जो स्वयं ही मार्ग में उत्कंठा नहीं रख रहा है किन्तु संत्संग या कुलपरंपरा से शरणागत होता है, ऐसा जीव भी उपदेश करने योग्य है। परंतु उस पर भगवत्कृपा होगी या नहीं? यह संदिग्ध होने के कारण फलमुखता अर्थात् भगवत्-प्राप्ति निश्चितरूप से कहनी शक्य नहीं है। तथापि ऐसे जीव को उपदेश करने वाला दोष का भागी नहीं होता। क्योंकि संत्संग-आदि करने से यह संभावना अवश्य रहती ही है कि भविष्य में वह तादृशी हो जाय। किंतु फिर भी ब्रह्मसंबंध कराने से पूर्व वह परीक्षण करने योग्य है। यदि कालांतर में वह भगवद्-धर्म में श्रद्धा रखे, तब "जैसे[2] हरि-कृष्ण मन में आविष्ट होते जाते हैं, वैसे[2]

---

१ इदं पत्रं वेणुनादे मुद्रितम्।

पुष्टिभक्तिमार्गीय साधनों में निष्ठा बढ़ती जाती है (स.नि./सा.प्र./२४३)'' इस आचार्यचरण के वाक्य द्वारा मार्ग-रीति से उसे ज्ञान कराना चाहिए। यदि वह मार्ग के प्रति उदासीन है, तो ऐसे को मार्ग-संबंधी उपदेश नहीं करना चाहिए। यदि वह बहिर्मुखता प्रकट करे, तब तो उसकी उपेक्षा ही करनी चाहिए। क्योंकि यही व्यवहार एकादशस्कंध में ''जो भगवान से प्रेम, उनके भक्तों से मित्रता, दुःखी और अज्ञानियों पर कृपा तथा भगवान से द्वेष करने वालों की उपेक्षा करता है, वह मध्यम-कोटि का भागवत है (श्री.भा.११/२/४६)'' इस योगेश्वर-वाक्य में भागवत का लक्षण (भक्तों के लक्षण) करने में कहा गया है। और प्रभुचरणों ने भी विज्ञप्ति में ''जो आत्मनिवेदी नहीं हैं, उनमें सदा उदासीनता रखनी चाहिए। और जो प्रवाही हों तो सदा उनकी उपेक्षा करनी ही उचित है (प्रभु.वि.९/२०)'' यह कहा है। और, ''विजातीय जनों का आक्रमण होने पर निजधर्म का गोपन करके उस देश में रहना चाहिए। हरि की इच्छा समस्त जनों का उद्धार करने की नहीं है। अन्यथा आचार्यचरण से विमुख होकर कोई इस मार्ग में कैसे रह सकता है? इस प्रकार से उन्होंने पत्र में भी लिखा है। इतना सब कुछ मैंने मार्ग में यत्किंचित रही हुई उच्छृंखलता का निवारण करने के लिए एवं मार्गरीति का बोध कराने के लिए एवं मार्ग में अन्यथाबुद्धि को दूर करने के लिए प्रसंग छिड़ने पर कहा है।

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन ॥ ३ ॥
अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन।

प्राङ्भिस्त्वत्र पञ्चविधदोषस्वरूपमात्रं स्वस्वविचारितरीत्योच्यते, न तु प्रासङ्गिकं विचार्यते, न वा प्रत्यक्षविरोधः परिहियते। तथा सति तन्मतेनाधुनिकानां जघन्याधिकारिणां तद्रीत्या दोषनिवृत्त्यादिः क्लेशेन साधयितव्य इति तन्मतं विहाय श्रीरघुनाथानां विवरणमनुसृत्यैवं विवृतम्। श्रीगोकुलनाथैस्त्वत्र पूजामार्गोक्तदोषाणामेव निवृत्तिर्ब्रह्मसम्बन्धेनाभिप्रेयते। तत्र देहस्य भौतिकत्वाद्भूतशुद्धि-निवार्याः सहजाः। 'अपसर्पन्तु ते भूताः' 'पवित्रं कुरु चासन'मित्यादिना आसनादिशुद्धिविधानात्पूजादेशेपि दोषाः सन्तीति देशोत्थाः। 'प्रातर्होमं च कृत्वैव कृत्वा वा ब्रह्मयज्ञकम्। यद्वा माध्याह्निकं कृत्वा पूजयेत्पुरुषोत्तम'मिति कालविधानादन्यकाले पूजने कालोत्थाः। एतयोरेकपदोपात्तत्वादैक्यम्। लोकनिरूपितस्तु 'आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिन' इति वाक्यात्पुनरावृत्तिरूपः। वेदनिरूपितस्तु 'यस्य स्मृत्या चे'ति वाक्योक्तो न्यूनत्वादिः। एतयोरप्यैक्यम्। संयोगजस्त्वभिमन्त्रितजलादावनभिमन्त्रिततत्संयोगजः। आसादितानां गन्ध-पुष्पादीनां स्त्रीशूद्रस्पर्शजः। चकारादन्ये नैवेद्यादौ दृष्ट्यादिजाः। ते न भक्तिमार्गे, न मन्तव्याः, न गण्या इत्येवं व्याख्यानात्। तत्र हेतुस्तु ब्रह्मसम्बन्धकरणमेव। तथा च तदपराधानां भगवतैव निवारणात्तथेति तदाशयः॥ २ ॥

यहाँ प्राचीन-आचार्य तो इन पाँच प्रकार के दोषों का स्वरूप-मात्र ही अपने[२] ढंग से विचार की गई रीति द्वारा कह रहे हैं। उन्होंने इन दोषों के संदर्भ में अन्य भी जो प्रासंगिक विषय हैं, उनका विचार नहीं किया है और न ही इन दोषों की निवृत्ति में आनेवाले प्रत्यक्षविरोधों का निराकरण ही किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि, उनके मत में आधुनिक-जघन्याधिकारियों को उस रीति द्वारा बड़ी कठिनाई से दोषनिवृत्ति होगी। अतः उनके मत को छोड़कर श्रीरघुनाथजी के विवरण का अनुसरण करके ही मैंने यहाँ इस प्रकार से विवरण किया है। श्रीगोकुलनाथजी को तो यहाँ ब्रह्मसंबंध द्वारा पूजामार्ग में कहे दोषों की ही निवृत्ति वांछित है। वे वहाँ कहते हैं कि चूँकि देह भौतिक है अतः भूतशुद्धि (पूजा के लिए उपयोगी पदार्थों की शुद्धि) से दूर होने वाले जो दोष हैं, वे 'सहजा' हैं। वे आगे कहते हैं कि, ''वे विघ्न दूर हों'', ''आसन पवित्र करें'' ''इत्यादि वाक्यों द्वारा आसन-आदि की शुद्धि का विधान यह सिद्ध करता है कि पूजास्थल में भी दोष होते हैं और ये दोष 'देशोत्थाः' हैं। वे आगे कहते हैं कि ''प्रातःहोम, ब्रह्मयज्ञ अथवा मध्यान्ह के कर्म करने के पश्चात् पुरुषोत्तम की पूजा करनी चाहिए।'' इस श्लोक में एक निश्चित मुहूर्त के अतिरिक्त अन्य काल में पूजन करने पर जो दोष उत्पन्न होते हैं- वे 'कालोत्थाः' हैं। देश और काल को एकसाथ कहने से यह जानना चाहिए कि, ये दोनों समान हैं एवं एकदूसरे से संलग्न हैं। 'लोकनिरूपित' पद के द्वारा वे ये समझा रहे हैं कि ''ब्रह्मलोक सहित सभी पुनरावर्ती हैं अर्जुन! (भ.गी.८/१६)'' इस श्लोकानुसार ये पुनः[३] भूतल पर जन्म लेने वाले पुनरावृत्तिरूपदोष हैं। और, ''जिसके स्मरण से'' इस वाक्यानुसार वेद के कर्मों को करते समय जो कमी रह जाती है वे दोष- 'वेदनिरूपिताः' पद से कहे जा रहे हैं। इन 'लोकनिरूपित' और 'वेदनिरूपित' की भी समानता है अतः ये एक साथ कहे जा रहे हैं। संयोगदोष के लिए वे कह रहे हैं कि, यदि संस्कार किए गये जल-आदि में अपवित्र जल का संयोग हो जाय तो वह 'संयोगदोष' कहलाता है। पूजा के लिए लाए गये गंध-पुष्प आदि को यदि स्त्रीशूद्र का स्पर्श हो जाय, तो वह 'स्पर्शदोष' कहलाता है। 'चकार' पद से वे कह रहे हैं कि, पूजासामग्री में अन्य किसी अयोग्य व्यक्ति की दृष्टि पड़ जाय, तो वह भी दोष है। किंतु इन समस्त दोषों को भक्तिमार्ग में नहीं मानने चाहिए अर्थात् नहीं गिनने चाहिए- इस प्रकार से उन्होंने व्याख्यान किया है। इसमें हेतु तो ब्रह्मसंबंध करना ही है। क्योंकि इन समस्त अपराधों का निवारण भगवान द्वारा ही हो सकता है, यह इसका आशय है॥ २ ॥

प्रकृतमनुसरामः। ननु भवत्वेवं पूर्वदोषनिवृत्तिः, तथापि कर्मदेशकालानां दोषहेतूनां विद्यमानत्वात्तैः संयोगाद्युत्पादने ताभ्यां

जायमाना दोषाः कथं निवारणीया इत्यत आहुः असमर्पितेत्यादि।

असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत्॥ ४॥
निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः।

यस्माद्ब्रह्मसम्बन्धमन्तरेण न सर्वदोषनिवृत्तिस्तस्माद्धेतोः असमर्पितवस्तूनां आत्मसमर्पणोत्तरं लब्धानां 'सर्वलाभोपहरण'मित्युक्तरीत्या भगवत्यनिवेदितानां पदार्थानां वर्जनमाचरेत्। वृजी वर्जने। वर्जनं संसर्गराहित्यम्, तत्कुर्यात्। तानि भगवतेऽनुपहृत्य न स्वयं विनियुञ्जीत। प्रारब्धादयो हि न दृष्टसामग्रीसंपादनरूपव्यापारं विना संयोगस्पर्शावुत्पादयन्ति। तत्संपादिता च सामग्र्यसमर्पितैव दोषावहा, नतु समर्पिता, भगवदीयत्वात्। अतोऽसमर्पिताया असंसर्गे संयोगस्पर्शाभ्यां भाविनां दोषाणामसंश्लेषादेव वारणमित्यर्थः। ननु भवत्वेवं कालादिकृतदोषवारणम्, तथापि प्रारब्धवशाद्विद्यमानस्य देहादेर्निर्वाहस्तु भगवदीयेनैवान्नादिना कार्यः। तथा सति स्वस्य स्वामिवस्तुभोगजनितो दोषः सेवां प्रतिबध्नीयात्, अतस्तस्य कथं निवृत्तिरित्यत आहुः निवेदिभिरित्यादि। निवेदिभिरिति करणे तृतीया। निवेदो निवेदनं, भगवति समर्पणम्, तद्येषामस्ति, मतुबर्थे णिनिः। तानि निवेदनानि तैर्निर्वाहकरणभूतैः समर्प्यैव सर्वं कुर्यात्। स्वात्मसमर्पणावसरे भगवते निवेदितैर्दारादिभिश्चेतनैर्गृहवित्तादिभिरचेतनैश्च यत् कुर्यात्, तत्सर्वं भगवते तेषां यथोचितविनियोगरूपं समर्पणं विधायैव कुर्यात्।

अब प्रस्तुत विषय की चर्चा करें। चलिए मान लिया जाय कि, इस प्रकार दोषनिवृत्ति हो जाती है तथापि इन समस्त दोषों के हेतु तो कर्म-देश-काल हैं और ये सतत विद्यमान रहते ही हैं। तो इनके नित्यसंयोग से उत्पन्न होनेवाले दोषों की निवृत्ति कैसे होगी? यह **असमर्पित** इत्यादि शब्दों के द्वारा कह रहे हैं।

चूँकि ब्रह्मसंबंध के बिना सर्वदोषनिवृत्ति नहीं होती, अतः आत्मसमर्पण के पश्चात् असमर्पित वस्तुओं का-''जो प्राप्त हो उसे दास्यभाव से मुझे आत्मनिवेदन करे (श्री.भा. ११/११/३५)'' इस वाक्य में कही रीति के अनुसार भगवान को निवेदित न किए गये पदार्थों का वर्जन करना चाहिए। 'वर्जन' शब्द में 'वृजी' धातु है। 'वर्जन' का अर्थ होता है- संसर्ग से रहित होकर रहना। इस प्रकार दुःसंसर्ग से दूर रहना चाहिए। ऐसी असमर्पित वस्तुओं को भगवान को समर्पित किए बिना स्वयं में उपयोग नहीं करना चाहिए। प्रारब्ध से प्राप्त हुए दोष 'संयोग' एवं 'स्पर्श' दोष उत्पन्न नहीं करते क्योंकि प्रारब्ध के दोष अदृश्य होते हैं। दिखाई देते हुए पदार्थों में ही संयोग एवं स्पर्शजनित दोष उत्पन्न हो सकते हैं। और प्रत्यक्ष सामग्री यदि असमर्पित है-तब ही वह दोषयुक्त होती है, समर्पित नहीं। क्योंकि भगवदीयता उत्पन्न हो जाने के कारण समर्पित-सामग्री दोषरहित हो जाती है। इसलिए असमर्पित-सामग्री का यदि दोषों से संसर्ग न हो, तो भविष्य में होने वाले संयोग एवं स्पर्श दोष उस सामग्री से न जुड़ सकने के कारण स्वाभाविकतया ही दूर हो जाते हैं, यह अर्थ है। चलिए मान लिया कि, काल द्वारा किए गये इन दोषों की इस प्रकार निवृत्ति हो जाती हो तथापि भाग्यवश विद्यमान इस देह का निर्वाह तो फिर भगवदीय-अन्न द्वारा ही करना चाहिए, यह सिद्ध होता है। और यदि ऐसा करें तो स्वयं को अपने स्वामी की वस्तु का भोग करने का दोष लगता है एवं इस दोष से सेवा में प्रतिबंध होता है? अतः इस समस्या की निवृत्ति कैसे हो? यह **निवेदिभिः** इत्यादि वाक्यों से कह रहे हैं। 'निवेदिभिः' पद में करण-अर्थ में तृतीया-विभक्ति है। 'निवेद' शब्द का अर्थ होता है – निवेदन अर्थात् भगवान में समर्पण करना। यह निवेदन जिसमें हो, वह 'निवेदी' कहलाता है। 'निवेदिन्' शब्द में मतुब्-प्रत्यय के अर्थ में 'णिन्' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है, इससे यह शब्द बना है। ऐसे दैनिकजीवन निर्वाह करने में उपयोगी एवं भगवान में निवेदन करने योग्य समस्त पदार्थों को भगवान को समर्प कर ही सारे कार्य करने चाहिए। भगवान को आत्मसमर्पण करते समय निवेदन करने योग्य पत्नी-आदि जो चेतन-वस्तुएँ और गृह-धन आदि जो अचेतन वस्तुओं द्वारा जो कुछ भी किया जाता हो, वह सभी भगवान में यथोचित विनियोगरूप समर्पण कर के ही करना चाहिए।

'शास्त्रे निवेदनं दानं ह्यर्पणं त्रिविधं स्मृतम्। निवेदनं समुद्दिश्य द्रव्यस्य ज्ञापनं मतम्। दानं स्वकीयतात्यागः परस्वापादनं विधेः। अर्पणं स्वामिभोग्यस्य स्वामिने ज्ञापनं मतम्। सूदृष्टान्तदृष्टेन तदेवं त्रिविधं प्रमे'ति क्वचिद्वैष्णवनिबन्धे दर्शनात्। अत एवात्र 'निवेद्ये'त्यनुक्त्वा 'समर्प्ये'ति शब्दान्तरमुक्तम्। समुपसर्गश्च भावपूर्वकत्वायोक्तः। तथा च चेतनान् भगवत्सेवायां विनियुञ्जन्नचेतनान् गृहवित्तादीन्नुपयोजयन्नन्नादीन्नैवेद्यरूपेण वस्त्रालङ्कारादींश्चोचितविनियोगे नियोजयन् 'त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोलङ्कारचर्चिताः। उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमही'त्युक्तरीत्या तदुत्तप्रसादत्वेन तत्तदुपयुञ्जीत।

क्योंकि यही बात किसी वैष्णवग्रंथ में-''शास्त्र में 'निवेदन', 'दान' और 'अर्पण' यह तीन वस्तुएँ कही गई हैं किसी को उद्देश्य करके द्रव्य को देना 'निवेदन' है। किसी वस्तु पर से स्वयं की सत्ता का त्याग करके दूसरे की सत्ता का स्थापन करना 'दान' है। अपने स्वामी के भोग करने योग्य वस्तु को स्वामी के लिए प्रस्तुत करना 'अर्पण' है। सुंदर रीति से उत्पन्न हुए इस दृष्टांत द्वारा यही तीन प्रकार के प्रमाण हैं'' – इस प्रकार से कहा गया है। इसी कारण यहाँ 'निवेदन करके' यों न कह कर 'समर्पण करके' इस प्रकार से कहा गया है। 'समर्पण' में प्रयुक्त 'सम्' उपसर्ग (सम्+अर्पण) भावपूर्वक किए गये अर्पण को बताने के लिए कहा गया है। इस प्रकार से चेतन पदार्थों को भगवत्सेवा

में विनियोग करते हुए एवं गृह-धन इत्यादि अचेतन पदार्थों को भी भगवत्सेवा में विनियोग करते हुए अन्न-आदि को भगवान के लिए निवेदित पदार्थ के रूप से एवं वस्त्र-अलंकार आदि का भी भगवान में उचित रूप से विनियोग करते हुए ''आपकी धारण की गई माला पहनी, आपके लगाये हुए चंदन लगाये, आपके प्रसादी वस्त्र धारण किए और आपके धारण किए अलंकार धारण किये। हम आपकी जूठन खानेवाले सेवक हैं अतः हम आपकी माया पर अवश्य ही विजय प्राप्त कर लेंगे (श्री.भा. ११/६/४६)'' इस श्लोक में कही गई रीति के अनुसार भगवान के द्वारा दी गई वस्तु को प्रसादरूप से ग्रहण करते हुए अपने कार्य में विनियोग करना चाहिए।

इति स्थितिः। एषा निर्दुष्टा भक्तिमार्गमर्यादा। अत्र सर्वपदेन लौकिकं वैदिकं च यद्विधित्सितं कार्यं तदुच्यते, निवेदिभिरिति वस्तुविशेषणेन समर्पणक्रियया च सर्वत्र शेषित्वेन भगवतः स्मरणं बोध्यते। तथा चैवं तत्प्रसादेन स्वस्वीयसर्वनिर्वाहे क्रियमाणे स्वामिनैव तन्निर्वाहार्थं स्वीयवस्तूनां प्रसादत्वेन दत्तत्वस्यानुसंधानात् न तद्भोगेन दोष इत्यर्थः। न चोक्तवाक्यस्यावतारकालिक-विषयत्वादिदानीं प्रसाददानानुसंधानस्याहार्यत्वात्तेन कथं दोषनिवृत्तिरिति शङ्क्यम्। एतादृशानुसंधानस्यापि फलसाधकत्वात्। 'इति शेषां मया दत्तां शिरस्याधाय सादरम्। उद्वासयेच्चेदुद्वास्यं ज्योतिर्ज्योतिषि तत्पुन'रिति भगवद्वाक्येन तथा निश्चयात्। एतदेव पुराणा-न्तरेप्युक्तम्। 'अम्बरीष नवं वस्त्रं फलमन्नं रसादिकम्। कृत्वा विष्णूपभोग्यं तु सदा सेव्यं हि वैष्णवै'रिति। 'विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम्। पितृभ्यश्चापि तदेयं तदानन्त्याय कल्पत' इति च।

अब **इति स्थितिः** शब्द की व्याख्या कर रहे हैं। 'इति स्थितिः' का अर्थ है- यह भक्तिमार्ग की निर्दुष्ट मर्यादा है। यहाँ प्रयुक्त हुए 'सर्व' शब्द का अर्थ यह है कि, लौकिक एवं वैदिक में जो कुछ भी विधियुक्त कार्य हैं, वे सभी भगवान को समर्पण करने के लिए कहे जा रहे हैं। 'निवेदिभिः' इस विशेषण द्वारा एवं समर्पण क्रिया द्वारा यह बताया जा रहा है कि अब जो कुछ भी भगवान को निवेदन करने बाद भगवद्-भुक्त के रूप में शेष रह गया है, उस भगवद्-प्रसाद से ही स्वयं के समस्त लौकिक वैदिक व्यवहार करने चाहिए और इससे समस्त वस्तुओं में भगवान का स्मरण बोध कराया जा रहा है। और इस प्रकार भगवान के द्वारा दिए गये प्रसाद द्वारा स्वयं एवं स्वीयजनों के समस्त कार्यों का निर्वाह करने में- हमारे स्वामी ने ही हमारे निर्वाह के लिए स्वीयवस्तुओं को प्रसादरूप से हमें दिया है – यह अनुसंधान करने से उन वस्तुओं का भोग करने में दोष नहीं होता, यह अर्थ है। किंतु यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि उपर कहे गये त्वयोपयुक्त ..... इत्यादि वाक्य भगवान के अवतारदशा के समय के हैं और उस समय इन समस्त वस्तुओं में भगवान के प्रसाद-प्राप्त होने का अनुसंधान था। किंतु यहाँ तो आप उस प्रसाद को उदरपोषण के लिए ले रहे हैं? तो इस प्रकार संपूर्ण भावना ही परिवर्तित हो जाने से दोषों की निवृत्ति कैसे होगी? ऐसी शंका न करें क्योंकि भले ही उदरपूर्ति हो रही हो तथापि यदि उसमें भगवान के प्रसाद का अनुसंधान किया जाय तो भी वह फलसाधक होता है। क्योंकि इसी बात का निश्चय ''मेरी स्तुति करके मुझे समर्पित की गई माला शिरोधार्य करे एवं मेरे द्वारा दिए गये को प्रसाद समझे (श्री.भा.११/२७/४७)'' इस भगवद्-वाक्य द्वारा हुआ है। यही बात अन्य पुराणों में भी ''हे अंबरीष! नये वस्त्र, फल, अन्न, रसादि का विष्णु को उपभोग करा कर वैष्णवों -को सेवा करनी चाहिए। विष्णु को निवेदित किए गये अन्न द्वारा अन्य देवताओं का भजन करना चाहिए। पितरों को भी वही देने से वह अनंत फलदायी होता है'' इन वाक्यों द्वारा कही गई है।

न चैवं प्रक्षालनपङ्क्न्यायापत्त्या गार्हवस्तूनां समर्पणात्पूर्वं भगवदीयत्वमेव नाङ्गीकार्यम्। आत्मसमर्पणावसरे वित्तोल्लेखस्य भाविनि परलोक इव भूते वित्तेप्यभिमानमात्रनिवृत्त्यर्थत्वेन तदानीं भगवदीयत्वानापादकत्वादिति वाच्यम्। समर्पणात्पूर्वमपि वस्तुतः सर्वस्य भगवदीयत्वेन त्यक्ते स्वाभिमाने सुतरां तथात्वेनोक्तरीतिं विना पूर्वोक्तदोषानपायात्। न च 'यावद्भ्रियेत जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम्। अधिकं योभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति' इति सप्तमस्कन्धवाक्यात् निर्वाहमात्रार्थग्रहणे दोषस्य न सम्भव इति वाच्यम्। तस्य सामान्यत्वात्। आत्मनिवेदनमुपक्रम्य तदपाठात्। तावताभिमानजनितदोषाभावेप्यभिमानस्य विद्यमानत्वेनैतदपेक्षया पूर्वोक्तस्यैवोत्कृष्ट-त्वादिति। एवमत्र सर्ववस्तुसमर्पणोपदेशेन स्वामिवस्तुग्रहणदोषो निवारितः।

यहाँ एक वस्तु विशेषरूप से यह समझनी चाहिए कि, चूँकि उपर्युक्त समस्त विवेचनों से ज्ञात होता है कि दैनिक वस्तुओं का उपभोग करने से पूर्व सभी का भगवान में समर्पण कर देने से उनमें भगवदीयता आ जाती है; अतः आप समस्त घरेलू वस्तुओं में समर्पण से पहले भगवदीयता ही स्वीकार न करें, ऐसा न करें। अतः ऐसे में यदि कोई पूर्वपक्षी पंकप्रक्षालन-न्याय की आपत्ति करे तो वह योग्य नहीं है। संस्कृत की मूलटीका में ''न चैवं..... नाङ्गीकार्यम्'' पंक्ति का भावार्थ समझें। टीकाकार कह रहे हैं कि, जैसे उपर कहा गया कि भगवान को सभी कुछ समर्पण कर देने से उनमें भगवदीयता आ जाती है तो इसका अर्थ ये नहीं है कि समर्पण करने से पहले वे भगवदीय नहीं थी। आगे वे कहते हैं कि इसमें किसी भी पूर्वपक्षी को 'पंकप्रक्षालनन्याय' की आपत्ति नहीं उठानी चाहिए। अब 'पंकप्रक्षालनन्याय' का अर्थ समझें। 'पंक' का अर्थ है कीचड़ एवं 'प्रक्षालन' का अर्थ है धोना। इस न्याय का अर्थ यह है कि कीचड़ में ज्ञानपूर्वक जा कर फिर उसे धोने से न अच्छा है कि उसमें जाया ही न जाय। ठीक इसी उदाहरण से कोई पूर्वपक्षी यहाँ ये शंका कर सकता है कि यदि समर्पण करने के बाद ही समस्त वस्तुओं में भगवदीयता आती हो तो यह मानना पड़ेगा कि समर्पण से पूर्व उनमें भगवदीयता नहीं थी। और यदि भगवदीयता उसके

ही है तो फिर समर्पण की क्या आवश्यकता है? अतः अच्छा तो यही रहेगा कि भगवदीयता यदि पहले से ही है तो समर्पण किया ही न जाय? यह अर्थ है। टीकाकार इस शंका का स्पष्टीकरण आगे दे रहे हैं। आत्मसमर्पण के अवसर पर गद्यमंत्र बोलते समय जो 'वित्त' का उल्लेख आता है एवं भावी 'परलोक' का उल्लेख आता है, उसकी भाँति इन समस्त पदार्थों में स्वयं को जो भूतकाल में भी धन का अभिमान उत्पन्न हो गया था, मात्र उस अभिमान की निवृत्ति के लिए ही आत्मसमर्पण है और केवल उतने समय तक के लिए वहाँ भगवदीयता नहीं है, यह जानना चाहिए। वास्तव में तो समर्पण करने के पहले भी समस्त वस्तुएँ भगवदीय ही हैं। इसी कारण उन वस्तुओं पर स्वयं का अभिमान त्यागे बिना और भगवदीयता स्थापित करने की कही गई इस रीति के बिना पूर्वोक्त दोष निवृत्त नहीं होते। इसी प्रकार सप्तस्कंध में कहे ''मनुष्यों का अधिकार केवल उतने ही धन पर है; जितने से उनकी भूख मिट जाय। इससे अधिक संपत्ति को जो अपनी मानता है, वह चोर है, उसे दण्ड मिलना चाहिए (श्री.भा.७/१४/८)'' इस वाक्य में यह कहा गया है कि यदि मात्र निर्वाह करने के लिए अन्न का ग्रहण करें तो दोष नहीं लगता। अतः यहाँ ये नहीं समझना चाहिए कि इससे अधिक मात्रा में यदि अन्न या दूसरी कोई वस्तु आवश्यकता से अधिक उपभोग की जाय तो दोष लगता है। यहाँ टीकाकार के विषय को समझने का प्रयास करें। उपर के विवेचन में उन्होंने कहा था कि त्वयोपभुक्त..... (श्री.भा. ११/६/४६) श्लोकानुसार समस्त वस्तुओं को भगवान में समर्पण करके प्रसादीरूप से स्वयं को ग्रहण करनी चाहिए। इस संदर्भ में किसी पूर्वपक्षी की शंका उठाते हुए उन्होंने कहा कि इस श्लोक में तो भक्तों ने प्रभु के द्वारा अंगीकार की गई वस्तु को प्रसाद के रूप में ग्रहण किया था परंतु यहाँ तो आप उस प्रसाद को उदरपोषण के लिए ले रहे हो। तो क्या इस प्रकार दोषों की निवृत्ति होगी? इस शंका का समाधान करते हुए उन्होंने कहा कि यदि उस वस्तु में प्रसाद की भावना हो तो भले ही वह उदरपूर्ति के लिए ग्रहण की जा रही हो तथापि वह फलसाधक है। इसी संदर्भ में टीकाकार ने यहाँ एक दूसरी शंका व्यक्त की है। वे कहते हैं कि, उपर्युक्त सप्तमस्कंध के श्लोकानुसार जितने अन्न से पेट भर जाय, उतने ही अन्न की कामना करनी चाहिए। तो क्या आवश्यकता से अधिक वस्तुओं की कामना करने पर दोष लगेगा? भले ही फिर वह वस्तु प्रभु को समर्पित ही क्यों न कर दी गई हो? इस शंका का समाधान वे आगे दे रहे हैं। ऐसी शंका न करें, क्योंकि यह एक सामान्य बात कही गई है। क्योंकि यहाँ हमारे प्रस्तुत विषय 'आत्मनिवेदन' की कोई चर्चा नहीं है। मात्र निर्वाह करने तक के लिए अन्न ग्रहण किया जाय तो इसमें स्वयं की अहंताममता के अभिमान से उत्पन्न हुआ दोष अवश्य ही निवृत्त हो जाता है तथापि अभिमान की सत्ता तो विद्यमान रहती ही है। अतः इसकी अपेक्षा तो वस्तुओं पर से स्वयं की अहंताममता का त्याग करके आत्मनिवेदन द्वारा प्रभुप्रसादी से जीवन निर्वाह करना अधिक उत्कृष्ट है। इस प्रकार यहाँ समस्त वस्तुओं के समर्पण के उपदेश द्वारा स्वामी की वस्तु ग्रहण करने का दोष निवारित हुआ।

अतः परं समर्पणं यथा न दुष्यति, तं प्रकारं वक्तुं पूर्वं दूषितसंसर्गनिषेधमाहुः न मतमित्यादि।

न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम् ॥ ५ ॥

देवदेवस्य पूज्यानामपि पूज्यस्य भगवतः। सामिभुक्तस्यार्धभुक्तस्य समर्पणं न मतम्। सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारो हि भोगः, तद्विषयं भुक्तम्। तथा च यत उद्धृत्य ग्रहणाद्यनन्तरं शिष्टे भुक्तशेषत्वव्यवहारः, तत्सामिभुक्तम्। वस्तुनः सदसत्त्वादिपरीक्षार्थं तत उद्धृत्य मुखादौ क्षेपे आघ्राणे हस्तलापने वा शिष्टस्य न सामिभुक्तत्वम्। तच्छिष्टे भुक्तशेषव्यवहाराभावात्। तत्रापि बीजं स्वस्य तद्दर्शनाद्युत्तरं तद्बुभुक्षाभावो बुभुक्षोत्तरं तदुपादानयत्नाभावो वा। यदि पुनः कस्यचिद्बुभुक्षोत्पत्तिः, तदा तस्य चेतनस्यैवापराधित्वम्। मानसिकव्यभिचारादिव। नत्वचेतनस्य वस्तुनः सामिभुक्तत्वम्। यदा तु बुभुक्षोत्तरमिन्द्रियव्यापारः, तदा तु वस्तुन्यपि दोष इति तादृशस्य समर्पणं क्रियादूषकत्वात् न संमतमित्यर्थः।

इतने विवेचन के पश्चात् समर्पण जिस प्रकार से दूषित न हो, ऐसे प्रकार को कहने के पूर्व दूषितसंसर्ग का निषेध **न मतम्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

देवदेवस्य शब्द का अर्थ होता है- पूज्यों के भी पूज्य भगवान को **सामिभुक्तं** अर्थात् अर्धभुक्त का समर्पण मान्य नहीं हैं। 'भुक्त' शब्द का अर्थ समझें। सुख एवं दुःखों का सामना करना 'भोग' है। इन सुख एवं दुःखों के विषयों को भोगना 'भुक्त' है। इस प्रकार जिस वस्तु को कहीं से लेकर ग्रहण-आदि करने के पश्चात् जो शेष रह जाय, वह खाये हुए से बचा हुआ कहलाता है, यही 'सामिभुक्त' है। वस्तुओं की योग्यता या अयोग्यता की परीक्षा करने के लिए यदि कोई वस्तु कहीं से उठा कर मुख-आदि में डालने पर, सूंघ लेने पर अथवा हाथ में लेने पर बची हुई वस्तु सामिभुक्त नहीं होती। क्योंकि परीक्षा करने के लिए ली गई वस्तु के पश्चात् बची हुई वस्तु में भुक्तशेष का व्यवहार नहीं होता। इसमें भी मूल कारण तो ऐसी वस्तु या सामग्री को देखने के पश्चात् स्वयं में उसे खा लेने की इच्छा न होना अथवा खाने की इच्छा करने के पश्चात् उस सामग्री को पुनः भगवान को समर्पित करने का यत्न न करना ही है। ऐसी परिस्थिति में यदि किसी को उस सामग्री को खा लेने की इच्छा उत्पन्न होती है तब तो वह खा लेने की इच्छा करने वाला ही अपराधी होता है, सामग्री दूषित नहीं होती। इस पक्ष को मानसिक व्यभिचार को भाँति समझना चाहिए। जैसे परस्त्री को देखने पर यदि किसी के मन में व्यभिचार की इच्छा पनपती है, तो केवल उस व्यक्ति में ही व्यभिचार का दोष आता है। मात्र व्यभिचार की कल्पना से उस स्त्री का शील भंग होकर उसमें दोष आ जाता हो, ऐसा नहीं है। अतः अचेतन अर्थात् जड़-पदार्थों अथवा सामग्री में सामिभुक्तत्व नहीं होता। लेकिन जब उस साम्रगी को खा लेने की इच्छा करने के पश्चात्

वास्तव में इंद्रियों से संयोग हो जाय, तब तो उस वस्तु में भी दोष आ जाता है। अतः ऐसी वस्तु का समर्पण दूषित हो जाने के कारण नहीं करना चाहिए, यह अर्थ है।

एवञ्च यच्छ्रीगोकुलनाथैर्भगवदर्थं सम्पादितेषु पदार्थेषु कदाचित्केनचित्तन्मध्यात्किञ्चित्स्वार्थमन्यार्थं वा गृहीत्वा विनियुक्तं चेत्, तदा तस्य पदार्थस्य यत्सामिभुक्तत्वमुक्तम्, तदत्र कैमुतिकादेव सिद्धं ज्ञेयम्। यत्पुनस्त एव स्वोपभोगार्थमानीतं वस्त्रादिकं किञ्चित्स्वोपयुक्तमात्रं भगवते समर्प्य तस्योपयोगं कृत्वा तदवशिष्टं चेत्समर्पयितुमिच्छति, तदपि सामिभुक्तं जातमिति न समर्पणीयमित्याहुः। तत्र स्वोपभोगार्थत्वाभिसंधानमेव दूषकताबीजम्। तादृशस्य समर्पितस्य ग्रहणे भगवद्दत्तप्रसादत्वबुद्धेः कर्तुमशक्यत्वात् गौणत्वाद्वेति मम प्रतिभाति। तथा भगवद्वस्तुबुभुक्षापराधे तु, 'ममायमपराधो निवर्तताम्, पुनश्च माभूदि'ति दीनभावनपूर्वकं भगवानेव प्रार्थनीयो, वज्रचिह्नयुक्ततच्चरणारविन्दध्यानं च कार्यम्, दैन्यस्य भगवत्तोषणहेतुत्वात्। 'यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोभूत्। ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्द'मिति तृतीयस्कन्धे श्रीकपिलवाक्याच्च। भक्तेः पापनाशकत्वस्य पूर्वं साधितत्वेन तद्ध्यानात्मकस्मरणेपि तथात्वस्यौचित्याच्च। किञ्च। भगवच्चरणचिह्नभूताङ्कुशध्यानमपि कार्यम्। 'अङ्कुशो नागशिक्षायै यावद्भवति पुत्रक। तादृशं तद्भवेच्चिह्न'मिति पाद्मे चरणचिह्नाध्याये तादृगाकारस्य शिक्षार्थत्वाभिधानात्। पञ्चाध्याय्यां 'लक्ष्यन्ते हि ध्वजाम्भोजचक्राङ्कुशयवादिभि'रित्यत्र सुबोधिन्यां मनोनिग्रहार्थमङ्कुशस्थापनमिति तत्तात्पर्यकथनाच्चेति मम प्रतिभातं प्रसङ्गादुक्तम्।

यही बात श्रीगोकुलनाथजी ने कही है कि- ''यदि भगवान के लिए संपादित पदार्थों में कभी किसी ने भगवान को समर्पित होने के पहले ही उसमें से कुछ वस्तु स्वयं के लिए या किसी अन्य के लिए ले ली हो, तब वह सामिभुक्त हो जाती है'' - यह बात तो यहाँ कैमुतिक-न्याय से ही सिद्ध है, यह जान लेना चाहिए। इसी प्रकार यह भी समझना चाहिए कि यदि स्वयं के उपभोग के लिए वस्त्र-आदि लाए जाएँ, एवं उसमें से कुछ स्वयं के लिए कुछ टुकड़ा निकाल कर भगवान को समर्पित करके उसका उपयोग कर लिया जाय एवं उस बचे हुए वस्त्र को यदि पुनः भगवान को समर्पित करने की इच्छा की जाय, तो वह भी सामिभुक्त ही हो जाती है। ऐसी वस्तु का समर्पण नहीं करना चाहिए, यह भी श्रीगोकुलनाथजी ने कहा है। इसमें स्वयं के द्वारा उस वस्तु का भोग करने की इच्छा करना ही उस वस्तु के दूषित हो जाने का कारण है। क्योंकि ऐसी वस्तु को भगवान को समर्पित करने के बाद पुनः ग्रहण करने में भगवान के द्वारा दिए गये प्रसाद की बुद्धि करनी संभव नहीं है अथवा ऐसा करना गौणपक्ष है। मुख्यपक्ष तो निर्दुष्ट सामग्री को ही समर्पित करना है, ऐसा मुझे आभासित होता है। और यदि भगवद्-वस्तु में स्वयं खा लेने की इच्छा करने का अपराध हो जाय तो- ''मेरे इस अपराध को क्षमा करें, पुनः ऐसा नहीं होगा''- इस प्रकार से भगवान को दीनतापूर्वक प्रार्थना करनी चाहिए। और, वज्रचिन्हों से युक्त भगवान के चरणकमलों का ध्यान करना चाहिए क्योंकि जीव की दीनता ही भगवान को संतुष्ट करने में हेतु है। यही बात तृतीयस्कंध में भी ''भगवान के चरणकमलों से ही नदियों में श्रेष्ठ श्रीगंगाजी प्रकट हुई थीं, जिनके पवित्रजल को मस्तक पर धारण करने के कारण स्वयं मंगलरूप-शिव और भी मंगलमय हो गये। ये अपना ध्यान करने वाले के पापरूप-पर्वतों पर छोड़े गये इंद्र के वज्र के समान हैं। भगवान के इन चरणकमलों का चिरकाल तक सेवन करे (श्री.भा.३/२८/२२)'' इस कपिलवाक्य द्वारा कही गई है। चूँकि भक्ति तो पूर्व में पापनाशक सिद्ध हो चुकी है, अतः भगवान का ध्यानात्मक स्मरण करनें पर भी दोष दूर हो जाने उचित ही हैं। और भी, भगवान के चरणचिन्हों के अंतर्गत 'अंकुश' का ध्यान भी करना चाहिए। यही पद्मपुराण के चरणचिन्ह-अध्याय में ''हे पुत्र! जिस प्रकार हाथी को नियंत्रित करने के लिए अंकुश होता है, उसी प्रकार प्रभु के चरणारविंद में भी अंकुश होता है'' इस वाक्य में अंकुश के आकार को शिक्षा देने के अर्थ में कहा गया है। और श्रीमद्-भागवत के दशमस्कंध के रासपञ्चाध्यायी-प्रकरण की ''लक्ष्यन्ते हि (श्री.भा.१०/३०/२५) इस श्लोक की सुबोधिनी में ''मन को नियंत्रित करने के लिए भगवान के चरणचिन्ह में अंकुश है'' इस प्रकार से श्रीमहाप्रभुजी ने 'अंकुश' का तात्पर्य कहा है। इस कारण मुझे ऐसा आभासित हो रहा है, अतः प्रसंग के अनुरूप मैंने यहाँ इतनी बात कही है।

एवं दूषितसंसर्गनिषेधमुक्त्वा समर्पणादूषणप्रकारमाहुः तस्मादित्यादि।

तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्।
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः॥ ६॥
न ग्राह्यमितिवाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।

यस्मादसमर्पितसंसर्गः सामिभुक्तसमर्पणं चायुक्तम्, तस्मात्सर्वस्मिन्वैदिके स्मार्ते लौकिके च कार्ये आदौ ततः प्रागेव सर्वेषां तत्रतत्रापेक्षितानां वस्तूनां समर्पणं मतं संमतमित्यर्थः। तत्प्रकारस्त्वेवं प्रतिभाति। गारुडे। 'जगद्धातुर्महेशस्य दिव्याज्ञाचरणा वयम्। इह नित्यक्रियां कुर्मः स्निग्धास्ते वैष्णवाश्च ते' इति वैष्णवलक्षणवाक्यात्, एकादशस्कन्धे च 'सन्ध्योपास्त्यादिकर्माणि विधिना नोदितानि मे। पूजान्तैः कल्पयेत्सम्यक् संकल्पः कर्मपावन' इति वाक्याच्च स्वस्य भगवदाज्ञाकारित्वं श्रौतस्मार्तकर्मणां भगवदाज्ञाप्राप्तत्वं

चानुसन्धाय, विष्णुधर्मोत्तरे शंकरगीतासु 'अपृष्ट्वा यस्तु यां काञ्चित्क्रियां नारभते हरिम्। असंभिन्नार्यमर्यादस्तस्य तुष्यति केशव' इति वाक्यात्स्वधर्मत्वाच्च तत्करणार्थं भगवद्विज्ञप्तिं कृत्वा तत्संभारान् संभृत्य कर्मकरणार्थं पुनराज्ञां प्रार्थ्य महापाकादेः समर्पयितुमशक्यत्वान्मनसा वाचा च समर्पणं कुर्यात्। श्राद्धाद्यर्थे स्वल्पे पाके तु प्रत्यक्षवस्तूनां सिद्धानामेव समर्पणं कुर्यात्। एवं लौकिकेपि पूर्वं कृत्वा पश्चात्तत्तत्कार्यं कुर्यादिति।

इस प्रकार दूषितसंसर्ग का निषेध कह कर समर्पण का निर्दुष्ट प्रकार **तस्माद्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

चूँकि असमर्पित का संसर्ग एवं सामिभुक्त के समर्पण को अयुक्त कहा गया है, अतः समस्त वैदिक, स्मार्त एवं लौकिक कार्यों में **आदौ** अर्थात् इन कार्यों को आरंभ करने से पहले ही इन कार्यों में अपेक्षित समस्त वस्तुओं का समर्पण करना चाहिए, यह अर्थ है। और उस समर्पण का प्रकार तो मुझे इस प्रकार आभासित होता है जैसे गरुड़पुराण में ''हम जगत को धारण करने वाले महेश की दिव्य-आज्ञा का आचरण करने वाले हैं। अतः इस लोक में जो ऐसी नित्यक्रिया कर रहे हैं, वे ही भगवान को प्रिय हैं एवं वे ही वैष्णव हैं'' इस वैष्णवलक्षण को बताने वाले वाक्य द्वारा एवं एकादशस्कंध में ''वेदोक्त सन्ध्या-वंदन आदि नित्यकर्म करने चाहिए। उसके बाद मेरी आराधना का ही सुदृढ़ संकल्प करके वैदिक और तांत्रिक विधियों से कर्मबंधनों से छुड़ानेवाली मेरी पूजा करे (श्री.भा.११/२७/११)'' इत्यादि वाक्य द्वारा स्वयं-''ये समस्त श्रौतस्मार्त कर्म भगवान की आज्ञा हैं''-इस प्रकार भगवद्-आज्ञा की प्राप्ति का अनुसंधान करके विष्णुधर्मोत्तर-शंकरगीता में कहे- ''जो भगवान-हरि से पूछे बिना कोई भी क्रिया का आरंभ नहीं करता, ऐसे आर्यमर्यादा को भंग न करने वाले व्यक्ति की क्रिया केशव को संतुष्ट करती है'' - इस वाक्य के द्वारा यही भगवद्-आज्ञा है अतः यही स्वधर्म होने के कारण ऐसे लौकिक-वैदिक कर्मों को भगवद्-आज्ञा मान कर करने के लिए भगवान से प्रार्थना करके उन कार्यों में उपयुक्त होनेवाले धन को संभाल कर, उन कार्यों को करने के लिए पुनः प्रभु से प्रार्थना करके यदि महाभोग (अन्न का विशाल भंडार) समर्पित करना असंभव हो, तो मन एवं वाणी से उसका समर्पण करना चाहिए। श्राद्ध-आदि कर्म के लिए अल्प मात्रा में सिद्ध की गई प्रत्यक्ष वस्तु का समर्पण करना चाहिए। इसी प्रकार लौकिक कार्यों में भी सर्वप्रथम प्रभु को समर्पित करने के पश्चात् समस्त कार्य करने चाहिए।

न च विज्ञापने समर्पणव्यवहाराभावान्नैवमिति शङ्क्यम्। विज्ञापनं विशेषेण ज्ञापनमर्थस्य सम्यग्बोधनमिति यावत्। तत्र तु प्रयोगो दृश्यते। समर्पकमिदं वाक्यम्, असमर्पकोयं शब्द इति विदुषां व्यवहारात्। एतस्य च सम्यग्बोधन एव पर्यवसानात्। एवं निवेदनपदेपि बोध्यम्। 'निवेदितोजोङ्गिरसे'त्यादौ तथा दर्शनादिति। ननु भवत्वेवमुक्तरीत्या सर्वसमर्पणे दोषाभावः, तथापि 'भक्तिस्त्वय्युपयुज्येत कीदृशी सद्भिरादृते'त्युद्धवप्रश्ने, भगवता यदा 'मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चन'मित्यादिना भक्तिमार्ग उपदिष्टः, तत्र 'अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्जान्निवेदित'मित्याज्ञप्तम्, तदकरणादाज्ञाभङ्गदोषः कथं निरसनीय इत्यतस्तदनूद्य तद्विषयव्यवस्थामाहुः दत्तापहारेत्यादि। दत्तस्य भगवते समर्पितस्य अपहारः, पुनर्जीवोपयोगाय ग्रहण उच्यते, निषिद्धतया कथ्यते यस्मिन्, तद्दत्तापहारवचनम्, 'अपि दीपावलोकम्' इत्यादिजातीयकं वाक्यं भक्तिमार्गोपदेशे वर्तत इति शेषः। तथा च हरेः सम्बन्धिसकलं सर्वं समर्प्यापि न ग्राह्यमित्येवमर्थकं भिन्नमार्गपरं विवक्षितभक्तिमार्गादन्यमार्गविषयं मतं विचारितम्।

और, यहाँ मात्र विज्ञापन कर देने से (अर्थात् प्रभु के समक्ष केवल मौखिकरूप से बोल देने से) वास्तव में समर्पण कर देने की क्रिया परिपूर्ण नहीं होती है अतः ऐसा नहीं करना चाहिए-यह शंका नहीं करनी चाहिए। 'विज्ञापन' शब्द का अर्थ होता है किसी विषय को विशेषरूप से बताना अर्थात् उसके अर्थ का भलीभाँति परिचय कराना क्योंकि लोक में ऐसा प्रयोग देखा जाता है। यहाँ इस विज्ञापन का अर्थ समर्पण करना ही है किंतु अन्य विद्वानजन इसे समर्पण करना नहीं मानते। क्योंकि अंततोगत्वा विज्ञापन का भाव केवल भलीभाँति प्रकार से बोध कराने में ही है, वास्तव में समर्पण करने में नहीं। भले ही वे ऐसा मानते हों तथापि ध्यातव्य है कि विज्ञापन अर्थ में भी निवेदन शब्द का प्रयोग लोक में देखा-सुना जाता है। 'निवेदितोजोङ्गिरसा' इस श्रुति में भी निवेदन का अर्थ उक्त रीति के अनुसार ही किया गया है। चलिए मान लें कि, इस रीति से सर्व समर्पण कर देने पर दोष दूर हो जाते हैं तथापि ''संतों के द्वारा आदर की जाने वाली आपके प्रति कैसी भक्ति करनी चाहिए? (श्री.भा. ११/११/२६)'' इस उद्धवजी के प्रश्न पर भगवान ने जब ''मेरी मूर्ति, मेरे भक्तजनों का दर्शन, मेरा स्पर्श, अर्चन आदि करना चाहिए (श्री.भा. ११/११/३४)'', इत्यादि वाक्यों से भक्तिमार्ग का उपदेश किया, वहीं ''मुझे समर्पित किए गये दीपक का प्रकाश भी स्वयं के उपयोग में न ले (श्री.भा.११/११/४०)'' इत्यादि वाक्य द्वारा उनके उपयोग में आने वाली वस्तुओं को स्वयं के उपयोग में न लेने की आज्ञा भी की है। अतः यदि उनको समर्पित की गई वस्तु स्वयं के उपयोग में लें तो उनकी आज्ञाभंग करने का दोष लगेगा। उसका निराकरण कैसे होगा? इस शंका का विचार करके उसकी व्यवस्था को **दत्तापहार** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। 'दत्तापहार' शब्द का अर्थ है- भगवान को दिए गये को अर्थात् समर्पित किए गये पदार्थ को पुनः ले लेना। भगवान को दी गई वस्तु को पुनः स्वयं के लिए ग्रहण करने को जहाँ निषिद्धरूप से कहा गया है, वह 'दत्तापहारवचन' है। 'अपि दीपावलोकं' इत्यादि वाक्य ऐसे ही हैं एवं भक्तिमार्ग के उपदेश के अंतर्गत कहे गये हैं अतः प्रभु की वस्तु को पुनः वापस कैसे लेना? यह शंका होती है। किंतु यहाँ यह समझना चाहिए कि- ''हरि से संबंधित समस्त वस्तुएँ उन्हें समर्प कर पुनः स्वयं के उपयोग में नहीं लेनी चाहिए''-ऐसे अर्थ वाले वाक्य यहाँ कहे हुए भक्तिमार्ग से भिन्न अन्य किसी

मार्ग में माने गये हैं। यहाँ से टीकाकार एकादश-स्कंध में जहाँ यह दीपावलोकं.... वाक्य आया है, वह भक्तिमार्ग के उपदेश के अंतर्गत हो पर भी भिन्न मार्ग का क्यों है? यह सिद्ध कर रहे हैं। इसके लिए उन्होंने एकादशस्कंध के ग्यारहवें अध्याय के चौंतीसवें श्लोक से लेकर अंत तक के श्लोकों का विवेचन किया है। इसी वाक्य को सिद्ध करने के लिए उन्होंने आगे द्वादशस्कंध के श्लोकों का भी विवेचन किया है। इस संदर्भ को भलीभाँति समझने के लिए अध्येताओं से अनुरोध है कि, वे श्रीमद्-भागवत के इन श्लोकों का भलीभाँति विचार करें तब ही सुस्पष्टता होगी।

अयमर्थः। इदं हि वाक्यमेकादशाध्याये भगवति निश्चलमनोधारणाशक्तौ 'यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चल'मित्यादिना तदनुकल्पकथने या भक्तिरुपासनशेषत्वेनोक्ता, तत्प्रकार उद्धवेन पृष्टे, 'मल्लिङ्गमद्भक्तजने'त्याद्यष्टभिस्तन्मार्ग उपदिष्टस्तेषु वर्तते। तत्र च यथा स्वलिङ्गदर्शनादयो धर्माः पृथगुक्ताः, तथा वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षापि पृथगुक्ता, सा नास्मिन्मार्गे, भक्तिमार्गीयोपदेशस्यात्र विवक्षितत्वात्। तथा दास्येनात्मनिवेदनमपि तथोक्तम्, तदपि नात्र पृथग्धर्मत्वेन। अधिकाररूपतया तस्यात्र पूर्वं विवक्षितत्वात्। तथाग्रे 'सूर्योग्निर्ब्राह्मणा गाव'इत्यादिना पूजास्थानान्येकादश निर्दिष्टानि। समाप्तौ च 'इष्टापूर्तेन मामेवं यो यजेत समाहितः लभते मयि सद्भक्तिं मत्स्मृतिः साधुसेवये'ति तथा कृतौ भक्तिलाभः, तया स्वस्मृतिः फलत्वेनोक्ता।

इसका स्पष्ट-अर्थ यह है कि, उपर्युक्त समर्पणप्रकार को एकादशस्कंध के अंतर्गत भगवान ने निश्चलरूप से मन को धारण न कर सकने की शक्ति के कारण "यदि तुम अपना मन परब्रह्म में स्थिर न कर सको तो सारे कर्म मेरे लिए करो (श्री.भा.११/११/२२)" इत्यादि वाक्य कहे हैं। इस वाक्य में उन्होंने मन की एकाग्रता प्राप्त करने का उपाय भक्ति को बताया है। "उस भक्ति का प्रकार क्या है?" यह उद्धवजी द्वारा पूछने पर (देखें श्री.भा. ११/११/२६,२७,२८) भगवान ने "मेरे स्वरूप, मेरे भक्तजनों का दर्शन (श्री.भा. ११/११/३४... ४१)" इत्यादि आठ श्लोकों द्वारा भक्तिमार्ग का उपदेश किया है। किंतु इन आठ श्लोकों में जैसे उनके स्वरूप के दर्शन करने जैसे धर्मों को (देखें श्री.भा.११/११/३४) भिन्न रूप से कहा है, वैसे ही वैदिकी-तांत्रिकी दीक्षा भी (देखें श्री.भा. ११/११/३७) भिन्न रूप से कही है। ऐसी दीक्षा हमारे इस पुष्टिभक्तिमार्ग में नहीं है। क्योंकि हमारे मार्ग में तो केवल शुद्धभक्ति का ही उपदेश किया गया है। इसी प्रकार दास्यभाव से आत्मनिवेदन करना भी यहाँ (देखें श्री.भा. ११/११/३५) उपर्युक्त प्रकार से कहा गया है। वह प्रकार भी पुष्टिमार्ग से भिन्नतया कहा होने के कारण यहाँ विवक्षित नहीं है। इसका कारण यह है कि, वहाँ तो जैसा अधिकार था, उसे वैसा उपदेश कर दिया गया है। और इन्हीं आठ श्लोकों के पश्चात् "सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गाय, वैष्णव, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, आत्मा और समस्त प्राणी मेरी पूजा के स्थान हैं (श्री.भा.११/११/४२)" इत्यादि वाक्यों से पूजा के ग्यारह स्थान निर्दिष्ट हुए हैं। और इसी अध्याय की समाप्ति में "इस प्रकार जो मनुष्य पवित्र कर्मों से मेरा यजन करता है, उसे मेरी श्रेष्ठ-भक्ति प्राप्त हो जाती है एवं साधुसेवा से मेरे स्वरूप का ज्ञान (श्री.भा.११/११/४७)" इस वाक्य में ऐसा आचरण करने पर 'भक्ति की प्राप्ति' एवं 'भगवद्-स्मरण का ज्ञान' यह दो फल कहे हैं। इतने विवेचनों से यह सिद्ध हुआ कि, उपर्युक्त जितने भी वाक्य हैं, वे इस पुष्टिमार्ग के अंतर्गत नहीं आते हैं। वे भक्तिपूरक वाक्य अवश्य हैं तथापि यहाँ कही जाने वाली पुष्टिभक्ति के अंतर्गत नहीं है। और वो इस कारण क्योंकि हमारे इस पुष्टिभक्ति का मुख्य फल तो भगवद्-प्राप्ति ही है। इन श्लोकों के अनुसार तो जीव को 'भक्ति' की प्राप्ति हो रही है एवं प्रभु के स्मरण का ज्ञान मात्र हो रहा है। पु.प्र.म.भे.ग्रंथ के 'भगवानेव हि फलं' वाक्यानुसार भगवद्-प्राप्ति नहीं हो रही है। उक्त वाक्य 'अपि दीपावलोकं' भी इन्हीं श्लोकों के अंतर्गत आया है। अतः टीकाकार कह रहे हैं कि, इस वाक्य को पुष्टिभक्ति के अंतर्गत नहीं मानना चाहिए, यह अर्थ है।

विवक्षितो मार्गस्तु 'अथैतत्परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन। सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत्सखे'ति सुगोप्यकथनं प्रतिज्ञाय, ततो द्वादशाध्याये तां भक्तिमुक्त्वा, ततोग्रे षडध्याय्या अन्यदपि तत्प्रश्नानुसारेणोक्त्वा, पश्चादूनविंशे 'आख्याहि विश्वेश्वर विश्वमूर्ते त्वद्भक्तियोगं च महद्विमृग्य'मिति महदभिलषितभक्तिप्रश्ने पुनस्तेन कृते, भगवता 'भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ। पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं पर'मिति द्वादशाध्यायोक्तां भक्तिं परामृश्य, तत्परमकारणत्वेन कथितार्थपुनरावृत्तिं प्रतिज्ञाय, 'श्रद्धा-मृतकथायां मे, इत्यादिभिश्चतुर्भिरुक्त्वा, 'एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्। मयि संजायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोस्यावशिष्यत' इति पञ्चमे पूर्वोक्तभक्तिप्राप्त्या पुरुषार्थसमाप्तिमुक्त्वा, समाप्यते। अतोधिकारभेदात्साधनभेदात्फलभेदाच्च भक्तिमार्गयोर्भेदसिद्धे दत्तापहारबोधकं वाक्यं यत्रोक्तम्, तत्तज्जातीयपरमेव, नैतन्मार्गपरम्, अतो नात्र समर्पितस्य पुनः समर्प्यग्रहणे आज्ञाभङ्गदोषो वाक्यविरोधो वेति बोध्यम्।

इस पुष्टिभक्तिमार्ग की बात तो भगवान ने "हे उद्धव! अब मैं तुम्हें एक अत्यंत गोपनीय परम रहस्य की बात कहूँगा क्योंकि तुम मेरे प्रिय सेवक-हितैषी-सुहृद्-और प्रेमी सखा हो (श्री.भा.११/११/४९)" इस वाक्य से गोपनीय-कथन कहने की प्रतिज्ञा करके तत्पश्चात् द्वादशाध्याय में उस शुद्धपुष्टिभक्ति को कह कर, इसके पश्चात् आगे छह अध्यायों द्वारा उद्धवजी के प्रश्नों के उत्तर में कुछ अन्य उपदेश भी कह कर, उन्नीसवें अध्याय में "हे विश्वेश्वर विश्वमूर्ति! आपका भक्तियोग समझाइये, जिसे बड़े[२] महापुरूष भी ढूँढा करते हैं (श्री.भा.११/१९/८)" इस वाक्य द्वारा उद्धजी ने जब पुनः महदभिलषित-भक्ति का प्रश्न भगवान से किया, तब भगवान ने उद्धवजी को "हे निष्पाप उद्धवजी! भक्तियोग का वर्णन तो मैं तुम्हें पहले ही समझा चुका हूँ, तथापि तुम्हारी इसमें अधिक प्रीति है, अतः मैं तुम्हें फिर से भक्तिप्राप्ति का श्रेष्ठ

साधन बताता हूँ (श्री.भा.११/१९/१९)'' इस वाक्य से भक्ति का परामर्श देकर पूर्व में कही हुई भक्ति को पुनः कहने की प्रतिज्ञा करके उस भक्ति के परम कारण को ''जो मेरी भक्ति प्राप्त करना चाहता हो, वह मेरी अमृतमयी कथा में श्रद्धा रखे (श्री.भा.११/१९/२०)'' इत्यादि चार श्लोकों के द्वारा (देखें श्री.भा.११/१९/२१,२२,२३) उस परमभक्ति का कारण कह कर ''हे उद्धव ! जो मनुष्य इन धर्मों का पालन करते हैं और मेरे प्रति आत्मनिवेदन कर देते हैं, उनमें मेरी भक्ति का उदय हो जाता है और जिसे मेरी भक्ति प्राप्त हो गई उसके लिए और कौन सा पुरुषार्थ प्राप्त होना शेष रह जाता है? (श्री.भा.११/१९/२४)'' इस पाँचवें श्लोक द्वारा उस महद्भिमृग्यभक्ति की प्राप्ति के सामने समस्त पुरुषार्थों की विफलता कह कर समापन किया है। अतः अधिकार-भेद से, साधन भेद से एवं फलभेद से सामान्यभक्ति एवं महद्भिमृग्यभक्ति का भेद सिद्ध हो जाता है। इसलिए 'दत्तापहारवचन' की बात जहाँ कही है, वह सामान्यभक्ति के अंतर्गत ही है, इस शुद्धपुष्टिभक्ति में कही महद्भिमृग्यभक्ति के अंतर्गत नहीं। इस कारण यहाँ भगवान को समर्पित की गई वस्तु को पुन स्वयं ग्रहण करने का दोष अथवा भगवान की आज्ञाभंग होने का विरोधी वाक्य जैसा कुछ भी नहीं है, यह जानना चाहिए।

ननु भवत्वेवं वाक्यविरोधपरिहारादिकम्, तथापि सर्वकार्यादौ सर्ववस्तुसमर्पणमसमर्पितवस्तूनां वर्जनाचरणं च यदुक्तम्, तदशक्योपदेशरूपम्। न हि सर्वाणि कार्याणि पूर्वं ज्ञातुं शक्यन्ते। ज्वरादिपथ्यत्वेन वैद्यैस्तदानीं देयत्वेनोक्तस्य पूर्वं ज्ञातुमशक्यत्वात्। तथा केनचिदाप्तेन सम्बन्धिना वा शिष्येण वा इभ्येन वा सविनयं बलादिना वा स्वगृहे भोजने वस्त्रालङ्कारादेर्वा दाने तत्र तत्कर्तुमशक्यत्वेन असमर्पितवर्जनस्य कर्तुमशक्यत्वात्। तथा सति कथं तत्र स्वधर्मनिर्वाह इत्यत आहुः सेवकानामित्यादि।

चलिए मान लें कि इस प्रकार भागवत वाक्यों में विरोध को आपने दूर कर दिया तथापि समस्य कार्यों को करने से पहले समस्त वस्तुओं का भगवान में समर्पण करना..... एवं असमर्पित वस्तुओं का वर्जन करना ..... इत्यादि जो बातें आपने कहीं, ऐसे उपदेश का पालन करना तो अशक्य ही है; क्योंकि सभी कार्यों को पहले ही से जान लेना तो शक्य नहीं है। जैसे ज्वर होने पर या अस्वस्थता होने पर वैद्य यदि उसी समय पथ्यरूप में किसी वस्तु को लेने का निर्देश करे तो उसे तो पहले से जानना संभव नहीं है? ऐसी परिस्थिति में उसे प्रभु को समर्पण करना संभव भी नहीं है। इसी प्रकार अपना कोई आदरणीय हो, संबंधी हो, शिष्य हो, या कोई अन्य व्यक्ति स्वयं के गृह में हमें भोजन-आदि कराए और विनयपूर्वक या बलपूर्वक कोई वस्त्र या अलंकार हमें दे, तो तब उसे उस समय भगवान को समर्पण करना संभव नहीं होता और ऐसी परिस्थिति में असमर्पित का वर्जन करना भी संभव नहीं होता। ऐसे में स्वधर्म का निर्वाह कैसे हो? इसका समाधान **सेवकानां** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः।

सेवन्ते ये ते सेवकाः सेवकर्तार इति यावत्। यथा लोके तेषां व्यवहारः प्रसिद्धोस्ति, तथा समर्प्यैव कार्यम्। निष्कपटसेवकाः स्वगुरुं वा स्वप्रभुं वा कार्यात् पूर्वं पश्चाद्वा कचित्कालद्वयेपि वा विज्ञापयन्तीति तथा समर्प्य व्यवहारणीयम्। विज्ञापनेपि समर्पणपदप्रयोगस्य साधितत्वात्। किञ्च। गुणसन्निपातरूपो मनोमात्रेन्द्रियासुव्यापारो हि व्यवहारः। स यथा सेवकानां प्रसिध्यति संपद्यते, तथा समर्प्यैव कार्यम्। 'उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शक्यते। अपि निर्मुक्तसङ्गस्य कामरक्तस्य किं पुन'रिति वाक्यात्कामः प्रतिवदितुमशक्यः। तथा च स्वस्य किञ्चिद्वस्तुबुभुक्षोत्पत्तौ प्रभवे विज्ञाप्य, तत्कृत्वा समर्प्य, पश्चाद्भोक्तव्यम्। 'यद्यदिष्टतमं लोके यच्चापि प्रियमात्मनः। तत्तन्निवेदयेन् मह्यं तदानन्त्याय कल्पत'इत्येकादशस्कन्धे सदादृतभक्तिकथने भगवद्वाक्यात्। एवं स्वाशक्त्या सर्वपाककरणाशक्तौ स्वार्थं जातिकुलमर्यादानिर्वाहाय तावन्मात्रपाकं कृत्वा समर्पणेपि न दोषः। लोकव्यवहारस्य तथैव सिद्धेः।

'सेवक' कौन होते हैं? इसे समझें। जो सेवा करते हैं, वे 'सेवक' हैं या सेवाकर्ता हैं। ऐसे सेवकों का लोक में जिस प्रकार का व्यवहार प्रसिद्ध है, उसी प्रकार प्रभु को सभी कुछ समर्प कर ही समस्त कार्य करने चाहिए। जो निष्कपट सेवक होते हैं, वे स्वयं के गुरू को अथवा स्वयं के प्रभु को कार्य करने से पहले या बाद में अथवा तो दोनों ही समय ज्ञापित करते हैं एवं तत्पश्चात् उन्हें समर्प कर ही समस्त व्यवहार करते हैं क्योंकि ज्ञापित करने में भी समर्पण सिद्ध हो जाता है। और, (आगे के वाक्य में टीकाकार 'व्यवहार' शब्द का अर्थ कर रहे हैं) मन में, पंचतन्मात्राओं में (रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द), इंद्रियों में, प्राण में गुणों का सन्निपातरूप व्यापार 'व्यवहार' कहलाता है। अर्थात् मन-इंद्रिय आदि में जब गुण समाहित होते हैं एवं उन गुणों के साथ मिलकर ये सभी जब तदनुरूप आचरण करते हैं, तो उसे 'व्यवहार' की संज्ञा दी जाती है, यह अर्थ है। सेवकों का ऐसा व्यवहार जिस प्रकार से अपने स्वामी के प्रति संपादित होता है, उस प्रकार प्रभु को सर्वसमर्पण करके समस्त कार्य करने चाहिए। ''जो भोग स्वतः प्राप्त हो जाय, उसकी अवहेलना विरक्त भी नहीं कर सकते; फिर विषयासक्त की तो बात ही क्या करनी? (श्री.भा.३/२२/१२)'' इस वाक्य से काम का प्रतिरोध करना संभव नहीं है। इस कारण यदि स्वयं को किसी वस्तु को भोग करने की इच्छा उत्पन्न हो, तो सर्वप्रथम उसे प्रभु को ज्ञापित करने के पश्चात् उन्हें समर्प कर, तत्पश्चात् भोग करना चाहिए। यही एकादशस्कंध में जब उद्धव जी ने आदरणीया-भक्ति का परम कारण पूछा तब भगवान ने ''संसार में जो वस्तु स्वयं को सबसे प्रिय, सबसे अभीष्ट जान पड़े,

वह मुझे समर्पित कर दे। ऐसा करने से वह वस्तु अनंत फलदायी हो जाती है (श्री.भा.११/११/४१)'' इत्यादि वाक्यों द्वारा कहा। इसी प्रकार स्वयं की असमर्थता के कारण विवाह-आदि में सिद्ध की गई समस्त सामग्री यदि प्रभु को समर्पण करनी शक्य न भी हो, तो भी जातिकुल की मर्यादा निभाने के लिए केवल स्वयं के लिए अपेक्षित सामग्री सिद्ध करके प्रभु को समर्पण करने में कोई दोष नहीं है। लोकव्यवहार की सिद्धि इसी प्रकार होती है।

एतावान्परं विशेषो यदूनविंशाध्याये भक्तिपरमकारणत्वेनात्मनिवेदिनां ये धर्मा उक्ताः 'श्रद्धामृतकथायां म'इत्यादिना सार्धैश्चतुर्भिः, तत्र सर्वकामविवर्जनस्य भगवदर्थे तद्विरोधिनामर्थभोगसुखानां परित्यागस्य च कथनात्तद्विरुद्धमिदं मुख्यसाधनकक्षां नारोहति, तस्मादेवं कुर्वता 'जुषमाणश्च तान्कामा'निति न्यायेन ग्लानिः स्थाप्या, 'अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरि'रिति च भावनीयम्। अङ्कुश-वज्रयुक्तं चरणं च ध्यातव्यम्। येनायं मनोदोषः सः शीघ्रं निवर्तत इति प्रसङ्गादुक्तम्।

किंतु यहाँ इतना विशेष अवश्य है कि, जो उन्नीसवें अध्याय में 'मेरी अमृतमयी कथा में श्रद्धा रखनी चाहिए (श्री.भा.११/१९/२०)'' इत्यादि साढ़े चार श्लोकों द्वारा आत्मनिवेदितों को भक्ति के परमकारणरूप जो धर्म कहे गये हैं, वहाँ यह भी कहा गया है कि भगवान के लिए समस्त कामनाओं का वर्जन करना (देखें श्री.भा.११/१९/२२) एवं भगवान से विरोधी धन-भोग एवं सुख का परित्याग करना चाहिए (देखें श्री.भा.११/१९/२३) अतः जातिकुल की मर्यादा निभाने के लिए किया जाता इस प्रकार का समर्पण इन वाक्यों के विरूद्ध है अतः ऐसा भक्त/सेवक मुख्यसाधनकक्षा को नहीं चढ़ सकता। इस कारण उपर्युक्त वाक्यों का आचरण करते हुए ''मेरे प्रति श्रद्धालु को चाहिए कि इन कामनाओं को भोग तो ले, किंतु सच्चे हृदय से इन्हें दुःखजनक ही समझे (श्री.भा.११/२०/२८)'' इस वाक्यानुसार हृदय में ग्लानि का अनुभव करते हुए ''अशक्य कार्यों में अथवा सुशक्य कार्यों में-सभी प्रकार से हरि के शरण की ही भावना करनी चाहिए (वि.धै.आ.११)'' इस वाक्य की भावना करे। और भगवान के अंकुश-वज्रयुक्त चरणों का ध्यान भी करना चाहिए। ऐसा करने से ये मन के दोष शीघ्र ही निवारित हो जाते हैं। इतना सब मैंने प्रसंगवश कहा है।

न च समानकर्तृकयोः क्रिययोः पूर्वकाले क्त्वानुशासनादत्र समर्प्येति प्रयोगेण कार्यात्पूर्वकालिकत्वं समर्पणस्य लभ्यत इति कथं पश्चाद्धेत्युच्यत इति शङ्क्यम्। अत्र सेवकीयलोकव्यवहारवद्भगवत्सेवकव्यवहारसिद्ध्यर्थं तथाकरणस्य विधेयत्वेन समर्प्येत्यस्य कार्यविशेषणतामात्रे तात्पर्येण अनूदित तया कालबोधने तात्पर्याभावात्। अन्यथा सर्वादौ समर्पणवाक्येनैव सर्वकार्यपूर्वकाले समर्पणस्य प्राप्तत्वेन तदनुवादवैयर्थ्यप्रसङ्गादिति। अतो न कश्चिद्दोषः। एवं सर्वदोषनिवृत्तिस्वरूपं पुनस्तदनुत्पत्त्युपायं पाश्चात्यसमर्पणक्रियादोषराहि-त्यप्रकारं विरुद्धवाक्यव्यवस्थाया आज्ञानिर्वाहप्रकारं व्यवहारानुरोधेपि दोषासम्भवप्रकारं चोपदिश्य तत्फलमाहुः सर्वेषां ब्रह्मता तत इति। तच्छब्दः पूर्वोक्तं साधनसमूहं परामृशति। तथा च तत उक्तरीत्या ब्रह्मसम्बन्धमारभ्य साधनकरणात्सर्वेषामात्मनिवेदिनां ब्रह्मता दोष-राहित्यं सर्वत्र साम्यं च भवति। 'निर्दोषं हि समं ब्रह्मे'ति ब्रह्मणस्तादृशत्वात् तदाज्ञायामप्रमादात्तथा भवतीति कलिप्रभृतिदोषाणां तेष्व-भावात्तत्कृतसेवायाः प्रभुणाङ्गीकारे सुखेन फलवत्त्वमित्यर्थः॥ ७ १/२ ॥

यहाँ ये शंका करनी भी उचित नहीं है, कि यहाँ मूल कारिका जो 'समर्प्य' पद दिया गया है, उसमें 'कर्ता' और 'क्रिया' दोनों में समानरूप से 'क्त्वा' प्रत्यय जुड़ा हुआ होने से भूतकाल के अर्थ में 'समर्प्य' का प्रयोग हुआ है और इस कारण समस्त कार्यों को पहले ही प्रभु को समर्पण करने की आज्ञा दी गई है, कार्य करने के बाद नहीं। यहाँ टीकाकार 'समर्प्य' शब्द का विवेचन कर रहे हैं। वे कहते हैं कि 'समर्प्य' शब्द में कर्ता और क्रिया दोनों में 'क्त्वा' प्रत्यय जुड़ा हुआ है, जिसका अर्थ होता है 'समर्प कर'। जानना चाहिए कि, 'क्त्वा' प्रत्यय भूतकाल का वाचक है। जैसे 'पीत्वा' अर्थात् पी कर, 'भुक्त्वा' अर्थात् खा कर, 'गत्वा' अर्थात् जा कर, 'त्यक्त्वा' अर्थात् त्याग करके इत्यादि। इन सभी शब्दों में 'क्त्वा' प्रत्यय लगा हुआ है। इसी प्रकार 'समर्प्य' शब्द में भी 'क्त्वा' प्रत्यय लगा हुआ है, जिसका अर्थ होता है 'समर्पित करने के बाद'। इससे टीकाकार यहाँ यह कहना चाह रहे हैं कि आचार्यचरण प्रभु को समर्पण करने के बाद ही स्वयं के उपयोग करने की आज्ञा दे रहे हैं, स्वयं के उपयोग के बाद समर्पण करने की नहीं। किंतु इस कारिका की टीका के आरंभ में कार्य करने के बाद समर्पण करने की भी बात कही गई है तो इसका कारण क्या है? इसे वे आगे स्पष्ट कर रहे हैं। तो उपर्युक्त पंक्तियों में 'अथवा बाद में समर्पण कर लें' यह कैसे कहा गया है? ऐसी शंका करनी उचित नहीं है। क्योंकि यहाँ सेवक लोक में जिस प्रकार से व्यवहार करता है, उसी प्रकार भगवत्सेवक के व्यवहार की सिद्धि के लिए ऐसा करना कहा गया है अतः 'समर्प्य' शब्द को जो 'अथवा बाद में समर्पण कर लें' इस प्रकार से भी कहा गया है, वह किसी विशेष अथवा किसी आपत्तिकाल में कहा गया है, सभी काल में ऐसा करना चाहिए यह तात्पर्य नहीं है। अन्यथा तो छठी कारिका में 'आदौ' शब्द का भी प्रयोग तो हुआ ही है, जिसका अर्थ होता है 'पहले'। (तस्माद्+आदौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम् = इसलिए पहले ही समस्त कार्यों में समस्त वस्तुओं का समर्पण करना चाहिए।) तो इस कारिका में 'पहले ही समर्पण करना चाहिए' इस वाक्य से समस्त कार्यों को पहले ही समर्पण करने का आदेश तो प्राप्त है ही, वह व्यर्थ हो जायेगा अतः यहाँ कोई भी दोष नहीं है। इस प्रकार इन समस्त विवेचनों के द्वारा-समस्त दोषों की निवृत्ति का स्वरूप, पुनः वे उत्पन्न न हों इसके उपाय, बाद में समर्पण करने में दोष का न होना, भक्ति का उपदेश करने वाले वाक्यों में परस्पर होने वाले विरोध के परिहार द्वारा प्रभु-आज्ञा के निर्वाह का प्रकार एवं लोकव्यवहार को निभाने

के लिए यदि मार्ग-आज्ञा गौण कर देनी पड़े तो भी दोष नहीं है- ऐसा प्रकार उपदिष्ट करके इन सबका फल **सर्वेषां ब्रह्मता ततः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ प्रयुक्त हुआ 'ततः' शब्द पूर्व में कहे साधनसमूहों का द्योतक है। टीकाकार 'ततः' शब्द का अर्थ समझा रहे हैं। 'सर्वेषां ब्रह्मता ततः' का अर्थ होता है 'इससे सभी की ब्रह्मता होगी'। यहाँ 'ततः' शब्द अर्थात् 'इससे' के द्वारा टीकाकार कहना चाह रहे हैं कि, उपर्युक्त पंक्तियों में जो दोषों की निवृत्ति का स्वरूप, उनके पुनः न होने के उपाय, पश्चात्-समर्पण का निराकरण, विरोधी वाक्यों का परिहार, लोकव्यवहार को निभाने की रीति आदि के जो उपदेश दिये गये हैं, उससे सभी की ब्रह्मता सिद्ध होगी अतः 'ततः' शब्द इन समस्त साधनों के समूहों का द्योतक मानना चाहिए, यह अर्थ है। इस प्रकार कही गई रीति द्वारा ब्रह्मसंबंध से आरंभ करके इन साधनसमूहों को करने से सभी आत्मनिवेदियों की ब्रह्मता हो जाती है अर्थात् सर्वत्र दोष दूर हो जाते हैं एवं वे समान हो जाते हैं। ''ब्रह्म 'निर्दोष' एवं 'समान' है (भ.गी.५/१९)'' इस वाक्यनुसार ब्रह्म का ऐसा स्वरूप बताया गया होने से भगवान की आज्ञा में प्रमाद न करने से जीव में ब्रह्मता सिद्ध होती है। अतः कलियुग के दोषों का उनमें अभाव होने के कारण उनके द्वारा की गई सेवा प्रभुद्वारा स्वीकार की जाने के कारण सुख से फलप्राप्ति होगी, यह अर्थ है ॥ ७ १/२ ॥

एवं सर्वदोषनिवृत्त्युपायमुपदिश्य, दोषाणां स्वरूपतो विद्यमानत्वे तेषां सेवायामप्रतिबन्धकत्वं न सम्यगवगन्तुं शक्यम्, तथा सत्यविश्वासे संशये वा जघन्याधिकारिणां पुनः सर्वनाशापत्तिरिति तन्निवारणार्थं सिंहावलोकनेन पूर्वं परामृशन्तो दृष्टान्तमुखेन तद्दोषनिवृत्त्यवगमोपायमाहुः गङ्गात्वमित्यादि।

गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना।
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि ॥ ८ १/२ ॥

अत्रागे दार्ष्टान्तिकवाक्ये तद्वदिति पदात्पूर्वस्मिन् वाक्ये यद्वदिति यथेति वाध्याहारः। तथा च गङ्गामिलितानां सर्वदोषाणां रथ्योदकादीनां यथा गङ्गात्वम्, गङ्गाया भूयस्त्वात्। यथा च गङ्गात्वे तदितरगुणदोषयोर्मृद्विशेषस्य च वर्णना न निरूप्या, सर्वेपि हि गङ्गाजलं पीतम्, गङ्गायां स्नातम्, तेन ममायं ज्वरादिर्निवृत्त इत्येव वदन्ति, ज्वराद्यभावं चानुभवन्ति, न तु रथ्योदकादिपानस्नानगुणदोषान्। हि निश्चयेन्। अत्रापि ब्रह्मसम्बन्धकरणेपि उक्तरीत्या भगवदीयत्वस्य, चकाराद्भगवदनुसंधानादेश्च बाहुल्यात् तद्वदेव गङ्गासंपृक्तसर्वदोषवदेव पूर्वोक्तपञ्चविधदोषवर्णना न निरूप्या स्यात्। तथा चैवं तेषां स्वरूपतो विद्यमानत्वे ज्ञायमानत्वे अज्ञायमानत्वे वा गङ्गायां तेषामिवैतेषामपि दोषाणां स्वरूपनाश एवेति जघन्याधिकारिभिरप्येवमवगत्य स्वात्मा संरक्षणीयः। श्रुतौ सूत्रेषु च तत्क्रतुन्यायस्य सिद्धत्वात् सर्वदा सर्वत्र भगवदीयत्वानुसन्धानेन भगवदीयत्वस्यैव सिद्धेरित्यर्थः। इदमत्र प्राचामनुसारेण व्याख्यातम्।

इस प्रकार समस्त दोषों की निवृत्ति का उपाय तो उपदिष्ट कर दिया गया परंतु ये दोष स्वरूपतः तो विद्यमान रहते ही हैं अतः ये सेवा में प्रतिबंध नहीं करेंगे, ऐसा जानना शक्य नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में जघन्याधिकारियों को अविश्वास अथवा संशय होने पर भगवद्-वाक्यों पर अविश्वास करने के कारण उनके सर्वनाश होने की आपत्ति आती है। अतः इस समस्या का निवारण करने के लिए आचार्यचरण सिंहावलोकन-न्याय से सिंह के बारे में कहा जाता है कि, कुछ कदम आगे चलने के पश्चात् वह पीछे की ओर दृष्टि भी करता जाता है। ठीक इसी प्रकार जब कहीं किसी संदर्भ को आगे बढ़ाते समय पिछले संदर्भों का भी संग[२] मनन कर लिया जाय तो उसे 'सिंहावलोकन-न्याय' कहते हैं। पूर्व में कही बातों का विचार करते हुए गंगा के दृष्टांत द्वारा उस दोष की निवृत्ति को जानने का उपाय **गङ्गात्वं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

यहाँ आगे गंगा के दृष्टांत वाले वाक्य में दिए गये **तद्वत्** पद से यह ज्ञात होता है कि, पूर्व के वाक्य में 'यद्वत्'' अथवा 'यथा' शब्द का अध्याहार करना चाहिए। इस पंक्ति का अर्थ भलीभाँति समझने के लिए सर्वप्रथम मूल कारिका का अर्थ समझें। मूल कारिका का अर्थ है कि -(जैसे) सभी प्रकार के दोषयुक्त जलों के गंगामय हो जाने पर उनके गुणदोषों का वर्णन गंगारूप से ही निरूपित होता है, वैसे यहाँ ब्रह्मसंबंध हो जाने पर भी दूषित जीव के गुणदोषों का वर्णन भी ब्रह्मरूप से ही होता है। टीकाकार कह रहे हैं कि, उपर्युक्त पंक्ति में 'तद्वत्' अर्थात् 'वैसे' पद ही दिया गया है परंतु 'यद्वत्' अर्थात् 'जैसे' पद का आगे अध्याहार स्वयं कर लेना चाहिए। और, जैसे गंगा में मिले हुए नाले-गढ्ढे के समस्त दोषों का गंगारूप सिद्ध हो जाता है क्योंकि गंगा विशाल है। एवं जैसे एक बार गंगामय हो जाने के पश्चात् उनके गुणदोष एवं उनमें मिली हुई मिट्टी का वर्णन भिन्नरूप से नहीं होता। इसी प्रकार सभी गंगाजल पीते हैं, गंगा में स्नान करते हैं और 'इस गंगाजल से मेरा ज्वर-आदि निवृत्त हो' ऐसा भी कहते हैं। उन्हें ज्वर दूर होने का अनुभव भी होता है किंतु नाले-गढ्ढे के जल का पान-स्नान या गुणदोषों का उन्हें अनुभव नहीं होता। 'हि' शब्द निश्चित-अर्थ का द्योतक है। **अत्रापि** शब्द का अर्थ है – यहाँ ब्रह्मसंबंध करने पर भी कही गई रीति से भगवदीयता की बहुलता हो जाने के कारण एवं 'चकार' से भगवद्-अनुसंधान की बहुलता हो जाने के कारण गंगा में मिले हुए समस्त दोषों की तरह ही पूर्व में कहे पाँच प्रकार के दोषों का वर्णन निरूपण-योग्य नहीं होता। इस प्रकार भले ही ये स्वरूपतः विद्यमान हों और इनकी जानकारी हो या न भी हो; गंगा में मिले हुए अशुद्ध-जल की भाँति इनका स्वरूपनाश तो हो ही जाता है। अतः जघन्याधिकारियों को यह जानकर अपनी आत्मा की रक्षा करनी चाहिए। श्रुति में एवं सूत्रों में 'तत्क्रतु-न्याय' तो सिद्ध ही है, अतः सर्वदा-सर्वत्र भगवदीयता

का अनुसंधान करने से भगवदीयता की ही सिद्धि होती है, और ये दोष दूर हो जाते हैं, यह अर्थ है। यहाँ तत्क्रतु-न्याय को समझें। जानना चाहिए कि 'यज्ञो वै विष्णुः की उक्त्यनुसार यज्ञ भगवान का स्वरूप है। और भी, 'अहं क्रतुरह (भ.गी.९/१६)' एवं 'अहं हि सर्वयज्ञानाम् (भ.गी.९/२४)' इत्यादि वाक्यानुसार भगवान ही यज्ञ के भोक्ता एवं स्वामी हैं। अतः यज्ञ की प्रक्रिया में चाहे विधि-निषेधों में कुछ भी न्यूनाधिक्यता रह जाय; अनुसंधान तो सर्वत्र भगवान का ही करना चाहिए। इसे 'तत्क्रतु-न्याय' कहते हैं। टीकाकार कह रहे हैं कि, इसी प्रकार निवेदन के बाद सर्वत्र भगवदीयता का ही अनुसंधान करना चाहिए, दोषों की चिंता नहीं करनी चाहिए, यह अर्थ है। इस प्रकार से मैंने प्राचीन आचार्यों द्वारा उक्त कारिका का अर्थ व्याख्यायित किया है।

मम त्वन्यदपि किञ्चिदत्र प्रतिभाति। यदि ह्येतावन्मात्रमेवात्राभिप्रेतं स्यात् तदा 'न मन्तव्याः कथञ्चने'त्येतदुक्त्वा 'गङ्गात्व'मित्यादि वदेयुः। तत्रानुक्त्वा 'सर्वेषां ब्रह्मता तत' इति फलकथनोत्तरं यदुक्तम्, तेन फलबोधकताप्यभिप्रेतेति। तथा चात्र पूर्वं ब्रह्मसम्बन्धेन दोषनिवृत्तिमुक्त्वा, अग्रे भाविदोषासंसर्गार्थं यत्समर्पणं भगवद्धर्मानुरोधिलौकिकव्यवहारानुरोधिभेदेन द्विविधमुक्तम्, तत्राद्यकरणे ब्रह्मतारूपं फलम्, द्वितीयकरणे तु गङ्गासम्पृक्तदोषाणामिवैतद्दोषाणां निवृत्तिमात्रम्। तेन सेवाफलग्रन्थोक्तमध्यमजघन्यफलोपयोगि सेवोपकारकत्वं क्रमेण सिध्यतीति। तेन मार्गान्तरे या दोषनिवृत्तिः साधनान्तरमपेक्षते, सात्र सेवाधिकारसम्पादकसंस्कारस्यानुषङ्गिकं फलमित्यतोऽस्य सिद्धान्तरहस्यत्वमिति च।

एवं प्रभुप्रेरणया विभातं यन्मे तदुक्तं नहि तत्स्वबुद्धया।
अतः स्वदासे करुणां वितन्वन् स एव मत्स्वान्तमलङ्करोतु॥ १॥
यदत्र सदसद्वापि जीवबुद्ध्योदितं कचित्। क्षमन्त्वाचार्यचरणास्तं मे मन्तुं कृपालवः॥
इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमविरचितं
सिद्धान्तरहस्यविवरणं संपूर्णम्।

किंतु मुझे तो यहाँ कुछ अन्य-अर्थ भी प्रतिभासित हो रहा है। क्योंकि आचार्यचरणों को यदि इतना अर्थ ही अभिप्रेत होता तो-'इन दोषों को किसी भी प्रकार से नहीं मानने चाहिए (न मतव्याः कथञ्चन)''-यह कह कर-'गंगारूप हो जाता है (गंगात्वं)' यह तीसरे श्लोक के अंतर्गत ही कह देते। वहाँ न कह कर यहाँ आठवें श्लोक में-''इससे सभी की ब्रह्मता हो जाती है (सर्वेषां ब्रह्मता ततः)''-यह फल कहने के बाद में जो कहा, उससे आचार्यचरणों को इनका फल बताना भी अभिप्रेत है, यह जानना चाहिए। यहाँ यह भी विशेषरूप से जानना चाहिए कि, पहले ब्रह्मसंबंध द्वारा दोषों की निवृत्ति कह कर आगे भविष्य में होनेवाले दोषों का संसर्ग न हो, इसके लिए जो समर्पण कहा गया है, वह दो प्रकार का है। पहले प्रकार के समर्पण में भगवद्-धर्म अथवा सेवक-धर्म को निभाने के लिए समस्त वस्तुओं का उपभोग करने के पहले ही भगवान को समर्पण का आग्रह रखना कहा गया है। दूसरे प्रकार में लोकव्यवहार को निभाने के लिए आपत्तिकाल में स्वयं के उपभोग कर लेने के पश्चात् भी समर्पण कर सकने का विधान किया गया है। इन दोनों प्रकार के समर्पणों में पहले समर्पण द्वारा ब्रह्मतारूप-फल की प्राप्ति होगी एवं दूसरे प्रकार के समर्पण में उन गंगा में मिले हुए दोषों की निवृत्ति की भाँति इन दोषों की निवृत्ति मात्र होगी। इससे यह सिद्ध हुआ कि, ''सेवाफलग्रंथ' में कहे गये मध्यम-जघन्य फलोपयोगिसेवा क्रम से सिद्ध होती है। अतः कुल मिलाकर यह समझना चाहिए कि, अन्य मार्गों में जो दोषनिवृत्ति अन्य साधनों की अपेक्षा रखती है, वह यहाँ भगवद्-सेवा के अधिकार का संपादन करने वाले ब्रह्मसंबंधरूपी-संस्कार का सामान्य फल है। अर्थात् अन्य मार्गों में जो दोषनिवृत्ति के अनेक साधन गिनाए गये हैं, उस दोषनिवृत्ति से यहाँ पुष्टिभक्ति मार्ग में तो केवल भगवद्-सेवा का अधिकार प्राप्त होता है। यह अधिकार प्राप्त होना ही उस दोष-निवृत्ति का सामान्यफल है। मुख्यफल तो उस भगवद्-सेवा का अधिकार प्राप्त करने के पश्चात् भगवद्-सेवा द्वारा भगवद्-प्राप्ति ही है, यह अर्थ है। और इसी कारण इस ग्रंथ का नाम 'सिद्धांतरहस्य' है।

इस प्रकार प्रभुप्रेरणा-द्वारा जैसा मुझे लगा, वैसे मैंने कहा; स्वबुद्धि से नहीं।
अतः अपने दास पर प्रभु करूणा करें एवं वही मेरे अन्तःकरण को अलंकृत करें॥ १॥
यदि मैंने कहीं जीवबुद्धि से सद्-असद् कुछ कह दिया हो तो, कृपालु-आचार्यचरण 'मेरा है' यह जानकर उसे क्षमा करें॥
यह श्रीवल्लभाचार्यचरणों में एकनिष्ठ-पीताम्बरात्मज-पुरूषोत्तम द्वारा विरचित 'सिद्धांतरहस्य' का विवरण संपूर्ण हुआ।

श्रीकृष्णाय नमः।

सिद्धान्तरहस्यम्।

श्रीगिरिधरकृतविवृतिसमेतम्।

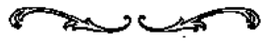

स्वीयजीवानुद्दिधीर्षुः स्वयमाज्ञापयद्धरिः।
साक्षाद्यं तमहं वन्दे श्रीवल्लभविभुं सदा॥ १॥
तदाज्ञानन्तरं श्रीमदाचार्यैर्यन्निरूपितम्।
तद्वचोविवृतिं कर्तुमारभे तत्प्रसादतः॥ २॥

अथ श्रीमद्वृन्दावनचन्द्रः स्वस्य रासादिक्रीडारूपमत्यलौकिकमनुभावं प्रकटयितुमिच्छन् स्वमुखारविन्दाधिष्ठात्रालौकिकाग्निं स्वलीलाक्रान्तसर्वश्रीवल्लभाचार्यरूपेण प्रकटीकृत्य स्वाभिलषितशुद्धपुष्टिमार्गं प्रकटयितुमाज्ञामदात्, ततस्तदाज्ञाया एवार्थं निरूपयन्तः श्रीवल्लभाचार्यचरणाः पद्यबन्धेन तमर्थं सपूर्वपीठिकं निरूपयितुं प्रतिजानते श्रावणस्यामले पक्ष इति।

जिन्हें स्वीयजीवों (दैवीजीव) का उद्धार करने की इच्छा करनेवाले साक्षात् हरि ने स्वयं आज्ञा दी,
उन श्रीवल्लविभु को मैं सदा वंदन करता हूँ॥ १॥
उस आज्ञा के पश्चात् श्रीमदाचार्यों ने जो निरूपित किया, उनकी कृपा द्वारा उन वचनों
की विवृति करने का आरंभ कर रहा हूँ॥ २॥

अथ श्रीमद्-वृंदावनचंद्र प्रभु ने स्वयं के रासादि क्रीड़ारूप का अति-अलौकिक अनुभाव प्रकट करने की इच्छा करते हुए उसे स्वयं के मुखारविंद के अधिष्ठाता अलौकिक-अग्नि, स्वयं की समस्त लीलाओं से युक्त श्रीवल्लभाचार्य के रूप में प्रकट करके उन्हें स्वयं को अभिलषित शुद्धपुष्टिमार्ग प्रकट करने की आज्ञा दी। इसके पश्चात् उस आज्ञा का ही अर्थ निरूपण करते हुए श्रीवल्लभाचार्यचरण पद्यबंधन द्वारा उसी अर्थ को पूर्वपीठिकासहित (प्रभु-आज्ञा के आधार सहित) निरूपण करने के लिए **श्रावणस्यामले पक्षे** इत्यादि शब्दों से प्रतिज्ञा कर रहे हैं।

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते॥ १॥

श्रवणर्क्षस्य विष्णुदैवत्येन तदुपलक्षितमासस्यापि तथात्वमेवास्तीति स्वयमपि सर्वोत्तमं वैष्णवमार्गमेव प्रकटयितुमुद्यत इति च विचिन्त्य तद्देवताक एव मासे भगवानाचार्यानाज्ञापयदिति तस्यैव ग्रहणम्। तस्यामले मलरहिते सर्वदोषविवर्जिते पक्षे शुक्लपक्ष इति यावत्, तस्मिन्। एकादश्यां विष्णुदैवत्यामेव तिथौ। महानिशि अर्धरात्रे पुष्टिमार्गोपदेशान्मर्यादाविरुद्धे स्वभक्तैः सह निःशङ्कतया यो निरवध्यानन्दानुभवस्तदाधारभूते पुष्टिरूपे समये। तदा तादृग्भूतेनैव भगवता साक्षादव्यवधानेन। अथवा। साक्षाद्भगवान्निरावरणपूर्णपुरुषोत्तमस्तेन। प्रकर्षेण परमकृपापूर्वकं यदुक्तं तदक्षरशः प्रत्यक्षरार्थं पूर्वकमुच्यत इत्यर्थः। किञ्च। अत्र श्रावणमासोक्त्या ऋतुरपि वर्षाख्य उक्तो भवति। तस्यायमाशयः। वर्षर्तोः सर्वरसोत्पादकत्वान्निदाघतप्तस्थिरचरतापापहारकत्वादिधर्मवत्त्वादत्रोपदिष्टमार्गस्यापि भगवत्सम्बन्धिसर्वरसोत्पादकत्वं सर्वतापापहारकत्वादिकत्वं च सूचितं भवतीति॥ १॥

श्रवण नक्षत्र के देवता विष्णु होने के कारण उससे उपलक्षित मास भी वैष्णव ही है। अतः स्वयं प्रभु भी सर्वोत्तम वैष्णवमार्ग ही प्रकट करने के लिए तत्पर हुए हैं; यह विचार करके उस विष्णुदेवता के मास में भगवान ने आचार्यचरणों को आज्ञा दी। इस कारण आज्ञा देने के लिए 'श्रावण' मास को ही ग्रहण किया है। इसी प्रकार उस मास के अमले अर्थात् मलरहित/समस्त दोषों से रहित **पक्षे** अर्थात् शुक्लपक्ष में आज्ञा दी। **एकादश्यां** अर्थात् विष्णुदेवता की ही तिथि में। **महानिशि** अर्थात् अर्धरात्रि में समस्त मर्यादाओं से विपरीत पुष्टिमार्ग के उपदेश द्वारा जो निजभक्तों के संग निःशङ्कतया सतत आनंदानुभव है - उसके आधारभूत पुष्टिरूप समय में। तब वैसे ही सतत आनंदरूप भगवान ने साक्षात् अर्थात् व्यवधानरहित होकर आज्ञा दी। अथवा **साक्षाद् भगवान** पद का अर्थ है - किसी भी आवरण के रहित पूर्णपुरुषोत्तम ने प्रकट होकर आज्ञा दी। यहाँ 'साक्षात्' शब्द के गांभीर्य पर ध्यान दें। जानना चाहिए कि, भगवान एवं जीवों के मध्य सतत मायारूपी आवरण रहता है। जिस कारण प्रभु से साक्षात्कार नहीं हो पाता। भगवान गीता में भी नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः (भ०गी० ७/२५) इस वाक्य से यही आज्ञा करते हैं। और तो और, राजभोग होने के पश्चात् या अन्य किसी समय में भी प्रभुदर्शन के मध्य आता 'टेरा' भी मायारूप आवरण ही है, जो प्रभु के दर्शन में व्यवधान पैदा करता है। किंतु यहाँ श्रीमहाप्रभु ने 'साक्षात्' पद देकर यह स्पष्ट किया है कि जब प्रभु ने प्रकट

होकर उन्हें मार्गस्थापन की आज्ञा दी, तब साक्षात् ही प्रकट हुए, उनके मध्य किसी भी प्रकार का आवरण नहीं था। उन्होंने प्रकर्षरूप से परमकृपापूर्वक जो कहा वह **तदक्षरशः** अर्थात् प्रति-अक्षर के अर्थ के विचारपूर्वक कह रहे हैं, यह अर्थ है। और, यहाँ 'श्रावणमास' कहा होने से ऋतु भी 'वर्षाऋतु' कही गई है। उसका आशय यह है कि, वर्षाऋतु सर्वरसोत्पादक होने के कारण एवं तपती धूप से जलते हुए जड़-चेतन पदार्थों के ताप के निवारकधर्मवाली होने के कारण यहाँ इस ऋतु में उपदिष्ट हुआ यह मार्ग भी भगवद्-संबंधी समस्त रसों का उत्पादक है एवं समस्त तापों का निवारक है, यह सूचित होता है॥ १ ॥

एवं पूर्वपीठिकामुक्त्वा भगवदुक्तपदार्थमाहुः ब्रह्मेति।

ब्रह्मसम्बन्धकरणात्सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः॥ २ ॥

अस्मिन्मार्गे यशोदोत्सङ्गलालितश्रीकृष्णस्यैवोपास्यत्वात् तस्य चाज्ञलोके अवतारमात्रभ्रमत्वादत्र तद्व्यावृत्त्यर्थं ब्रह्मपदोपादानम्। अथवा। भगवद्वाक्यार्थकथनाद्वेदे इवात्रापि ब्रह्मपदम्। तथा च तेन ब्रह्मणा सह देहजीवयोर्यः सम्बन्धः स्वमार्गीयनिवेदनेन तदीयत्वसम्पादनलक्षणस्तत्करणात्सर्वेषां दैवजीवमात्राणां सर्वदोषनिवृत्तिर्भवति। सर्वपदेन देहजीवयोस्तद्धर्माणां तत्र तत्सम्बन्धिनां च सर्वेषां सम्बन्धिनां यावन्तो दोषास्तेषां सर्वेषां निवृत्तिर्भवति। लापनिका तु, देहजीवयोर्ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां तद्धर्माणां तत्सम्बन्धिनां च सर्वदोषनिवृत्तिर्भवति। यद्वा। सर्वेषामैहिकामुष्मिकपदार्थमात्राणां देहजीवयोश्च तत्सम्बन्धे सत्येतत्सर्वगतसर्वदोष-निवृत्तिर्भवति। शेषमुभयत्रापि पूर्ववत्। हीति युक्तोयमर्थः। यद्भगवत्सम्बन्ध एव सति सर्वेषां सर्वदोषनिवृत्तिर्भवति, नान्यथापीति।

इस प्रकार पूर्वभूमिका कह कर भगवान द्वारा कहे हुए को **ब्रह्म** इत्यादि वाक्यों से कह रहे हैं।

इस मार्ग में यशोदोत्सङ्गलालित-श्रीकृष्ण ही उपास्य हैं एवं चूँकि इस अज्ञ लोक में उनके मात्र अवतार होने का भ्रम है अतः यहाँ उस भ्रम की निवृत्ति करने के लिए 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग किया गया है। अथवा यों अर्थ कर लें कि चूँकि यहाँ सभी भगवद्-वाक्यों का अर्थ कहा जा रहा है, अतः वेद की भाँति यहाँ भी 'ब्रह्म' पद दिया गया है। जानना चाहिए कि वेदवाक्य वास्तव में भगवद्-वाक्य ही हैं। वेद में भगवान को 'ब्रह्म' शब्द द्वारा ही कहा गया है। इसी प्रकार यहाँ भी भगवद्-वाक्यों का ही अर्थ किया जा रहा है अतः यहाँ भी 'ब्रह्म' शब्द का ही प्रयोग किया गया है, यह अर्थ है। एवं इस 'ब्रह्म' के साथ देह और जीव का जो संबंध है अर्थात् स्वमार्गीय निवेदन द्वारा तदीयत्व का संपादन करने वाला जो लक्षण है, वह करने से **सर्वेषां** अर्थात् समस्त दैवीजीव मात्र के समस्त दोषों की निवृत्ति होती है। यहाँ मूल कारिका में आए 'सर्व' शब्द से यह समझना चाहिए कि देहजीव के, उनके धर्मों के, एवं वहाँ उनके समस्त संबंधियों के जितने दोष हैं, उन सभी की निवृत्ति हो जाती है। इन सभी का तात्पर्य तो यह है कि, देहजीव का ब्रह्मसंबंध करने से सभी के अर्थात् देहजीव के धर्म एवं उनके संबंधियों के समस्त दोषों की निवृत्ति हो जाती है। अथवा यों समझें कि, समस्त लौकिक-अलौकिक पदार्थ मात्र का एवं देहजीव का भगवान से संबंध हो जाने पर इन सभी के समस्त दोषों की निवृत्ति हो जाती है। शेष रह गया 'ब्रह्मसंबंधकरणात्' शब्द का अर्थ यहाँ किए गये 'सर्व' शब्द के दोनों अर्थों में पूर्व की भाँति ही समझना चाहिए। टीकाकार ने उपर 'सर्व' शब्द के दो प्रकार से अर्थ किए हैं। अब वे केवल इतना कह रहे हैं कि शेष बचे 'ब्रह्मसंबंधकरणात्' पद का अर्थ इन दोनों अर्थों में एक समान ही रहेगा। 'हि' शब्द इस अर्थ की युक्तता बताने के लिए है, क्योंकि भगवद्-संबंध होने पर ही सभी के समस्त दोषों की निवृत्ति होती है, अन्यथा नहीं।

ननु अत्र निवेदनशब्दवाच्या किंरूपा भक्तिरुच्यते, दानापरपर्याया वा, काचिदन्यैव वा। तत्र नाद्या, 'विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तर'मित्यादिवचनविरोधात्। नह्येकस्मै देवाय दत्तं वस्तु पुनः तदेवान्यस्मै दातुं शक्यमुचितं वा, तत्र स्वीयत्वाभावात्। स्वीयवस्तुन एव हि दानार्हत्वात्। न द्वितीयः। मानाभावात्। नहि पूर्वोक्तान्निवेदनरूपाद्भिन्नं रूपं कुत्रापि प्रमाणसिद्धमस्ति। अतो विचार्यमाणे तदीयत्वसम्पादनरूपैव सेति पर्यवस्यति। किञ्च। त्वयापि 'यश्चात्मानं निवेदये'दित्यादिस्थलेष्वयमेवार्थोस्य शब्दस्य वक्तव्यः, अर्थान्तरकल्पनाया अनिर्वाहात्। एवं च सति निवेदनाख्यभक्त्या स्वात्मादिसकलपदार्थमात्रस्य भगवदीयत्वसम्पत्तिर्भवतीति निःप्रत्यूहमेवहि। अथ निवेदनस्यावश्यकर्तव्यताकत्वमुक्तमेकादशे। 'दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम्। एवं धर्मैर्मनुष्या-णामुद्धवात्मनिवेदिनाम्। मयि संजायते भक्तिः कोन्योर्थोस्यावशिष्यत' इति। इयं तु भक्तिः प्रेमलक्षणा फलरूपेति बोध्यम्। अन्यच्च तत्रैव। 'मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तधर्मा निवेदितात्मा विचिकित्सितो मे। तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयात्मभूयाय च कल्पते वै' इत्यादिभिः।

यहाँ एक शंका यह होती है कि, यहाँ 'निवेदन' शब्द से कही जानेवाली भक्ति का क्या स्वरूप कहा जा रहा है? क्या वह 'दान' का ही दूसरा नाम है या फिर कोई अन्य ही है? इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि, पहले कहे गये दान का दूसरा पर्याय 'भक्ति' नहीं है क्योंकि तब ''विष्णु को निवेदित अन्न द्वारा अन्य देवताओं का यज्ञ करना चाहिए'' इत्यादि वचनों से उसका विरोध हो जायेगा। एवं निश्चित ही एक देव के लिए दी गई वस्तु पुनः अन्य के लिए देना अशक्य भी है और अनुचित भी। क्योंकि तब वहाँ स्वीयत्व (स्वयं के स्वामित्व)

का अभाव हो जाता है। और, स्वीय-वस्तु ही दान-योग्य होती है। उपर उठाई गई दूसरी शंका के अनुसार भक्ति का ऐसा कोई अन्य स्वरूप भी नहीं है। क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। अर्थात् पूर्व में कहे निवेदनरूप से भिन्न कोई दूसरा भक्ति का स्वरूप कहीं भी प्रमाणसिद्ध नहीं हैं। अतः विचार करने पर भक्ति तदीय का संपादन करने वाली है, यह अर्थ संपन्न होता है। और तुम्हें भी ''जो स्वयं का निवेदन करता है'' इत्यादि वाक्यों के स्थलों पर इस 'भक्ति' शब्द का यही अर्थ कहना चाहिए क्योंकि इसके अलावा दूसरे अर्थ की कल्पना करनी संभव नहीं है। एवं इस प्रकार 'निवेदन' नामक भक्ति द्वारा स्वयं की आत्मा आदि समस्त पदार्थ मात्र में भगवदीयता की संपत्ति सिद्ध हो जाती है अतः यह समस्त व्यवस्था निष्कंटक है, यह जान लीजिए। अब निवेदन की अवश्य-कर्तव्यता एकादशस्कंध में ''पत्नी-पुत्र-घर-प्राण सभी का भगवान में निवेदन करना चाहिए (श्री०भा० ११/३/२८),'' ''हे उद्धव! जो इन धर्मों का पालन करते हैं एवं मेरे प्रति आत्मनिवेदन कर देते हैं, उनकी मुझमें भक्ति उत्पन्न हो जाती है। तब उनके लिए और क्या अवशिष्ट रह जाता है(श्री०भा० ११/१९/२४)'' इस वाक्य से कही गई है। यह भक्ति तो प्रेमलक्षणा एवं फलरूपा जाननी चाहिए। अन्य दूसरी बात भी वहीं एकादशस्कंध में ''जिस समय मनुष्य समस्त कर्मों का परित्याग करके मुझे आत्मसमर्पण कर देता है तो वह मेरे लिए विशेष हो जाता है। मै उसे जीवत्व से छुड़ाकर अमृतरूपी मोक्ष की प्राप्ति करा देता हूँ एवं वह मुझमें मिलकर मेरा स्वरूप हो जाता है (श्री०भा० ११/२९/३४)'' इस वाक्य से कही गई है।

किञ्च। भगवद्भक्तेर्बहुविधत्वेपि श्रवणादिनवविधाया एव मुख्यत्वेन प्रेमलक्षणासाधनत्वेन सर्वत्र प्रसिद्धेर्निवेदनाकरणे तस्या नवविधत्वाभावादपूर्णसाधनरूपायास्तस्या न पूर्णफलजनकत्वं भवतीति तत्करणस्यावश्यकत्वम्। अत एव श्रीमत्प्रभुचरणैरप्युक्तं नवरत्नप्रकाशे 'आत्मनिवेदिनो हि भगवद्भजनार्हाः, नेतर' इति। ननु देहादीनां समर्पणं तेन च शुद्धिरित्यस्तु नाम, युक्तिसहत्वात्। किन्तु जीवात्मादिसमर्पणं, तत्रापि स्वस्यैव समर्पकत्वं, तेन च शुद्धिरिति कथमुपपत्तिप्रमाणाभ्यामुपपद्यत इति चेत्, तत्र वदामः। इत्थम्। यथा वेदोक्तमर्यादामार्गेपि कर्मकाण्डे विरजाहोमे 'जीवात्मा मे विशुद्ध्यन्ताम्। परमात्मा मे शुद्ध्यन्ता'मित्यादिभिर्जीवात्मादीनां शोधनम्, तत्रापि स्वस्यैव कर्तृत्वम्, तेन च शुद्धिरपि भवतीत्यादि विधीयते। ज्ञानकाण्डे तु पुनर्महावाक्येन जीवस्य ब्रह्मैक्यबोधनं तेन च तस्य तदुपपत्तिरित्यपि तैरुच्यते। तथैवास्मिन्नपि मार्गे। तथाहि 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः। न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे'त्यादिवाक्यैर्भगवदीयानामितरशोधनप्रकारनिषेधा'द्यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः। तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्त'मित्यादिभिर्भक्तेर्नवविधायाः शोधकत्वेनोक्तत्वाच्चायमेवात्र शोधनप्रकार इति तथैवात्र निरूपितमिति सर्वमवदातम्। एवं च सति देहजीवयोरित्यत्र जीवपदेनात्मत्वाविशेषात्परमात्मादयोपि संगृह्यन्ते। अतस्तेषामपि समर्पणं भवत्येवेति युक्तमेव। यतः पुरुषोत्तमस्तु लोकवेदातीतः सर्वेश्वरः सर्वोपास्यः सर्वपरश्च। जीवास्तदनतीता अनीश्वरा उपासका अवराश्चेति तस्मिन्नेतेषां समर्पणं युक्तमेवेति सारम्। अथ तत्र दोषाः कियत्प्रकारास्सन्ति इत्याकाङ्क्षायामाहुः दोषाः पञ्चविधा इति। पञ्चप्रकारका दोषाः स्मृताः श्रुतिस्मृत्यादिषु कथिता इत्यर्थः। पाठान्तरे मताः सम्मताः।

और भगवद्-भक्ति विविध प्रकार की होने पर भी श्रवणादि नवधा-भक्ति ही मुख्य है एवं वही प्रेमलक्षणा भक्ति की साधक होने के कारण प्रसिद्ध है। किंतु निवेदन चूँकि नवधा-भक्ति का अंतिम चरण है, अतः निवेदन न करने से नवधा-भक्ति का अभाव हो जाता है एवं अपूर्णसाधनरूप होने के कारण वह पूर्णफल उत्पन्न नहीं कर पाती, इस कारण निवेदन आवश्यक कहा गया है। अतएव श्रीमत्प्रभुचरणों ने भी **नवरत्नप्रकाश** में ''आत्मनिवेदी ही भगवद्-भजन के योग्य हैं, अन्य नहीं (श्रीगुसाईजी की नवरत्न-उत्थानिका)'' यह कहा है। किंतु यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि - भले ही देहादि का भगवान में समर्पण कर देने से उसकी शुद्धि हो जाती हो क्योंकि आपने उपर्युक्त प्रमाण दिये हैं - परंतु इससे जीवात्मा-आदि का समर्पण करने से जीवात्मा की भी शुद्धि हो जाती हो, क्या इसमें कोई प्रमाण है? तो इसका समाधान कह रहे हैं। वह इस प्रकार कि, जिस प्रकार वेद में कहे मर्यादामार्गीय कर्मकांड-विरजाहोम में 'मेरा जीवात्मा विशुद्ध हो', 'मेरा परमात्मा शुद्ध हो', इत्यादि वाक्यों के द्वारा जीव-आत्मा आदि का शोधन किया जाता है, वहाँ भी स्वयं ही किया जाता है एवं उससे शुद्धि भी होती है; इत्यादि विधान हैं। ज्ञानकांड में तो पुनः ('तत्वमसि' इत्यादि) महावाक्य के द्वारा जीव का ब्रह्म से ऐक्य (समानता अथवा एकता) एवं उसी से उस जीव की शुद्धि भी ज्ञानियों द्वारा कही गई है। उसी प्रकार इस मार्ग में भी है। वह इस प्रकार कि, ''इसी कारण जो योगी मेरी भक्ति से युक्त और मेरे चिंतन में मग्न रहता है, उसके लिए ज्ञान-वैराग्य की आवश्यकता नहीं है। उसका कल्याण तो प्रायः मेरी भक्ति के द्वारा ही हो जाता है (श्री०भा० ११/२०/३१)'' इत्यादि वाक्यों द्वारा भगवदीयों को भक्ति से भिन्न शुद्धि का प्रकार निषिद्ध होने के कारण एवं ''उद्धवजी! मेरी परमपावन लीलाकथा के श्रवण-कीर्तन से ज्यों[२] चित्त का मैल धुलता है, त्यों[२] उसे सूक्ष्म वस्तु के दर्शन होने लगते हैं। जैसे अंजन द्वारा नेत्रों का दोष मिटने पर उनमें सूक्ष्म वस्तुओं को देखने की शक्ति आने लगती है (श्री०भा० ११/१४/२६)'' इत्यादि वाक्यों के द्वारा नवधा-भक्ति को शुद्धि का प्रकार कहा गया होने के कारण शुद्धि का यही एक प्रकार है। अतः उसी को यहाँ निरूपित किया गया है, यह सभी कुछ जान लेना चाहिए। ऐसा होने पर यह जानना चाहिए 'देहजीवयोः' पद में 'जीव' पद से - चूँकि आत्मा जीव से भिन्न नहीं है - अतः परमात्मा भी निवेदन प्रक्रिया में गहण किए जा रहे हैं। अतः परमात्मा का भी समर्पण होता ही है, यह युक्त ही है। क्योंकि पुरुषोत्तम तो लोकवेद से

अतीत, सर्वेश्वर, सर्वोपास्य एवं सभी से पर हैं। किंतु जीव उनसे अतीत नहीं है, ईश्वर नहीं है, उपासक है एवं अल्प है। अतः परमात्मा में उन जीवों का समर्पण युक्त ही है, यह सार है। अब वे दोष कितने प्रकार के होते हैं? यह आकांक्षा होने पर **दोषाः पञ्चविधाः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। पाँच प्रकार के **दोषाः स्मृताः** अर्थात् श्रुतिस्मृति आदि में कहे गये हैं, यह अर्थ है। इस दूसरी मूल कारिका में कहीं-कहीं **स्मृताः** के स्थान पर **मताः** पाठ भी माना गया है। ऐसे में मताः का अर्थ 'संमत' ले लेना चाहिए ।

तानेव पञ्चविधान् गणयन्ति सहजा इति ।

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः ।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन ॥ ३ ॥
अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन ।

तत्र देहस्य सहजदोषाः कुण्डगोलकत्वादयः । म्लेच्छत्वचाण्डालत्वादयश्च । जीवस्य तु 'जीवाः स्वभावतो दुष्टा' इति वचनात्तदीयः सहजः स्वभावः स्वतःसिद्धभगवद्वियोगजनितार्त्यादिभगवदानन्दतिरोभावत्वरूपः । यतः श्रुतिस्मृत्यादिषु सर्वोपास्यत्वादिधर्मवत्त्वेन श्रुतस्यापि भगवतो भजनदर्शनादावार्त्यद्यभावः सहजो दोष एव भवति । अथवा । आसुरावेशित्वादिकं च जीवस्य सहजो दोषः इत्यादिमाः । द्वितीयानाहुः देशकालोत्था इति । देशो मगधम्लेच्छादिः, तदुत्थाः, कालः कल्पादिरूपस्तदुत्थाः । देशकालयोः प्रायो बहुस्थले सहभावो दृश्यत इत्यनयोरेकरूपता । द्वितीयप्रकारादारभ्य सर्वे दोषाः देहग्रहणानन्तरमेवोत्पद्यन्त इति ते देहजीवयोः समा एवेति न पृथगुच्यन्ते । तृतीयानाहुः लोकवेदनिरूपिता इति । लोके परजातीयसिद्धान्नभक्षणादिर्दोषत्वेनोच्यते, न परमार्थतः । एवंविधा लोकनिरूपिताः ।

उन्हीं पंचविध दोषों को **सहजा** इन शब्दों से गिन रहे हैं।

देह के सहजदोष कुण्ड-गोलकत्व आदि एवं म्लेच्छत्व-चांडालत्व आदि समझने चाहिए। शास्त्रों में वर्णित है कि जिस स्त्री का पति जीवित हो तथापि यदि परपुरुष से उसे कोई पुत्र उत्पन्न हो तो ऐसे पुत्र को 'कुण्ड' कहते हैं। इसी प्रकार यदि किसी स्त्री का पति मर चुका हो और किसी अन्य पुरुष से उसे कोई पुत्र उत्पन्न हो तो उसे 'गोलक' कहते हैं। इस प्रकार से पैदा होने वाले जन्म से ही दोषयुक्त माने जाते हैं। देखें 'मनुस्मृति ३/१७४'। जीव के सहजदोष तो ''जीव स्वभाव से दुष्ट है (बालबोध/१६)'' इन वचनों से उस तदीय का सहज दुष्ट-स्वभाव तो स्वतः सिद्ध है एवं भगवद्-वियोग से जनित आर्ति-आदि और भगवद्-आनंद तिरोहित हो जाने के कारण वह दुष्ट हो गया है। क्योंकि श्रुति-स्मृति आदि में, 'भगवान सर्वोपास्य है' इत्यादि धर्म सुन लिया गया होने पर भी यदि जीव में भगवान के भजन एवं दर्शन आदि की आर्ति नहीं है तो वह सहज-दोष ही है। अथवा आसुरावेश-आदि भी जीव के सहज दोष हैं, इस प्रकार पंचविध-दोषों में ये प्रथम प्रकार के दोष हैं। द्वितीय प्रकार के दोष **देशकालोत्था** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। मगध-म्लेच्छ आदि देशों में रहने से उत्पन्न हुए दोष, देश के दोष हैं। काल के कल्पादिरूप से उत्पन्न हुए दोष, कालदोष हैं। यहाँ काल के कल्पादि-रूप को विस्तार से समझने के लिए एक उद्धरण प्रस्तुत है।

''सृष्टि जब शुरू हुई और जब खत्म होगी वह सब मिलकर हुआ ब्रह्मा का एक दिन। उस दिन को सौरमान से विभाजित करें तो उसके लगभग चार अरब मानवीय वर्ष हुए। उसके १४ भाग किये गये जिन्हें मन्वन्तर कहा जाता है। ब्रह्मा के दिन का एक पहर बीत चुका है, दूसरा पहर चल रहा है, उसमें से भी आधा पहर बीत चुका है – इस प्रकार ब्रह्मा के डेढ़ प्रहर बीत जाने पर दूसरा प्रहरार्ध जो चल रहा है, हम उसके अन्दर जी रहे हैं। ब्रह्मा के इस दिन को शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा मानकर श्वेतवाराहकल्प कहा गया है। उस कल्प के भी चौदह भागों में से छः भाग याने छः मन्वन्तर बीत चुके हैं। सातवां मन्वन्तर चल रहा जिसे वैवस्वत मन्वन्तर कहते हैं। प्रत्येक मन्वन्तर में ७१ चतुर्युगी होती हैं, प्रत्येक चतुर्युगी ४३ लाख २० हजार वर्षों की होती है। ऐसी २७ चतुर्युगी बीत चुकी है, २८वीं चल रही है। उसमें से भी सत्ययुग, त्रेतायुग और द्वापरयुग बीत चुके हैं, अब कलियुग चल रहा है जो ४ लाख ३२ हजार वर्ष का होता है। उसके चार भागों को चार चरण कहा जाए तो इस समय पहला चरण चल रहा है जो एक लाख आठ हजार वर्षों का है। इसमें से पांच सहस्राब्दियां बीत चुकी हैं याने पचास सदियां चली गईं। इक्यावनवीं चल रही है जिसके ८७ वर्ष बीत चुके हैं, ५०९०वां वर्ष चल रहा है। (भारतीय संस्कृति आधार और परिवेश/प्राचीन वर्षगणनाएँ/पृ.सं. ४४ लेखक : माननीय श्री कलानाथ शास्त्री, से साभार)

देश एवं काल का प्रायः अनेक स्थानों पर सहभाव दिखाई देता है अतः इन दोनों की एकरूपता दर्शायी गई है। टीकाकार यहाँ मूलकारिका में आए 'देशकालोत्था' शब्द का अर्थ बता रहे हैं। वे कह रहे हैं कि देश एवं काल को भिन्न[२] रूप से न कह कर एक संग कहने का अर्थ यह है कि देश एवं काल परस्पर जुड़े हुए हैं। किसी भी देश के संग काल तो स्वाभाविकरूप से जुड़ा हुआ है ही, अतः इन्हें एक संग कह दिया गया है, यह अर्थ है। दूसरे प्रकार के दोषों से आरंभ करके अर्थात् देशकालोत्था से आरंभ करके आगे के समस्त दोष देह-ग्रहण करने के पश्चात ही उत्पन्न होते हैं अतः केवल 'सहजदोष' ही जीव के अंतर्गत आते हैं एवं देशकालोत्था से लेकर स्पर्शजा तक समस्त दोष देह एवं जीव में समान रूप से ही होते हैं अतः उन्हें पृथक रूप से नहीं कहा जा रहा है। तीसरे प्रकार के दोषों को **लोकवेदनिरूपिता** इन शब्दों से कह

रहे हैं। लोक में परजाति के द्वारा सिद्ध किए गये अन्न-आदि का भक्षण करना दोष कहा जाता है। किंतु अलौकिक दृष्टि से यह दोष नहीं माना जाता। टीकाकार के कहे का आशय यह है कि यद्यपि लोक में परजाति के द्वारा सिद्ध किए गये अन्न का भक्षण करना दोष माना जाता है परंतु किसी वैष्णव के लिए अन्य किसी विजातीय वैष्णव के द्वारा सिद्ध किए गये अन्न का भक्षण करना दोष नहीं है। इस प्रकार के अन्न-भक्षण का दोष केवल लोक में ही है, अलौकिक संबंधों में यह दोष नहीं माना जाता। इसी संदर्भ में श्रीगुंसाईंजी और श्रीगोकुलनाथजी की वार्ता भी है, जहाँ श्रीगुंसाईंजी के प्रश्न के उत्तर में श्रीगोकुलनाथजी ने तीन बार 'वैष्णव' का नाम लिया और श्रीगुंसाईंजीने उन्हें मंदिर में प्रवेश की अनुमति दे दी। ऐसा ही प्रसंग चाचा हरिवंशजी की वार्ता में भी है। तदन्तर्गत 'स्त्री की वार्ता', 'भीलनी की वार्ता', 'क्षत्रिय की वार्ता' एवं 'राजपूत की वार्ता' द्रष्टव्य हैं। इस प्रकार ये लोक में निरूपित दोष हैं।

अथवा। स्मृत्याद्युक्ताः लोकनिरूपिताः। वेदनिरूपिताः असंस्कृतत्वादयः, आश्रमभ्रष्टत्वादयश्च। अत एवानयोरेकप्रकारता। स्मृत्यादीनामपि वेदमूलकत्वात्। तुरीयानाहुः संयोगजा इति। संयोगः पतितादिसंसर्गः, नीचसेवकादिकं च। तज्जाः। पञ्चमानाहुः स्पर्शजाश्चेति। स्पर्शजा वातव्याधित्वादयः। अगम्यास्पर्शादयश्च। चकारात् कर्मजा अपि कुष्ठापस्मारादयः। कामक्रोधादयो वा। अथवा लोकवेदनिरूपिता इत्युक्तपञ्चविधानामपि विशेषणम्। पदार्थमात्रस्य लोकवेदनिरूपितत्वात्तद्योगात्। तदा पञ्चमप्रकारकाश्चकारोक्तकर्मजादयः, शेषं प्राग्वत्। एते पञ्चविधा अपि दोषाः पूर्वं तेषु तेषु विद्यमाना अपि निवेदनसमये तदनन्तरं च दैवात् कदाचित्तिष्ठेयुरपि चेत्तथापि कथंचन केनापि प्रकारेण न मन्तव्या न विचारणीया इत्यर्थः।

अथवा स्मृति आदि में कहे गये जो दोष हैं, वे 'लोकनिरूपिताः' हैं। वेद में निरूपित दोष, संस्कारहीनता एव ब्रह्मचर्य-आदि आश्रमों से भ्रष्टता-आदि हैं। अतएव लोक-वेद इन दोनों की समानता कही गई है क्योंकि स्मृति-आदि शास्त्र भी तो वेदमूलक ही हैं। चौथे प्रकार के दोषों को **संयोगजाः** इस शब्द से कह रहे हैं। संयोग का अर्थ है-पतित एवं नीच सेवकों आदि के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले दोष । पाँचवें प्रकार के दोषों को **स्पर्शजाः** इन शब्दों से कह रहे हैं। वात-व्याधि से उत्पन्न होनेवाले दोष स्पर्शजा हैं। एवं जो गमन करने योग्य नहीं, ऐसी स्त्री का स्पर्श हो जाने से उत्पन्न होने वाले दोष स्पर्शजा हैं। यहाँ मूल कारिका में आए 'च' शब्द से कुष्ठ-मिर्गी आदि रोग जो कर्म के द्वारा उत्पन्न होते हैं, वे भी कह दिए गये हैं। या फिर काम-क्रोध आदि दोष भी समझ लेने चाहिए। अथवा यहाँ मूल कारिका में आए लोकवेदनिरूपिताः शब्द को इन पाँचों प्रकार के दोषों का विशेषण मान लेना चाहिए । टीकाकार के अनुसार 'लोकवेदनिरूपिता' शब्द यहाँ मूल कारिका में गिनाए गये पाँचों प्रकार के दोषों का विशेषण माना जा सकता है। ऐसा करने पर इस कारिका का संपूर्ण अर्थ यह बनेगा कि, ये सभी पाँचों प्रकार के दोष लोक-वेद में निरूपित हुए हैं। क्योंकि समस्त पदार्थ लोकवेद में तो निरूपित हुए ही हैं एवं वे इनसे जुड़े हुए भी है। तब, पाँच प्रकार के दोष एवं चकार से कर्मजा-दोष यों अर्थ बनता है। शेष बची पंक्तियों का अर्थ पूर्व की भाँति है। ये पाँच प्रकार के दोष भी पूर्व में उन-उन जीवों में विद्यमान होने पर भी निवेदन के समय एवं निवेदन के पश्चात् भी दैववशात् यदि कदाचित् रहें, तो भी **कथंचन** अर्थात् किसी भी प्रकार से **न मन्तव्या** अर्थात् विचारणीय नहीं हैं, यह अर्थ है।

ननु निवेदनकरणमात्रेण सहसैव सर्वदोषनिवृत्तिः कथं भवति? अथ दृश्यते च न तन्निवृत्तिरिति चेत्, मैवम्। मूल एव न मन्तव्या इत्युक्तत्वात्। स्थिता अपि दोषा दोषत्वेन न गणनीया इत्यभिप्रायेण। एतत्त्वग्रे स्वयमेव विशदयिष्यन्ति गङ्गादृष्टान्तेन। अत्रेदमेव शुद्धिस्वरूपमिति सर्वं सुस्थम्। अत एव 'अपि चेत् सुदुराचारः' 'बाध्यमानोपि मद्भक्तः', 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्ये'त्यादि भगवतोक्तम्। 'किरातहूणान्ध्रे'त्यादि शुकेन। अन्यैरप्यन्यत्र बहुशः। ननु प्रायश्चित्तादिना पूर्वं तान्निवर्त्य पश्चाद्भगवत्सम्बन्धः कुतो न कार्य इति चेत्, तत्राहुः। अन्यथेत्यादि। अन्यथा भगवत्सम्बन्धव्यतिरेकेण सर्वप्रकारकाणां दोषाणां कथञ्चन प्रायश्चित्तादिनापि निवृत्तिर्नैव भवति। एतदेवोक्तं षष्ठे। 'न तथा ह्यघवान् राजन् पूयते तपआदिभिः। यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवये'त्यादिभिः।

यहाँ एक शंका होती है कि मात्र निवेदन करने से सहसा ही समस्त दोषों की निवृत्ति कैसे संभव है? एवं ऐसी कोई उन दोषों की निवृत्ति दिखाई भी नहीं देती? तो कह रहे हैं कि, नहीं, ऐसा नहीं है। क्योंकि मूल में ही 'वे दोष नहीं मानने चाहिए' यह कह दिया गया है। रहे हुए दोष भी दोषतया नहीं गिनने चाहिए, इस अभिप्राय से वे नहीं मानने चाहिए। यही बात तो आगे स्वयं ही गंगादृष्टांत से स्पष्ट करेंगे। यहाँ यह निवेदन ही शुद्धि का स्वरूप है, अतः यह सभी कुछ सुदृढ़ सिद्धांत हैं। इसीलिए ''अतिशय दुराचारी भी (भ०गी० ९/३०)'', ''संसार से बाधित एवं इंद्रियों को न जीत सकने वाला भी मेरा भक्त (श्री०भा० ११/४/१८)'', ''हे पार्थ ! अनन्यभाव से मेरे आश्रित होकर (भ०गी० ९/३२)'' इत्यादि वाक्य भगवान ने कहे हैं। ''किरात-हूण आन्ध्र इत्यादि नीच जातियाँ (श्री०भा० २/४/१८)'' इत्यादि वाक्य श्रीशुकदेव जी ने कहे हैं। अन्यत्र भी अन्यों ने अनेक स्थलों पर उपर्युक्त बात कही है। यहाँ एक शंका यह होती है कि, पहले प्रायश्चित-आदि क्रियाओं द्वारा उन दोषों को निवृत्त करके पश्चात् ही भगवद्-सबंध क्यों नहीं करना चाहिए? तो इस शंका का समाधान **अन्यथा** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। अन्यथा भगवद्-संबध के बिना सर्व प्रकार के दोषों की निवृत्ति किसी भी प्रकार से, प्रायश्चित आदि के द्वारा भी नहीं ही होती। यही बात षष्ठस्कंध में ''हे राजन् ! पापीपुरुष की जैसी शुद्धि भगवान को समर्पण करने से और उनके भक्तों का सेवन करने से होती है, वैसी तपस्या आदि के द्वारा भी नहीं होती (श्री०भा० ६/१/१६)'' इत्यादि वाक्यों से कही है।

ननु स्वस्य निवेदनकरणानन्तरं स्वात्मना सह ये कलत्रपुत्रादयो निवेदिताः, तेषां पुनः पृथक् पृथक् निवेदनं करणीयं न वेत्याशङ्कायां समाधानं निवेदनानन्तरं तस्य स्थितिप्रकारं, प्रसङ्गात् प्राप्तं स्वरूपसेवादिकरणं चेति त्रयमप्याहुः असमर्पितवस्तूनामिति।

असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत् ॥ ४ ॥
निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः।

न समर्पितं वस्तु यैस्ते असमर्पितवस्तवः तेषां वर्जनमाचरेत्। अत्रायमाशयः। यस्मात्स्वात्मना सह कलत्रादीनां निवेदने जातेपि 'सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येक'मिति वाक्यात्तेषामपि भगवत्सम्बन्धे पूर्वसिद्धेपि त एव निवेदिता जाताः, परं न तेषां सम्बन्धिवस्त्वादिकम्, तत्त्वनिवेदितस्थितमितितेऽसमर्पितवस्तवो जाताः। अतस्ते वर्जनीयाः। तादृशास्ते न स्थापनीयाः। किन्तु पृथक्पृथक् तेषां निवेदनं करणीयम्, यथा तेपि समर्पितवस्तवो भवन्तीत्यर्थः।

यहाँ एक यह शंका भी होती है कि, स्वयं का निवेदन करने के पश्चात् स्वयं की आत्मा के संग जो पत्नी-पुत्र आदि निवेदित हुए हैं, उनका पुनः पृथक-पृथक रूप से निवेदन करना या नहीं? अतः एक तो इस आशंका का समाधान, दूसरा निवेदन के पश्चात् उस निवेदी के रहने का प्रकार एवं तीसरी प्रसंग से प्राप्त स्वरूप की सेवा कैसे करनी ? इन तीनों बातों को **असमर्पितवस्तूनां** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

जिन लोगों के द्वारा वस्तु भगवान को समर्पित नहीं हुई हैं, वे असमर्पितवस्तुएँ हैं – उनका वर्जन करना चाहिए। यहाँ इसका आशय यह है कि, चूँकि स्वयं के साथ पत्नी-आदि का निवेदन होने पर भी-''निवेदनकर्ता से संबंधित सभी का भगवान से संबंध होता है परंतु प्रत्येक का पृथकरूप से नहीं (नव./३)''-इस वाक्यानुसार उन पत्नी-पुत्रादि का भगवद्-संबंध पूर्व में सिद्ध होने के कारण वे निवेदित हुए ही हैं किंतु उनसे संबंधित वस्तुएँ नहीं, वे तो अनिवेदित ही रह गई हैं अतः वे असमर्पित-वस्तुएँ हैं। इसी कारण वे वर्जनीय हैं। ऐसी वे असमर्पितवस्तुएँ रखने योग्य नहीं हैं। किंतु उनका पृथक-पृथक निवेदन करना चाहिए जिससे वे निवेदित हो जाएँ, यह अर्थ है।

यद्वा। यस्माद्भगवत्सम्बन्ध एव सति सर्वेषां सर्वदोषनिवृत्तिरतोऽसमर्पितवस्तूनामनिवेदितात्मनामत एव सदोषाणां तेषां वर्जनं तत्सङ्गादिवर्जनमाचरेत्। तादृशां सङ्गादिकं न कुर्यात्। एतदेवोक्तं नवरत्ने। 'निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनै'रिति। द्वितीयमर्थमाहुः असमर्पितेति। यस्मादुपायान्तरैर्न तन्निवृत्तिः, प्रत्युत स्वधर्महानिश्च, तस्मात् सर्वदोषनिवृत्त्यर्थं स्वधर्मसिद्ध्यर्थं भक्तेः परमकाष्ठापन्नदशाप्राप्त्यर्थं च भगवदसमर्पितवस्तुमात्रस्य स्वस्मिन् लौकिकवैदिकस्वकार्यमात्रे च विनियोगो न कार्यः, किन्तु समर्पितस्यैव वस्तुन इत्यर्थः। एतेन निवेदनानन्तरं तस्य भगवत्स्वरूपसेवापि कर्तव्यत्वेन सर्वथा प्राप्ता। अन्यथा प्रतिक्षणं तत्तद्वस्तुसमर्पणासम्भवति।

अथवा यों अर्थ कर लें कि, चूँकि भगवद्-सबंध होने पर ही सभी के समस्त दोषों की निवृत्ति होती है अतः असमर्पित-वस्तुओं का अर्थात् दूषित-अनिवेदियों का त्याग करना चाहिए। यही नवरत्न में 'निवेदन का स्मरण तो तादृशीयों के संग करना चाहिए (नवरत्न /२)' इस वाक्य से कहा गया है। उपर कहे तीन अर्थों में अब दूसरे अर्थ को **असमर्पित** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। चूँकि निवेदन के अतिरिक्त अन्य उपायों द्वारा उन दोषों की निवृत्ति नहीं होती, बल्कि स्वधर्म की हानि और हो जाती है अतः समस्त दोषों की निवृत्ति के लिए, स्वधर्म की सिद्धि के लिए एवं भक्तों की परमकाष्ठापन्नदशा 'परमकाष्ठापन्न' भगवान को कहा जाता है। परम अर्थात् 'श्रेष्ठ'। काष्ठ शब्द भूमि का वाचक है और आपन्न अर्थात् 'व्याप्त'। चूँकि भगवान सभी से श्रेष्ठ हैं एवं वे सर्वत्र व्याप्त हैं अतः उन्हें 'परमकाष्ठापन्न' कहा जाता है। जीव की ऐसे भगवान से ओतप्रोत हो जाने की स्थिति 'परमकाष्ठापन्न-दशा' कहलाती है। की प्राप्ति के लिए भगवद्-असमर्पित वस्तु मात्र का स्वयं में एवं स्वयं के लौकिक वैदिक कार्य मात्र में विनियोग नहीं करना चाहिए किंतु भगवान को समर्पित वस्तुओं का ही विनियोग करना चाहिए। इससे निवेदन के पश्चात् उसे भगवत्स्वरूप सेवा भी सर्वथा कर्तव्यरूप से प्राप्त होती है। अन्यथा यदि भगवत्सेवा कर्तव्यरूप से प्राप्त न हो तो प्रतिक्षण स्वयं के लिए उपयोगी उन-उन वस्तुओं का भगवान में समर्पण करना ही संभव नहीं होता।

तृतीयः। समर्पितकलत्रादिविनियोगे समर्पितवस्तुमात्रविनियोगे च निषेधमुक्त्वा समर्पितस्यैव ग्रहणं वदन्तस्तत्समर्पणे प्रकारमप्यापातत आहुः निवेदिभिरिति। सहेति शेषः। तथाच सद्यःकृतात्मनिवेदनः निवेदिभिः सह चिरात्कृतात्मनिवेदनैः सदभ्यस्तसकलसेवाप्रकारैः सह मिलित्वा तदुक्ततद्दर्शितप्रकारेण समर्प्यैव भगवति निवेद्यैव पश्चात् सर्वं कलत्रादीनां भगवत्सेवादिविनियोगरूपं स्वार्थं च वस्तु विनियोगरूपं अन्यदपि लौकिकं वैदिकं च विवाहयागादिरूपं कार्यमात्रं कुर्यात्। इति स्थितिर्मार्गमर्यादा स्थितिपदेनेयमेव निश्चला भक्तिमार्गमर्यादा, नान्यापीति ज्ञाप्यते। किञ्च। निवेदिभिः सहेतिपदं सर्वं कुर्यादित्यनेनापि लापनीयम्। तथा च पूर्ववस्तुनो भगवति समर्पणे पश्चात्स्वविनियोगसमयेपि तैः सहभावः कार्य इत्यर्थः। एतेन सत्सङ्गदुःसङ्गयोर्विधिनिषेधौ च तस्योक्तौ भवतः।

अब तीसरा अर्थ कह रहे हैं कि निवेदनकर्ता के निवेदन के केवल उससे संबंध मात्र होने के कारण समर्पित हुए पत्नी आदि एवं वस्तुमात्र का स्वयं के लिए निषेध कह कर (टीकाकार ने पूर्व में असमर्पितवस्तूनां का अर्थ - ऐसे व्यक्ति जो प्रभु को समर्पित ग्रहण करके नहीं ले रहे हैं, वे वस्तुएँ हैं - इस प्रकार से व्यक्ति-विशेष को बताया है - अतः यहाँ वे कह रहे हैं कि ऐसे पृथकरूप से निवेदित न हुए एवं केवल उसके संबंधमात्र से समर्पित हुए पत्नी आदि का स्वयं के लिए उपयोग निषिद्ध है) समर्पित का ही ग्रहण करना बताते हुए उस समर्पण का प्रकार भी

निवेदिभिः इन शब्दों से कह रहे हैं। अर्थात् समस्त व्यवहार निवेदितों के संग ही करना चाहिए, यह शेष रह जाता है।

एवं इस प्रकार नये आत्मनिवेदी को समस्त सेवा प्रकारों में भलीभाँति अभ्यस्त पुराने आत्मनिवेदियों के संग मिलकर ..... उनके कहे एवं उनके द्वारा दर्शित प्रकार से समर्प कर ही ..... अर्थात् भगवान में निवेदित कर के ही पश्चात् समस्त पत्नी आदि का भगवत्सेवादि में विनियोगरूप ..... एवं स्वयं के लिए विनियोगरूप अन्य भी जो लौकिक एवं वैदिक विवाह-यज्ञादिरूप कार्यमात्र हों, वे करने चाहिए। **इति स्थितिः** शब्द का अर्थ है कि-यह इस मार्ग की मर्यादा है। 'स्थिति' पद से यह ज्ञापित किया गया है कि यही भक्तिमार्ग की निश्चल मर्यादा है, अन्य नहीं। और 'निवेदिभिः सह' यह पद - सभी कुछ निवेदितों के संग ही करना चाहिए - इस प्रकार के अर्थ का द्योतक है, यह भी विचारणीय है। मूलकारिका में आए 'सर्वं कुर्यात्' इस पद का अर्थ यह है कि, इस प्रकार पहले वस्तुओं का भगवान में समर्पण करने के पश्चात् स्वयं के विनियोग करते समय भी उन निवेदियों के संग सहभाव रखना चाहिए, यह अर्थ है। इस प्रकार जीव को सत्संग की विधि और दुःसंग का निषेध कह दिया गया है।

अथ विस्तीर्णवस्त्रादिके तन्मध्यात् पूर्वं स्वार्थे स्थापयित्वा तदुर्वरितं किञ्चत् स्वल्पे स्वरूपे तावदेवापेक्षितमिति मत्वा तत्समर्पयितुमिच्छेन्नेत्याहुः न मतमिति।

न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम्॥ ५॥
तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्।

देवानामपि देवस्य सर्वनियामकस्य सर्वोपास्यस्य सामिभुक्तसमर्पणं स्वेनान्यैर्वा यद्वस्तुमध्यात् पूर्वमुपभुक्तं भवति तदुर्वरितं वस्तु पश्चाद्भगवति निवेदयितुमिच्छेच्चेत्, तद्भगवतो मतं सम्मतं सिद्धान्तो वा न भवतीत्यर्थः। एवमन्नादिसर्वपदार्थेषु व्यवहर्तव्यम्। पुनरिममेवार्थं स्थूणाखननन्यायेन द्रढयन्त आहुः तस्मादिति। यस्मात्कारणात् प्रकारान्तरेण व्यवहारे कृते, प्राक्कृतदोषाणामनिवृत्तिः, नूतनानां प्रत्युत प्रवृत्तिः, स्वधर्महानिश्च, तस्मादादावेव सर्वकार्येषु तत्तत्कार्यं कर्तुमिच्छन् तत्तदुपयुक्तसर्ववस्तुनः समर्पणं कुर्यात्। एवं च सति नित्यनैमित्तिककार्यमात्रोपयुक्तवस्तुमात्रस्य पूर्वं यथायोग्यप्रकारेण भगवति विनियोगे जाते पश्चात्तदत्तप्रसादत्वेन स्वव्यवहारोपयोगः कर्तव्य इति सिद्धम्।

अब, यदि कोई जीव किसी बड़े वस्त्र में से सर्वप्रथम स्वयं के लिए कोई टुकड़ा निकालकर एवं तब वस्त्र में से बचे हुए छोटे टुकड़े को—'मेरे छोटे स्वरूप वाले श्रीठाकुरजी के लिए तो इतना ही अपेक्षित है'—यह मानकर भगवान को समर्पित करने की इच्छा करे तो **न मतम्** इत्यादि शब्दों से उसका निषेध कह रहे हैं।

यदि कोई देवों के देव को, सर्वनियामक को, सर्वोपास्य को सामिभुक्त का समर्पण अर्थात् जो वस्तु स्वयं के द्वारा या किसी अन्य के द्वारा पूर्व में उपभुक्त है-उससे बची हुई वस्तु का बाद में भगवान को निवेदन करने की इच्छा करे, तो वह भगवान को संमत नहीं है अर्थात् वह सिद्धांतमत नहीं है, यह अर्थ है। इसी प्रकार अन्न-आदि समस्त पदार्थों में व्यवहार करना चाहिए। पुनः इसी अर्थ को स्थूणाखनन-न्याय से दृढ़ करते हुए **तस्माद्** इन शब्दों से कह रहे हैं। स्थूण का अर्थ होता है खूँटा एवं आखनन का अर्थ है हिलाना। यह एक न्याय है जो किसी की दृढ़ता परखने के अर्थ में उपयोग किया जाता है। जिस प्रकार खूँटे को हिला-हिला कर उसकी मजबूती देखी जाती है, उसी प्रकार उपर्युक्त 'निवेदन' के सिद्धांत की मजबूती देखी जा रही है, यह अर्थ है। तस्माद् आदि शब्दों का यह अर्थ है कि उपर कहे गये कारणों से निवेदन करने के अतिरिक्त अन्य प्रकार से व्यवहार करने पर पूर्व में किए हुए दोषों की निवृत्ति नहीं होती उल्टे नये दोषों की ओर प्रवृत्ति और हो जाती है एवं स्वधर्म की हानि होती है अतः स्वयं के उपभोग से पहले ही समस्त कार्यों में उन[३] कार्यों को करने की इच्छा रखनेवालों को उनमें उपयुक्त समस्त वस्तुओं का भगवान में समर्पण करना चाहिए। इस प्रकार नित्य-नैमित्तिक कार्य मात्र में उपयुक्त वस्तु मात्र का पहले यथायोग्य प्रकार से भगवान में विनियोग होने के पश्चात् उनके द्वारा दिए गये को प्रसादरूप से स्वयं के व्यवहार में उपयोग करना चाहिए यह सिद्ध हुआ।

ननु 'अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदित'मिति भगवतैवोक्तत्वात् तन्निवेदनानन्तरं तदेव वस्तु स्वयमुपभुञ्जीतेति कथमुच्येतेति चेत्तत्राहुः दत्तापहारवचनमिति।

दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः॥ ६॥
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।

अत्र वचनं वाक्यमिति स्थलद्वयेप्येकवचनं जात्यभिप्रायेण। तत्र दत्तापहारवचनानि 'त्वयि दीपावलोकं म' इत्यादीनि। तथाचान्यान्यपि सकलं वस्त्रमाल्यादिकं हरेः हरिसम्बन्धि हरये यन्निवेदितं तत्तदनन्तरं न ग्राह्यं, स्वयं न गृह्णीयादेवंबोधकानि अनिवेदितश्राद्धादिबोधकानि च यानि वाक्यानि तानि सर्वाणि भिन्नमार्गपराणि वैधभक्तिमार्गपराणि। पूजाख्यं कर्म तच्छेषतया या भक्तिस्तत्पराणि, न शुद्धभक्तिमार्गपराणि। अत एवंबोधकं वाक्यसहस्रं भिन्नमार्गपरं मतं सम्मतम्।

यहाँ शंका यह होती है कि "मुझे समर्पित किए गये दीपक का प्रकाश भी स्वयं के उपयोग में नहीं लेना चाहिए (श्री०भा० ११/११/

४०)'' यह वाक्य तो भगवान ने ही कहा है, अतः भगवान को निवेदन करने के पश्चात्-वही वस्तु स्वयं उपभोग करनी चाहिए—यह कैसे कह रहे हैं? तो इसका समाधान **दत्तापहारवचनं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ मूल कारिका में आए 'दत्तापहारवचनं' शब्द में वचन शब्द दो स्थानों पर कहा गया होने पर भी जाति के अभिप्राय से एकवचन में प्रयुक्त हुआ है। टीकाकार समझाना चाह रहे हैं कि भगवान को दिए गये को पुनः ग्रहण करने (दत्तापहार) के जो निषेधवचन हैं, वे केवल 'अपि दीपावलोकं मे' इस वाक्य में ही न होकर अन्यत्र 'त्वयि दीपावलोकं मे' इस वाक्य द्वारा भी कहे गये हैं तथापि मूलकारिका में दत्तापहारवचनं में द्विवचन का प्रयोग न होकर एकवचन का प्रयोग किया गया है। टीकाकार कहते हैं कि जाति के अभिप्राय से ऐसा हुआ है। जानना चाहिए कि जाति-अर्थ में एकवचन का भी प्रयोग होता है। उदा. के तौर पर जैसे समझें कि नेत्र दो होते हैं तथापि वे एकवचन में भी कहे जाते हैं। हाथ-पैर दो होने पर भी हाथ या पैर ही कहे जाते हैं क्योंकि वे समान जाति के हैं। यही बात यहाँ 'वचन' शब्द के लिए भी प्रयुक्त होती है। इस प्रकार के निषेधवचन दो स्थानों पर प्राप्त होते हैं परंतु जाति के अभिप्राय से एकवचन का प्रयोग हुआ है, द्विवचन का नहीं। वहाँ दत्तापहार का निषेध करने वाले ''तुम्हारे लिए किया गया दीपक का प्रकाश'' इत्यादि वचन भी हैं। इस प्रकार अन्य भी समस्त वस्त्र-माला आदि **हरेः** अर्थात् हरि से संबंधित अर्थात् हरि को जो निवेदित हैं वे-'हरि के पश्चात् ग्रहण करने योग्य नहीं है', 'स्वयं ग्रहण नहीं करने चाहिए'-इस प्रकार का बोध करानेवाले अथवा ''भगवान को निवेदित न की गई वस्तुओं से श्राद्ध-आदि कार्य करने चाहिए'' इस प्रकार का भी बोध कराने वाले जो-जो वाक्य हैं, वे सभी भिन्नमार्ग परक हैं अर्थात् विधिपूर्वक-भक्तिमार्ग के द्योतक हैं। अर्थात् पूजा-कर्म से शेष रही जो भक्ति है, ये वाक्य उस भक्ति के बोधक हैं, न कि शुद्ध भक्तिमार्ग के। अतः ऐसा बोध कराने वाले हजारों वाक्य भी हों, तो भी वे भिन्नमार्ग के ही हैं, शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग के नहीं।

तत्र पूजायाः कर्मत्वमुक्तमेकादशे 'कर्मयोगं वदत नः पुरुषो येन संस्कृतः। विधूयेहाशु कर्माणि नैष्कर्म्यं विन्दते पर'मिति जनकेन पृष्ट आविर्होत्र उवाच। 'कर्माकर्मविकर्मे'त्यारभ्याग्रे'य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः। विधिनोपचरेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशव'मित्यादिप्रश्नोत्तरैः। अतस्तानि वाक्यानि तादृग्भक्तिपराणि इत्यत्रानवकाशपराहतानि इति सर्वथा नोपक्षेपणीयानीत्यर्थः। अन्यथा 'त्वयोपभुक्तस्रग्गन्ध', 'अम्बरीष नवं वस्त्रम्', 'विष्णोर्निवेदितान्नेन', 'मुकुन्दाशनशेषं तु' इत्यादिवाक्यसहस्राण्यगतिकानि भवेयुः। चिरात् प्रदृश्यमाणप्रागाचार्यचरणपरम्परा अप्यप्रामाणिक्य एव च तिष्ठेरन्। नतु पूर्वोक्तमार्गेषु सङ्कल्पपूर्वकं वैधप्रकारेण निवेद्यत इति भक्तिमार्गे तन्निषेधो युक्त एव।

वहाँ एकादश स्कंध में पूजा का **कर्मत्व कहा गया है। निमि द्वारा** ''अब आप हमें कर्मयोग का उपदेश करिए। जिसके द्वारा शुद्ध होकर मनुष्य शीघ्रातिशीघ्र परम नैष्कर्म्य अर्थात् **कर्तृत्व, कर्म और कर्मफल** की निवृत्ति करने वाला ज्ञान प्राप्त करता है (श्री०भा० ११/३/४१)'' यह पूछने पर आविर्होत्र ने ''कर्म, **अकर्म एवं विकर्म** (श्री०भा० ११/३/४३)'' यहाँ से आरंभ करके '' हे राजन्! जो पुरुष चाहता है कि शीघ्र से शीघ्र मेरे ब्रह्मस्वरूप एवं आत्मा की हृदय-ग्रंथि खुल जाय, उसे चाहिए कि वह वैदिक एवं तांत्रिक दोनों ही पद्धतियों से भगवान की आराधना करे (श्री०भा० ११/३/४७)'' इत्यादि प्रश्नों के उत्तरों द्वारा यही बात कही है। चूँकि ये वाक्य वैदिकी-भक्तिपरक हैं अतः शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग में इनके लिए अवकाश भले ही न हो तथापि सर्वथा उपेक्षणीय तो फिर भी नहीं हैं। अन्यथा यदि इनकी उपेक्षा कर दी जाय तो फिर ''आपके द्वारा उपयुक्त माला, गंध (श्री०भा० ११/६/४६)'', ''हे अंबरीष! नये वस्त्र'', ''विष्णु को निवेदित किए गये अन्न के द्वारा'', ''भगवान-मुकुंद के द्वारा उपभुक्त का बचा हुआ'' इत्यादि हजारों वाक्य भी व्यर्थ सिद्ध हो जायेंगे। प्राचीन काल से प्रदर्शित होती हमारे श्रीमहाप्रभुजी की परंपरा भी अप्रामाणिक ही हो जायेगी। पूर्व में कहे कर्ममार्गों की भाँति शुद्धभक्तिमार्ग में संकल्प लेकर विधिपूर्वक निवेदन नहीं किया जाता अतः 'दत्तापहार' द्वारा कहे गये-'भगवान को निवेदित वस्तु को ग्रहण नहीं करना चाहिए'-इत्यादि वचनों का भक्तिमार्ग में निषेध उचित ही है।

अथैतन्मार्गीयैः केन प्रकारेण भगवद्वस्तुसमर्पणं कार्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः सेवकानामिति।

सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः।

लोके स्वस्मिन् सेवकानां व्यवहारः यथा प्रकर्षेण सिध्यति, तथा तेन प्रकारेण सर्वं समर्प्य सर्वं कार्यमात्रं कार्यं कर्तव्यमित्यर्थः। स व्यवहारो यथा सेवकैस्तु स्वप्रभोरग्रे सेवकभावेनैव सर्वं वस्तुसमर्पणं क्रियते, तथैव स्थीयते च, एवं व्यवहारो लोके प्रसिद्धो भवति। अयं भगवदग्रे सेवकभावेन सर्वं वस्तु समर्प्य तथैव च तिष्ठतीति भगवानप्येनं सेवकत्वेनैव मनुतेऽनुगृह्णाति च। एवंप्रकारकं ज्ञानं यथा सर्वलोकानां भवति, तथा सर्वसमर्पणं कार्यं तथैव स्थेयं च। अत्राप्ययमाशयः। यथा सेवको गृहदासस्तेन स्वीयं वस्तुमात्रं पूर्वमेव स्वप्रभवे सर्वथा निवेद्यते, पश्चात् प्रभुणा स्वप्रसादत्वेन यद्दीयते तेनैव स्वोपभोगः सर्वोपि क्रियत इति सर्वदा सर्वत्र दृश्यते श्रूयते च, तथैवानेनापि भगवदग्रे व्यवहर्तव्यमिति दिक्। समर्पणग्रहणे प्रमाणवाक्यानि तु 'त्वयोपभुक्ते'त्यादीनि पूर्वमेवोक्तानि।

अब शुद्धपुष्टिमार्गीयों को किस प्रकार से भगवान को वस्तु का समर्पण करना चाहिए? यह आकांक्षा होने पर **सेवकानां** इत्यादि शब्दों से

कह रहे हैं। लोक में जिस प्रकार स्वयं के लिए सेवकों का व्यवहार प्रकृष्टरूप से सिद्ध होता है, उसी प्रकार से सभी कुछ भगवान को समर्प कर समस्त कार्य मात्र करने चाहिए। वह व्यवहार-जैसे सेवकों द्वारा स्वयं के स्वामी के सामने सेवकभाव से ही समस्त वस्तु का समर्पण किया जाता है एवं वह सेवकों की ही भाँति रहता है – इस प्रकार से लोक में प्रसिद्ध है; उसी प्रकार यहाँ यह जीव भी भगवान के समक्ष सेवकभाव से समस्त वस्तुओं को समर्प कर वहीं भगवान के पास सेवकभाव से रहता है एवं तब भगवान भी इसे अपने सेवक के रूप से ही मानते हैं और स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार सेवक-स्वामी के व्यवहार का ज्ञान सर्वत्र सभी को होता है, उसी प्रकार सभी कुछ समर्पण करना चाहिए एवं प्रभु का दास बनकर वहीं रहना चाहिए। यहाँ भी आशय यह है कि, जैसे सेवक घर का दास होता है एवं सेवक होने के नाते स्वयं की समस्त वस्तु सभी प्रकार से पहले ही स्वयं के स्वामी को निवेदित करता है पश्चात् स्वामी द्वारा अपने प्रसादरूप से जो दिया जाता है, उससे ही वह स्वयं के लिए उपभोग करता है, ऐसा व्यवहार लोक में सर्वदा एवं सभी स्थानों पर दिखाई और सुनाई देता है, उसी प्रकार इस निवेदित जीव को भी भगवान के समक्ष ऐसा ही व्यवहार करना चाहिए, यह दिशा स्पष्ट हुई। भगवान को समर्पित की गई वस्तु को ग्रहण करने में प्रमाणवाक्य तो 'आपके द्वारा उपभुक्त (श्री०भा०११/६/४६)' इत्यादि श्लोक द्वारा पूर्व में कह ही दिया गया है।

ननु भगवान् पुरुषोत्तमत्वादलौकिक इति तस्मिन् सेवादिकरणमप्यलौकिकप्रकारेणैवोचितमिति स्मृतिपुराणाद्युपदिष्टं सेवाप्रकारमनुक्त्वा लोकरीत्या सेवाकरणोपदेशे को हेतुरिति चेत्। न। अत्रोच्यते। स्मृत्याद्युक्तप्रकारास्तु विधिबोधिता इति तदधीनत्वात् तदधीनस्वरूपपर्यवसायिन एव। अस्मिन् मार्गे तु पुरुषोत्तम एव भजनीय इति। तस्य च 'न रोधयति मां योगो,' 'नाहं वेदै'रित्यादिभिर्विध्यनधीनत्वादत्र वैधप्रकाराणामकिञ्चित्करत्वेन लोकसिद्ध एव सः प्रदर्शित इत्यवधेयम्। तर्ह्यस्यापि मार्गस्य लौकिकत्वं भवतीति चेत्। न। 'लोकवल्लीलाकैवल्य'मित्युक्तेर्लोकवद्दृश्यमानापि सा भगवदीयकृतसेवा वस्तुसमर्पणादिरूपा भगवत्कृततत्स्वीकारतद्भक्ताङ्गीकारादिरूपा चालौकिक्येव। यद्यपि 'न रोधयति मा'मित्यादिभिर्भगवतो विध्यनधीनत्वमात्रं तूक्तमेव, तथापि तादृशसेवाप्रकारो नोक्त इति स प्रकारोत्र प्रदर्शितः। तर्ह्यस्य प्रकारस्यैव स्मृत्याद्यनुक्तत्वादमूलकत्वमिति चेत्। न। 'यदृच्छया तुष्यते हरि'रिति शूद्रवृत्तेरेव भगवत्तोषहेतुत्वमुक्तम्। यतः सा तु न वैधा, मन्त्राद्यधीना वा, तेषां तत्र नाधिकारात्। अत एतत्सर्वं विचार्यैवाचार्यैर्लोककृतसेवादृष्टान्त उक्त इति सर्वमवदातम्।

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, भगवान पुरुषोत्तम होने के कारण अलौकिक हैं, अतः अलौकिक प्रकार से ही उनकी सेवा करनी उचित है। ऐसे में स्मृति-पुराण आदि में उपदिष्ट सेवा-प्रकार न कहकर लोक-रीति से सेवा करने का उपदेश करने में क्या हेतु है? यदि ऐसी शंका हो तो कह रहे हैं कि, नहीं ऐसा नहीं है। स्मृति आदि में कहे गये सेवा-प्रकार तो विधि द्वारा बोध किए गये हैं एवं विधि-अधीन होने के कारण ये समस्त सेवा प्रकार विधि के अधीन जो भगवद्-स्वरूप है, उसी भगवद्-स्वरूप में संपूर्ण होते हैं (अर्थात् मर्यादामार्गीय स्वरूप में) किंतु इस मार्ग में तो पुरुषोत्तम ही भजनीय हैं। एवं वे पुरुषोत्तम ''मुझे योग बाँध नहीं सकता (श्री०भा० ११/१२/१)'', ''मैं न वेदों के द्वारा (भ०गी० ११/५३) इत्यादि वाक्यों द्वारा विधि के अधीन न होने से यहाँ स्मृति पुराणादि में कहे विधिपूर्वक प्रकार कुछ भी नहीं कर सकते हैं और इसी कारण लोक में सिद्ध-प्रकार ही प्रदर्शित किए गये हैं, यह जानना चाहिए। तब क्या यह मार्ग भी लौकिक है? ये प्रश्न होने पर कह रहे हैं कि, नहीं। ''लौकिकपुरुषों की भाँति भगवान का कर्म में प्रवृत्त होना केवल उनकी लीला मात्र है (ब्र०सू० २/१/३३)'' इस उक्ति के द्वारा यह सभी कुछ लौकिक की भाँति दिखाई देता होने पर भी भगवदीय द्वारा की जाने वाली वस्तुसमर्पण रूपवाली सेवा, भगवान द्वारा उसको स्वीकार किया जाना एवं उस सेवा से प्रसन्न होकर प्रभु द्वारा भक्त को अंगीकार किया जाना इत्यादि सभी अलौकिक ही है। यद्यपि ''मुझे योग बाँध नहीं सकता (श्री०भा० ११/१२/१)'' इत्यादि वाक्यों द्वारा-'भगवान विधि के अधीन नहीं हैं'-यह तो कहा ही है, तथापि ऐसा सेवा का प्रकार अभी तक कहीं नहीं कहा गया है अतएव वैसा प्रकार यहाँ श्रीमहाप्रभुने प्रदर्शित किया है। फिर भी यदि कोई यहाँ यह शंका करे कि, इस प्रकार की सेवा को स्मृति-आदि पुराणों में तो कहा ही नहीं है अतः यह सेवा-प्रकार आधारहीन है, तो कह रहे हैं कि, नहीं। क्योंकि ''जिस वृत्ति से हरि को संतुष्ट किया जाता है'' इस वाक्य के द्वारा शूद्र की वृत्ति को ही भगवान की प्रसन्नता का हेतु कहा गया है। अतः यहाँ उपदिष्ट की जाती सेवा तो न विधि के अधीन है, न ही मंत्रों के। साक्षात् पुरुषोत्तम की सेवा में विधि या मंत्रों का अधिकार भी नहीं है। अतः यह सभी कुछ विचार कर के ही आचार्यचरणों ने लोक में की जाने वाली सेवा का दृष्टांत कहा है, यह जानना चाहिए।

ननु एवं कृतेग्रे तस्य किं फलं भवतीत्याकाङ्क्षायामाहुः सर्वेषामिति। ततस्तदनन्तरं पूर्वस्मिन् स्थितानां गुणानां दोषाणां च ब्रह्मता। भगवदीयत्वेन भगवद्रूपतैव भवति। भगवदीयानां भगवद्रूपता तु भगवतैवोक्ता 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्,' 'नोद्धवोण्वपि मन्यून' इत्यादि। तथात्वे जाते न तेषु पुनर्दोषत्वं, कदाचिदपि न तिष्ठतीति भावः। यथा कामादयो भगवति निवेदिताश्चेत्तदीया भूत्वा न पुनर्दोषत्वाय कल्पन्ते, किन्तु प्रत्युत सर्वलौकिकफलसाधकत्वायैवेति दिक्। तदुक्तम्। 'न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते' 'कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव वे'त्यादिभिः।

अब प्रश्न यह होता है कि, इस प्रकार लोकरीति से भगवान की सेवा करने से आगे उस जीव को क्या फल प्राप्त होगा? यह आकांक्षा होने पर **सर्वेषां** इन शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ मूल कारिका में **ततः** शब्द का अर्थ है-इस प्रकार सेवक की भाँति व्यवहार करने पर पूर्व में रहे

हुए गुण एवं दोषों की **ब्रह्मता** सिद्ध हो जाती है अर्थात् भगवदीयता हो जाने के कारण भगवद्-रूपता ही हो जाती है। भगवदीयों की भगवद्-रूपता तो भगवान ने ही "जो भक्ति द्वारा मुझे भजते हैं, मैं उनमें हूँ और वे मुझमें (भ०गी०९/२९)", "उद्धव मुझसे अणुमात्र भी कम नहीं है (श्री०भा० ३/४/३१)" इत्यादि वाक्यों से कही है। इस प्रकार भगवदीयता या ब्रह्मता सिद्ध हो जाने पर उन जीवों में पुनः दोषों का आगमन नहीं होता एवं उनमें कभी भी दोष रहते नहीं हैं, यह भाव है। जिस प्रकार काम-आदि दोष यदि भगवान में निवेदित हो जाएँ तो तदीय होकर वे पुनः दोषरूप नहीं होते, किंतु उल्टे वह भगवान में रमा हुआ काम समस्त लौकिकफल साधने के योग्य हो जाता है, यह दिशा स्पष्ट हुई। यही बात "जिन्होंने अपना मन और प्राण मुझे समर्पित कर रखे हैं, उनकी कामनाएँ उन्हें सांसारिक भोगों की ओर ले जाने में समर्थ नहीं होतीं (श्री० भा० १०/२२/२६)", "काम, क्रोध, भय, स्नेह, या सौहार्द (श्री०भा०१०/२९/१५)" इत्यादि वाक्यों से कही गई है।

ननु तथापि दोषाणां ब्रह्मरूपता प्रत्यक्षतया कुत्रापि दृष्टा नेति प्रत्यक्षवादिनां बहिर्मुखानां शङ्कां परिहरन्तो गङ्गादृष्टान्तेन तमेवार्थं प्रत्यक्षं दर्शयन्त आहुः गङ्गात्वमिति।

गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना।
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि॥ ८१/२॥

यथा प्रणालादिकुत्सितस्थानेभ्यो गङ्गायां समागतानां जलानां तद्गतदोषाणां च गङ्गात्वमेव सम्पद्यते, तदनन्तरं या तत्र गुणदोषादिवर्णना, कथनरूपा, सा संयोगानन्तरं तत्र गङ्गात्वे जाते निरूप्या कथनीया न स्यात्। अथवा। सा वर्णना यथा तदनन्तरं गङ्गात्वेनैव निरूप्या, कथनीया स्यात्, न कापि दोषत्वेन, तद्वदेवात्रापि भगवति सर्वस्वनिवेदनानन्तरं स्थितानामपि दोषाणां भगवदीयत्वमेवेति ज्ञात्वा तथैव कथनीयं करणीयं च, नान्यथा कथमपीति निगर्वः।

इति श्रीविट्ठलनाथचरणैकतानगिरिधरकृतौ सिद्धान्तरहस्यविवृतिः समाप्ता।

यहाँ यदि कोई पूर्वपक्षी यह शंका करे कि, भले ही इतने सारे प्रमाणवाक्य उपलब्ध हों तथापि इन समस्त दोषों की ब्रह्मरूपता कहीं भी प्रत्यक्षरूप से तो दिखाई नहीं देती? तो ऐसे प्रत्यक्षवादी-बहिर्मुखों की शंका का परिहार करते हुए गंगा के दृष्टांत द्वारा उसी अर्थ को प्रत्यक्ष दिखाते हुए **गङ्गात्वं** इन शब्दों से कह रहे हैं।

जिस प्रकार नाली जैसे गंदे स्थान से गंगा में आने वाले जल में एवं उसके दोषों में गंगात्व ही संपादित हो जाता है एवं इसके पश्चात् उस जल के गुणदोषादि का वर्णन गंगा से संयोग हो जाने के पश्चात् एवं गंगामय हो जाने के कारण **न निरूप्या** अर्थात् कहने योग्य नहीं होता, अथवा उन जलों का वर्णन जिस प्रकार गंगा से मिलने के पश्चात् गंगारूप से ही निरूपित किया जाता है, किसी दोषरूप से नहीं, उसी प्रकार यहाँ भी भगवान में सर्वस्व निवेदन कर देने के पश्चात् जीव में रहे हुए दोष भी भगवदीय ही हो जाते हैं, यह जानकर वे दोष भी तब भगवदीय रूप से ही कहने योग्य हैं एवं उसी प्रकार से व्यवहार करने योग्य हैं, अन्यथा किसी भी प्रकार से नहीं, यह सार है।

यह श्रीविट्ठलनाथचरणों में एकनिष्ठ 'गिरिधर' द्वारा की गई सिद्धांतरहस्य की विवृति समाप्त हुई।

श्रीकृष्णाय नमः।

सिद्धान्तरहस्यम्।

दीक्षितश्रीलालूभट्टकृतटीकासमेतम्।

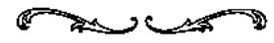

श्रीमद्गोपनितम्बिनीमणिनिजप्राणप्रियानिर्मित-
क्रीडाम्भोनिधिरासमण्डललसद्राकावधूनायकम्।
कोटीन्दुद्युतिवन्दितं स्मरमनोहारित्विषानन्दितम्
वन्दे वेदशिरःसमीडितगुणं गोवर्धनेशं प्रभुम्॥ १॥
जयन्ति वल्लभाचार्यविट्ठलेशाङ्घ्रिरेणवः।
कुशलाः स्वीकृतस्वान्तमोहध्वान्तनिवारणे॥ २॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः पुष्टिमार्गीयजीवानां पुष्टिमार्गेङ्गीकारं चिकीर्षवः साक्षात् पुष्टिपुरुषोत्तममुखसरसीरुहोद्गतानि वाक्यानि स्वमात्रविषयीभूतानि भगवत्कृपापात्राणां निजोपदेशविषयकश्रद्धाधिक्यसम्पादनार्थं ग्रन्थरूपेण सङ्गतिपूर्वकं निरूपयन्ति श्रावणस्यामले पक्ष इत्यादिना। श्रावणशुक्लैकादश्यामर्धरात्रसमये श्रीमदाचार्यान् प्रति पुष्टिजीवोद्धारार्थं परमकाष्ठापन्नेन परब्रह्मणा श्रीकृष्णेन स्वयमाविर्भूयोपदेशः कृतः। स एवास्मिन् ग्रन्थे सर्वोपि विराजते। स एष प्रत्यहं विमृश्यमानो मार्गपद्धतिं प्रदर्शयत्यतो मयाचार्यवर्यकृपालब्धबोधेन तदर्थो निरूप्यते श्रावणस्येत्यादि।

मणिरूपी श्रीमद्-गोपनितंबिनी-निजप्राणप्रिया(श्रीगोपीजन) से निर्मित
क्रीड़ा के सागररूपी रासमंडल से सुशोभित रात्रिरूपी वधू के नायक;
करोड़ों चंद्रमा की कांति से वंदित, कामदेव के भी मन को हरनेवाली कांति से
युक्त आनंदस्वरूप, वेद-शिरोमणि-पूजनीय गुणों से युक्त श्रीगोवर्धनप्रभु को मैं वंदन करता हूँ॥ १॥
स्वीयजनों के अन्तःकरण के मोहरूपी अंधकार का निवारण करने में कुशल
श्रीवल्लभाचार्य-विट्ठलेश के चरणकमलों की रेणु की जय हो॥ २॥

अथ पुष्टिमार्गीयजीवों को पुष्टिमार्ग में अंगीकार कराने की इच्छा करनेवाले श्रीवल्लभाचार्यचरण ..... साक्षात् पुष्टिपुरुषोत्तम के मुखकमल से केवल स्वयं के लिए निकले हुए वाक्यों को ..... भगवत्कृपापात्रों के लिए स्वयं के उपदेश विषयक श्रद्धा की अधिकता का संपादन करने के लिए ..... ग्रंथरूप से संगतिपूर्वक **श्रावणस्यामले पक्षे** इत्यादि वाक्यों से निरूपित कर रहे हैं। श्रावण-शुक्ल-एकादशी की अर्धरात्रि के समय श्रीमदाचार्यचरणों के समक्ष पुष्टिजीवों का उद्धार करने के लिए ..... परमकाष्ठापन्न-परब्रह्म श्रीकृष्ण ने स्वयं आविर्भूत होकर उपदेश किया। वही उपदेश इस ग्रंथ में सर्वत्र विराज रहा है। वही उपदेश प्रतिदिन विचार करने पर मार्गपद्धति को दर्शाता है, अतः आचार्यवर्य-श्रीमहाप्रभु की कृपा से प्राप्त हुए बोध के द्वारा मैं उस उपदेश का अर्थ **श्रावणस्य** इत्यादि शब्दों के द्वारा निरूपित कर रहा हूँ।

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते॥ १॥

श्रावणस्य वैष्णवत्वात् स गृहीतः। उपदिश्यमानमार्गस्य निर्मलताबोधनाय शुक्लपक्षः। अत एवामले पक्षे इत्यत्रामलपदमुक्तम्। एकादश्या वैष्णवतिथित्वात् सा गृहीता। अर्धरात्रसमयस्य पूर्णपुरुषोत्तमप्राकट्याधिकरणत्वात् तत्समये प्राकट्यम्। 'अथ सर्वगुणोपेत' इत्याद्यष्टभिः सार्धैः श्लोकैः समानसङ्ख्याकाः सार्धा अष्टौ श्लोकाः पूर्णपुरुषोत्तमप्रादुर्भावसूचकाः। साक्षाद्भगवतेति। भगवान् परमकाष्ठापन्नः स्वयमेवाविर्भूयोक्तवान्, न त्वंशेन कलया विभूतिरूपेणावेशरूपेण वेति ज्ञापकं साक्षात्पदम्। अथवा। साक्षात् पदस्य प्रोक्तमित्यनेनान्वयः। तथा च भगवता साक्षादेवोक्तम्, न तु दूतादिद्वारा। न वा स्वप्नादिद्वारेति बोध्यते स्म। अक्षरश इति। भगवदुक्तस्यैकस्याप्यक्षरस्यार्थो न त्यक्त इत्यर्थः।

श्रावणमास चूँकि वैष्णवमास है, अतः वही ग्रहण किया गया है। उपदेश किए जा रहे पुष्टिमार्ग की निर्मलता का बोध कराने के लिए 'शुक्लपक्ष' है। अतएव मूल कारिका में आए **अमले पक्षे** पद में शुक्लपक्ष न कह कर अमलपक्ष कहा है। एकादशी वैष्णवतिथि होने के कारण ग्रहण की गई है। अर्धरात्रि का समय पूर्णपुरुषोत्तम के प्रकट होने का समय है, अतः यहाँ भी उसी समय प्राकट्य हुआ है। "अब समस्त

शुभ गुणों से युक्त समय आया (श्री०भा०१०/३/१)'' इत्यादि श्रीमद्-भागवत में प्रभु के जन्मप्रकरण के संदर्भ में आए साढ़े आठ श्लोकों में जिस प्रकार प्रभु के जन्म की सूचना दी गई है, उसी प्रकार इस ग्रंथ में भी समान संख्यावाले साढ़े आठ श्लोक पूर्णपुरुषोत्तम के प्रादुर्भाव के सूचक हैं। अब **साक्षात् भगवता** इन शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। परमकाष्ठापन्न भगवान ने स्वयं आविर्भूत होकर कहा है, न कि अंशकला द्वारा, न विभूतिरूप से अथवा न ही आवेश रूप से—इस का ज्ञापक 'साक्षात्' पद है। अथवा, दूसरा अर्थ यों कर लें कि 'साक्षात्' पद को भगवता के साथ न जोड़कर 'प्रोक्तं' के साथ जोड़ लें। अब अर्थ यह हुआ कि भगवान ने साक्षात् ही कहा है, न दूत-आदि के द्वारा और न ही स्वप्न-आदि के द्वारा, यह बोधित कर रहे हैं। अब **अक्षरशः** पद की व्याख्या कर रहे हैं। इस पद को कहने का अर्थ यह है कि, श्रीमहाप्रभु ने भगवान द्वारा कहे एक अक्षर का भी अर्थ नहीं छोड़ा है।

अथवा। श्लोकरूपेणैव भगवतोक्तमिति त एव श्लोका ब्रह्मसम्बन्धकरणादित्यारभ्य तद्वदत्रापि चैव हीत्यन्ता अत्र ग्रन्थे धृताः। सङ्गत्यर्थं प्रथमश्लोकः श्रीमदाचार्यैर्विरचित इति ज्ञातव्यम्। इदमत्राकूतम् । तृतीयस्कन्धनिबन्धविवृतौ भगवता प्रोक्तं यद्भगवदीया वदन्ति, तद्भागवतमिति निरूपितम्। अतः साक्षाद्भगवता प्रोक्तमिदमिति भवत्यस्य भागवतत्वम्। तथा च यथा साक्षाद्भगवता चतुःश्लोकीरूपं भागवतं ब्रह्मणे प्रोक्तम्, यथा वा मैत्रेयाय प्रोक्तम्, तस्य भागवतत्वम्, एवं श्रीमदाचार्यान् प्रति साक्षाद्भगवता प्रोक्तमिदमपि भागवतमेवेति ग्रन्थान्तरापेक्षया अस्य वैशिष्ट्यमनुसन्धेयम्। अत एव सिद्धान्तरहस्यमिति नामधेयमेतस्य।

अथवा **अक्षरशः** पद का अर्थ यह भी हो सकता है कि, भगवान ने श्लोकरूप से ही कहा एवं वही श्लोक **ब्रह्मसंबंधकरणात्** यहाँ से आरंभ करके **तद्वदत्रापि चैव हि** यहाँ तक इस ग्रंथ में धारण किए गये हैं। और संगति मिलाने के लिए प्रथमश्लोक आचार्यचरणों ने विरचित किया है, यह जानना चाहिए। यहाँ यह समझना चाहिए कि, तृतीयस्कंधनिबंध की विवृति में श्रीमहाप्रभु ने ''भगवदीय जो कहते हैं-वही भागवत है'' इस प्रकार से निरूपित किया है। अतः जहाँ भगवदीयों द्वारा कहा हुआ ही भागवत होता हो, तो यहाँ 'साक्षात् भगवान ने कहा' इस वाक्य से यह ग्रंथ भागवत सिद्ध हो ही जाता है। एवं जिस प्रकार साक्षात् भगवान ने चतुःश्लोकीरूप भागवत ब्रह्माजी से कहा अथवा जैसे मैत्रेय से कहा एवं भगवान द्वारा कहा जाने से वह भागवत ही है, उसी प्रकार यहाँ भगवान ने श्रीमदाचार्यचरणों के प्रति कहा होने से यह ग्रंथ भी भागवत ही है। अतः अन्य दूसरे ग्रंथों की अपेक्षा इस ग्रंथ की विशिष्टता जान लेनी चाहिए। अतएव इस ग्रंथ का नाम 'सिद्धांतरहस्य' है।

ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः॥ २॥

ब्रह्मसम्बन्धकरणादिति। ब्रह्मणा सह सम्बन्धः स्वस्वामिभावलक्षणो देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणदारागारपुत्रादीनां आत्मनश्च तदीयत्वमिति यावत्। तस्य करणाद्गद्यसहितपञ्चाक्षरनिवेदनमन्त्रस्योपदेशेन स्फुटीकरणादित्यर्थः। यद्यपि जीवानां सहजहरिदासत्वेन स्वस्वामिभावसम्बन्धः सिद्धोस्ति, तथापि संसारदशायां बाहिर्मुख्येन विस्मृतः स एतेनोपदेशेन ह्याविर्भाव्यते। 'क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुधियो पर ईश कुर्युं'रित्यष्टमस्कन्धे विन्ध्यावलिवाक्यात् प्रपञ्चस्य सर्वस्यापि भगवत्क्रीडार्थं निर्मितत्वेन भगवदीयत्वात् प्रपञ्चान्तर्गतदेहादीनामपि भगवदीयत्वं वर्तत एव, तथापि 'स्वाम्यं तु तत्र कुधियो पर ईश कुर्युं'रित्युक्तया कुधीत्वप्रयुक्तो देहादावाहंममाभिमानः, स एतेन सगद्यमन्त्रेण नाश्यते, ततश्च तदीयत्वं स्फुटीभवति। सेयमात्मनिवेदनरूपा भक्तिः सर्वथा संपादनीया। 'दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम्। एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्। मयि संजायते भक्तिः कोन्योर्थोस्यावशिष्यत' इति भगवद्वाक्यात्।

अब **ब्रह्मसंबंधकरणात्** इन शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। ब्रह्म के साथ संबंध-'भगवान स्वयं के स्वामी है'-ऐसे भाव के लक्षण वाला है। एवं वह लक्षण-देह-इंद्रिय-प्राण-अन्तःकरण-पत्नी-घर-पुत्र एवं आत्मा सभी उनके हैं-ऐसा है। ''ब्रह्मसंबंध करने से'' अर्थात्-गद्यमंत्रसहित पञ्चाक्षर-निवेदनमंत्र के उपदेश द्वारा उपर्युक्त लक्षण जीव में स्फुट करने से—यह अर्थ है। यद्यपि सहज रूप से हरि के दास होने के कारण जीवों का प्रभु के प्रति स्वस्वामिभाव सिद्ध ही है, तथापि इस संसारदशा में बहिर्मुखता से जीवों में ऐसे भाव की विस्मृति हो गई है अतः इस ब्रह्मसंबंध के उपदेश द्वारा उसे पुनः प्रकट किया जा रहा है। ''हे प्रभु! आपने अपनी क्रीड़ा के लिए ही इस संपूर्ण जगत की रचना की है। जो कुबुद्धि हैं, वे ही स्वयं को इसका स्वामी मानते हैं (श्री०भा० ८/२२/२०)'' इस अष्टमस्कंध के विन्ध्यावली के वाक्यानुसार समस्त प्रपंच भगवान की क्रीड़ा के लिए निर्मित हुआ होने के कारण एवं इसी कारण वह भगवदीय भी हुआ होने के कारण इस प्रपंच के अंतर्गत आई हुई जीवों की देह-आदि भी भगवदीय ही है तथापि-''जो कुबुद्धि हैं, वे ही स्वयं को इसका स्वामी मानते हैं''-यह भी कहा होने के कारण यह समझना चाहिए कि दुष्ट-बुद्धि के कारण देह-आदि में अहंता एवं ममता का अभिमान पैदा हो जाता है। उसी अहंता-ममता के अभिमान को इस गद्यमंत्र से नष्ट कराया जा रहा है और इसके पश्चात् जीव में तदीयता स्फुट होती है। वही इस मंत्र के द्वारा कही आत्मनिवेदनरूपा भक्ति जीव को स्वयं में सभी प्रकार से संपादन करने योग्य है। क्योंकि यही बात ''पत्नी, पुत्र, घर, प्राण, सभी का भगवान में निवेदन करना चाहिए (श्री०भा० ११/३/२८)'', ''हे उद्धव! जो इन धर्मों का पालन करते हैं एवं मेरे प्रति आत्मनिवेदन कर देते हैं; उनकी मुझमें भक्ति उत्पन्न हो

जाती है। तब उनके लिए और क्या पदार्थ अवशिष्ट रह जाता है। (श्री०भा० ११/१९/२४)'' इस भगवद्-वाक्य द्वारा कही गई है।

सर्वेषां देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिर्हि इति। सर्वेषामिति नात्र वर्णाश्रमादिनियमः, किन्तु प्राणिमात्रस्येदं कर्तव्यमित्यर्थः। 'देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा, भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्यथा वय'मिति सप्तमस्कन्धे प्रह्लादवाक्यात्। 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गति'मिति भगवद्गीतासूक्तत्वात्। 'सर्वेधिकारिणो ह्यत्र विष्णुभक्तौ यथा नृप' इति पुराणान्तरवाक्याच्च। देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिरिति। देहदोषा जीवदोषाश्च निवर्तन्ते, देहजीवयोः समर्पितत्वेन भगवदीयत्वादित्यर्थः। देहपदमिन्द्रियप्राणान्तःकरणोपलक्षकम्। तथा च देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवानां सर्वदोषनिवृत्तिः समर्पितत्वेन भगवदङ्गीकारात्। एतत्तु भगवत्संबन्धे युक्तमेवेति हिशब्दः सूचयति। दोषाः पञ्चविधाः स्मृता इति। स्मृता इति प्रमाणमुक्तम्॥ २॥

अब **सर्वेषां देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिर्हि** इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। 'सर्वेषां' पद से यह जानना चाहिए कि, यहाँ वर्णाश्रम-आदि कोई नियम नहीं है किंतु प्राणिमात्र का यह कर्तव्य है कि उसे ब्रह्मसंबंध करना चाहिए, यह अर्थ है। क्योंकि यही बात ''देव, असुर, मनुष्य, यक्ष या गंधर्व-जो कोई भगवान के चरणकमलों का भजन करता है, वह हमारे समान ही कल्याण का भागी होता है (श्री०भा० ७/७/५०)'' यह सप्तस्कंध में प्रहलादवाक्य द्वारा कही गई है। क्योंकि यही ''हे पार्थ! मेरी शरण होकर तो पापयोनिवाले, स्त्री, वैश्य, और शूद्र भी परम गति को प्राप्त हो जाते हैं (भ०गी० ९/३२)'' इस वाक्य से भगवद्-गीता में कहा गया है एवं यही ''जैसे विष्णुभक्ति में सभी अधिकारी हैं'' इस पुराणवाक्य द्वारा कहा गया है। अब **देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिः** इन शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। ब्रह्मसंबंध करने से देहदोष एवं जीवदोष निवृत्त हो जाते हैं क्योंकि देहजीव भगवान को समर्पित हो जाने के कारण उनमें भगवदीयता आ जाती है, यह अर्थ है। यहाँ 'देह' पद इन्द्रिय-प्राण-अन्तःकरण का उपलक्षक है और इसी कारण देह-इंद्रिय-प्राण-अन्तःकरण-जीव इनके समस्त दोषों की निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि भगवान को समर्पित हो जाने के द्वारा वे भगवान द्वारा स्वीकार कर लिए गये हैं। इस प्रकार से समस्त दोषों की निवृत्ति तो भगवद्-संबंध हो जाने पर युक्त ही है, यह 'हि' शब्द सूचित कर रहा है। यह **दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः** इत्यादि शब्दों की व्याख्या हुई। इस पंक्ति में 'स्मृता' शब्द से प्रमाण कहा है॥ २॥

तान् गणयन्ति सहजा देशकालोत्था इत्यादिना।

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन॥ ३॥

इह सहजदोषदेशोत्थदोषकालोत्थदोषसंयोगजन्यदोषस्पर्शजदोषश्चेति पञ्च दोषाः। लोकवेदनिरूपिता इति तु विशेषणम्। लोकशब्देन स्मृतिपुराणादि ग्राह्यम्। तत्र केचन देहस्य, अपरे तु जीवस्येति विवेचनीयम्। तत्रापि देहदोषाणां जीवेपि सम्बन्धो देहाध्यासात्। ते सर्वेपि दोषा आत्मसमर्पणरूपया भक्त्या निवर्तन्ते। 'तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नश'इति भगवद्वाक्येन भक्तिमात्रस्य सर्वदोषनिवारकत्वात्। पञ्चविधदोषास्तु प्रथमस्कन्धसप्तमाध्याये 'भक्तानामभयंकरात्वमेको दह्यमानानामपवर्गोसि संसृते'रित्यस्य सुबोधिन्यां कर्मजाः कालजाः स्वभावजा मायोद्भवा देशोद्भवाश्चेति पञ्चोक्तास्त एवात्राप्युक्ता इति ज्ञेयम्। तत्र स्वभावजा दोषा इह सहजपदेनोक्ताः। कालजा देशोद्भवाश्च देशकालोत्था इत्यनेन। मायोद्भवास्ते संयोगजपदेन निरूपिताः। अविद्यासंयोगजन्यत्वात्। कर्मजाः स्पर्शजपदेनाभिहिताः। एवं पञ्चविधा दोषाः। तत्र सहजाः स्त्रीत्वशूद्रत्वादयः। तेपि निवेदननाश्याः। 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गति'मिति वाक्यात्। देशदोषा मरुमगधसौराष्ट्रदुष्टदेशस्थित्यादयः। कालदोषाः कलिकालप्रभवाः शरीराशुद्ध्यादयः। एते त्रयो देहदोषाः। अविद्यासंयोगजन्याः संयोगजास्तु भगवद्भजनसद्धर्मबाहिर्मुख्यरूपाः। जीवदोषा एते। स्पर्शजा दुष्टकर्मस्पर्शेनोत्पन्नाः पातित्यादयः। तेषां पञ्चविधानां समर्पणजन्येन स्वस्वामिभावसम्बन्धेन निवृत्तिर्जायते।

उन प्रमाणों को **सहजा देशकालोत्था** इत्यादि शब्दों से गिन रहे हैं।

यहाँ सहजदोष-देशोत्थदोष-कालोत्थदोष-संयोगजन्यदोष-स्पर्शजदोष इस प्रकार से पाँच दोष गिनाए गये हैं। 'लोकवेदनिरूपिता' पद इन समस्त पाँच दोषों का विशेषण है, जिससे अर्थ यह बनता है कि, ये समस्त दोष लोक एवं वेद में निरूपित किए गये हैं। यहाँ प्रयुक्त हुए 'लोक' शब्द से स्मृतिपुराण आदि का अर्थ लेना चाहिए। इसमें कुछ दोष देह के हैं और कुछ जीव के हैं, यह विवेचनीय है। इसमें भी देहाध्यास होने के कारण देह के दोषों का जीव से भी संबंध हो जाता है। ये सभी दोष आत्मसमर्पणरूपा भक्ति से निवृत्त होते हैं। क्योंकि ''उसी प्रकार मेरी भक्ति समस्त पापराशि को पूर्णतया जला देती है (श्री०भा० ११/१४/१९)'' इस भगवद्-वाक्य के द्वारा मात्र भक्ति ही समस्त दोषों की निवारक है। पाँच प्रकार के दोष तो श्रीमद्-भागवत के प्रथमस्कंध के सप्तमाध्याय में ''हे भक्तों को अभय देनेवाले, संसार की धधकती अग्नि में जलनेवाले जीवों को उबारने वाले एक मात्र तुम ही हो (श्री०भा० १/७/२२)'' इस श्लोक की सुबोधिनी में कर्मजाः,

कालजाः, स्वभावजा, मायोद्भवा, देशोद्भवा इस प्रकार से पाँच दोष कहे गये हैं। वे ही यहाँ भी कहे गये हैं, यह जानना चाहिए। वहाँ जो स्वभावजा दोष हैं, वे यहाँ 'सहज' पद से कहे गये हैं। कालजा एवं देशोद्भवा दोष 'देशकालोत्था' पद से कहे गये हैं। जो मायोद्भवा हैं, वे 'संयोगज' पद से कहे गये हैं, क्योंकि ये दोष अविद्या के संयोग से उत्पन्न होते हैं। कर्मजादोष यहाँ 'स्पर्शज' पद से कहे गये हैं। इस प्रकार से ये पाँच प्रकार के दोष हैं। यहाँ 'सहज' दोष का अर्थ है – स्त्रीत्व-शूद्रत्व देहरूप दोष; ये दोष भी भगवान को निवेदन करने से नष्ट हो जाते हैं क्योंकि यही "हे पार्थ! मेरी शरण होकर तो पापयोनिवाले, स्त्री, वैश्य और शूद्र भी परम गति को प्राप्त हो जाते हैं (भा०गी० ९/३२)" इस वाक्य द्वारा कहा गया है। 'देशदोष' का अर्थ है – मरुस्थल-मगध-सौराष्ट्र-या अन्य कोई दुष्टदेश आदि में रहने से जो दोष उत्पन्न होते हों, वे देशदोष हैं। 'कालदोष' का अर्थ है – कलिकाल से प्रभावित हुए शरीर की अशुद्धि-आदि जो दोष हैं, वे कालदोष हैं। ये तीनों अर्थात् सहज-देश-काल – देह के दोष हैं। अविद्या के संयोग के कारण उत्पन्न हुए संयोगजा-दोष तो भगवद्-भजन आदि सात्विकधर्म से बहिर्मुख हो जाने के जैसे हैं। ये जीव के दोष हैं। स्पर्शजा दोष दुष्ट कर्मों के स्पर्श से उत्पन्न हुए पतित आदि दोष हैं। इन पाँच प्रकार के दोषों की निवृत्ति भगवान को किए गये समर्पण से उत्पन्न हुए सेवक-स्वामी भाव के संबंध द्वारा हो जाती है।

तत्र शूद्रत्वादयः सहजदोषाः। मरुमगधादिदुष्टदेशस्थित्यादयो दोषा न सर्वेषाम्। ब्राह्मणाद्युत्तमकुलोत्पन्नेषु सहजदोषाभावात्। मथुरादिशुभदेशवासिषु देशदोषाभावात्। अथवा। देशदोषा अपि सर्वेषां भवन्ति। मथुराद्युत्तमदेशस्थितावपि दुष्टस्वामिकस्थलस्थित्यादि-जन्यापावित्र्यादिरूपदेशदोषाणां तत्रापि सत्त्वात्। न मन्तव्याः कथञ्चनेति। आत्मसमर्पणात् पूर्वं यावन्तो दोषास्ते सर्वेपि समर्पण-नाश्याः, अतो निवेदनानन्तरं ते न मन्तव्याः। निवेदनकार्ये भगवत्सेवनादौ प्रतिबन्धका न भवन्तीत्यर्थः। नहि सूर्यनाश्यं तमः सूर्यप्रकाशे प्रतिबन्धकं भवति। 'निर्गुणो मदपाश्रयः' 'मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृत'मित्यादिवाक्यैर्भगवदीयपदार्थस्य निर्गुणत्वेन समर्पितपदार्थेषु दोषसम्बन्धस्य वक्तुमशक्यत्वात्। दोषाणां तु राजसादिगुणमात्रविषयत्वेन भगवत्सम्बन्धिषु निर्गुणपदार्थेष्वभावात्। एवं निर्दोषत्वे सम्पन्ने तादृशाधिकारिणा किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायां नवरत्नग्रन्थानुसन्धानेन तनुजवित्तजभगवत्सेवैव कर्तव्येति फलति। यतो निवेदितानां पदार्थानामुपयोगो भगवत्सेवयैव भवति। देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणानां दारागारपुत्राप्तवित्तानामात्मना सह भगवत्सेवायामुपयोगः स्फुट एव। एवं सति निवेदनफलं भगवत्सेवा, तत्र निर्दोषता द्वारमिति निष्कर्षः। 'शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदाः। भगवत्सेवने योग्या नान्य इत्यर्थतः फल'मिति प्रथमस्कन्धसुबोधिन्यामुक्तत्वात्॥ ३ ॥

इसमें शूद्रत्व-आदि दोष 'सहज' हैं। मरू-मगध आदि दुष्टदेश में रहने से उत्पन्न हुए दोष सभी में नहीं होते क्योंकि ब्राह्मण-आदि उत्तम कुल में उत्पन्न हुए व्यक्तियों में 'सहज' दोष नहीं होते। मथुरा-आदि शुभ देश में रहने वालों में देशदोष नहीं होता। अथवा यों भी अर्थ कर लें कि, देशदोष सभी में होते हैं। क्योंकि मथुरा आदि उत्तम देशों में रहने पर भी वहाँ के दुष्ट राजा के शासन से उत्पन्न हुए अपवित्रता जैसे देशदोष वहाँ भी होते हैं। अब **न मन्तव्याः कथञ्चन** इन शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। आत्मसमर्पण करने से पूर्व के जितने दोष हैं, वे सभी समर्पण से नष्ट हो जाते हैं, अतः निवेदन के पश्चात् उन्हें नहीं मानने चाहिए। निवेदन करने पर भगवत्सेवा-आदि अलौकिक कार्यों में वे प्रतिबंधक नहीं होते, यह अर्थ है। जैसे सूर्य से नष्ट होने वाला अंधकार कभी भी सूर्यप्रकाश में प्रतिबंधक नहीं हो सकता। क्योंकि "मेरी शरण में रहकर अहंकार के बिना कर्म करने वाला निर्गुण है (श्री.भा. ११/२५/२६)", "सात्विक-राजस-तामस- से विलक्षण मेरे स्वरूप का ज्ञान निर्गुण है (श्री०भा० ११/२५/२४)" इत्यादि वाक्यों द्वारा भगवदीयपदार्थ निगुर्ण होने के कारण भगवान को समर्पित पदार्थों में दोष का संबंध कहना ही संभव नहीं है। क्योंकि दोष तो राजस-तामस-सात्विक इत्यादि मात्र लौकिक-गुणों के विषयक हैं किंतु अलौकिक भगवत्संबंधी निर्गुण पदार्थों में दोष नहीं होते। इस प्रकार निर्दोषता परिपूर्ण होने पर ऐसे अधिकारियों का क्या कर्तव्य है? यह आकांक्षा होने पर नवरत्नग्रंथ कहे उपदेश का अनुसंधान करने से 'तनुजवित्तज-भगवत्सेवा ही कर्तव्य है' यह फलित होता है। क्योंकि निवेदित पदार्थों का उपयोग भगवत्सेवा के द्वारा ही किया जाता है। और फिर देह-इंद्रिय-प्राण-अन्तकरण-पत्नी-घर -पुत्र-आप्तजन-धन का आत्मा के संग भगवत्सेवा में उपयोग करना तो स्पष्ट ही है। ऐसा होने पर-'निवेदन करने का फल भगवत्सेवा है एवं वही निर्दोषता का द्वार है'-यह निष्कर्ष है। क्योंकि यही "शुद्ध, प्रसन्नचित्त एवं ब्रह्म-विद्या में कुशल पुरुष ही भगवत्सेवा के योग्य होते हैं, अन्य नहीं (सुबो० १/१/३)" इस वाक्य से प्रथमस्कंध की सुबोधिनी में कहा गया है॥ ३ ॥

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन।
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत॥ ४ ॥

अन्यथेति। आत्मसमर्पणं विना कर्मज्ञानयोगादिभिर्न सर्वदोषनिवृत्तिः। इह पूर्वमुक्तेषु पञ्चदोषेषु निखिलदोषाणमन्तर्भाव इति ज्ञापयितुं सर्वपदम्। 'न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तपआदिभिः। यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवये'ति षष्ठस्कन्धवचनात्। यद्यपि प्रायश्चित्तेन दोषनिवृत्तिस्तथापि न सर्वात्मना दोषापहारः। 'कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यत'इति षष्ठस्कन्धे शुकवाक्यात्। एवं ज्ञानेनापि न सर्वथा दोषनाशः। 'नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवये'ति शुकवाक्यात्। भक्त्या तु सकलदोषनिवृत्तिः। 'केचित् केवलया

भक्त्या वासुदेवपरायणाः। अघं धुन्वन्ति कात्स्न्र्येन नीहारमिव गोपति'रिति वाक्ये कात्स्न्र्यपदात् नीहारदृष्टान्ताच्च।

अब **अन्यथा** शब्द की व्याख्या कर रहे हैं। 'अन्यथा' शब्द का अर्थ है कि, आत्मसमर्पण के बिना-कर्म-ज्ञान-योग आदि से भी समस्त दोषों की निवृत्ति नहीं होती। पूर्व में कहे हुए पाँच प्रकार के दोषों में ही अन्य समस्त दोष विहित हैं, यह बताने के लिए यहाँ मूल कारिका में 'सर्व' पद दिया गया है। क्योंकि यही बात 'हे राजन! पापी पुरुष को जैसी शुद्धि भक्ति से होती है, वैसी तपस्या-आदि से भी नहीं होती है (श्री०भा० ६/१/१६)'' इस वाक्य से षष्ठस्कंध में कही गई है। यद्यपि प्रायश्चित से दोषों की निवृत्ति होती है, तथापि सभी प्रकार से दोष दूर नहीं होते। यही षष्ठस्कंध में ''कर्म के द्वारा हो कर्म का निर्बीजनाश नहीं होता (श्री०भा० ६/१/११)'' शुकदेव जी के इस वाक्य द्वारा कहा गया है। इसी प्रकार ज्ञान से भी सर्वथा दोषों का नाश नहीं होता। क्योंकि यही बात ''पापों से मलिन हुआ उनका हृदय प्रायश्चित्तों से शुद्ध नहीं होता किंतु भगवान के चरणों की सेवा से वह शुद्ध हो जाता है (श्री०भा० ६/२/१७)'', इस शुकदेव जी के वाक्य द्वारा कही गई है। किंतु भक्ति से तो समस्त दोषों की निवृत्ति हो जाती है। क्योंकि यह बात ''भगवान के शरणागत भक्त केवल भक्ति के द्वारा अपने सारे पापों को उसी प्रकार भस्म कर देते हैं, जैसे सूर्य कुहरे को (श्री०भा० ६/१/१५)'' इस वाक्य में 'कात्स्न्र्य' ('कात्स्न्र्य' शब्द का अर्थ होता है—संपूर्ण रूप से) पद से एवं 'नीहार' (कुहरा) के दृष्टांत द्वारा कही गई है।

एवं निवेदनात् पूर्वं कृतानां दोषाणां निवेदनेन निवृत्तिमुक्त्वा निवेदनानन्तरं कदाचित् केनचिदनिवेदितपदार्थेन सम्बन्धे बुद्धिभ्रंशादोषोत्पत्तिः सम्भवेदतो दोषाणामनुत्पत्त्यर्थं दोषोत्पादकपदार्थानां हेयत्वमाहुः असमर्पितवस्तूनामिति। भगवदनुपभुक्तान्नवसनस्रग्गन्धादीनामित्यर्थः। यस्मात् असमर्पितस्य सदोषत्वेन तत्सम्बन्धे स्वस्यापि दोषोत्पत्तिः, तस्मादसमार्पितवस्तूनां वर्जनं कर्तव्यमित्यर्थः। अतएव असमर्पितं तथा विष्णोः श्वमांससदृशं भवेत्। शुनोविष्ठासमं चान्नं नीरं तत्सुरया सम'मित्यादिवाक्यैरसमर्पितसम्बन्धे दोषबाहुल्यं गीयते।

इस प्रकार निवेदन करने से पहले किए गये दोषों की निवेदन द्वारा निवृत्ति कहकर निवेदन करने के पश्चात् कदाचित् किसी अनिवेदित पदार्थो से स्वयं का संबंध हो जाने पर बुद्धि बिगड़ने के कारण दोषों की उत्पत्ति फिर संभव हो सकती है, अतः दोष उत्पन्न न हों इसके लिए दोषों के उत्पादक पदार्थों का हेयत्व **असमर्पितवस्तूनां** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ **असमर्पितवस्तूनां** पद का अर्थ—भगवान द्वारा उपभुक्त न हुए ऐसे अन्न-वस्त्र-माला-सुगंध आदि असमर्पित वस्तुएँ हैं, इनका वर्जन करना चाहिए। चूँकि असमर्पित वस्तुएँ दोषरूप होती हैं एवं इनका स्वयं के साथ संबंध हो जाने पर स्वयं में भी दोषों की उत्पत्ति हो जाती है, अतः असमर्पित वस्तुओं का वर्जन करना चाहिए। अतएव ''विष्णु को असमर्पित पदार्थ कुत्ते के मांस बराबर होता है। ऐसा अन्न कुत्ते की विष्ठा के बराबर एवं ऐसा जल मदिरा के समान होता है'' इत्यादि वाक्यों द्वारा असमर्पित पदार्थों से संबंध होने पर दोषों की बहुलता गायी गई है।

एवमसमर्पितवस्तूनां हेयत्वकथनेन तत्सम्बन्धं निराकृत्य दोषानुत्पत्तिप्रकारमुक्त्वा देहादिनिर्वाहार्थं कृतात्मनिवेदिनः प्रेमासक्तिव्यसनसर्वात्मभावान्तभक्तिहेतुभूताधिदैविकीशुद्ध्यर्थं च भक्तिमार्गीयमुपायमाहुः निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति।

निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः।
न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम्॥ ५॥

निवेदनं निवेदः, निवेदो येषामस्ति ते निवेदिनः पदार्थाः अन्नादयः, तैः निवेदिभिः पदार्थैः सर्वं भक्षणादिव्यवहारं कुर्यात्, परन्तु समर्प्यैव कुर्यात्। अत्रेदं आकूतम्। सगद्यपञ्चाक्षरमन्त्रग्रहणावसरे सर्वेपि स्वकीयाः पदार्था देहादयो दारागारादयश्च भूतभविष्यद्वर्तमानकालसम्बन्धिनो निवेदिता ब्रह्मसम्बन्धिनो निर्दुष्टा बभूवुः। अतस्ते सर्वेपि पदार्था निवेदिपदवाच्याः, तेषां पुनः समर्पणं नाम तत्तदवसरे भगवदुपयोगकरणम्, अतो मन्त्रग्रहणावसरे निवेदितानामन्नादीनां भगवदुपयोगं कृत्वा भगवदुपभुक्तशिष्टेन भक्षणादिव्यवहारं कुर्यादिति। तथा च पञ्चाक्षरमन्त्रग्रहणेन स्वकीयपदार्थानां ब्रह्मसम्बन्धः स तु सामान्यतः समर्पणम्। पुनस्तदुपयोगिकरणं विशेषतः समर्पणं ज्ञेयम्। एवं समर्पितात्मनः सर्वे पदार्था भगवदीयत्वान्निर्दुष्टास्तान् भगवदुपयुक्तान् कृत्वा तदत्तप्रसादत्वेन भक्षणादिव्यवहारो भक्तिमार्गे प्रशस्तः। तदुक्तं श्रीप्रभुचरणैर्नवरत्नप्रकाशे 'तदत्तप्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरे'ति। प्रसादत्वेन ग्रहणं कृतार्थतासम्पादकम्। 'त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोलङ्कारचर्चिताः। उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमही'त्येकादशस्कन्धे श्रीमदुद्धववाक्यात्। अतः सामान्यसमर्पणविशेषसमर्पणोभयसूचनार्थं निवेदिभिः समर्प्येति पदद्वयेन निवेदनमुक्तम्।

इस प्रकार असमर्पित वस्तुओं का हेयत्व कहने के द्वारा ऐसी वस्तुओं से संबंध का निराकरण करके दोषों की उत्पत्ति न हो, ऐसा प्रकार कह कर देहादि के निर्वाह के लिए एवं आत्मनिवेदन कर लेने वालों को प्रेम-आसक्ति-व्यसन एवं सर्वात्मभाव तक की भक्ति की हेतुभूत आधिदैविकी-शुद्धि के लिए भक्तिमार्गीय उपायों को **निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यात्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

निवेदन का अर्थ होता है 'निवेद'। निवेद जिस में है—वे अन्न-आदि पदार्थ निवेदित कहलाते हैं। उन **निवेदिभिः** अर्थात् निवेदित-पदार्थों के द्वारा समस्त भक्षण-आदि व्यवहार करना चाहिए, परंतु समर्प कर ही करना चाहिए। यहाँ यह समझना चाहिए कि, गद्यसहित पंचाक्षरमंत्र

ग्रहण करने के अवसर पर निवेदित समस्त भूत-भविष्य-वर्तमान काल से संबंधित पदार्थ एवं देह-आदि, पत्नी-गृह आदि भी ब्रह्मसंबंध से निर्दुष्ट हो गये हैं। अतः वे सभी पदार्थ यहाँ मूल कारिका में 'निवेदि' शब्द से कहे जा रहे हैं। उनका पुनः समर्पण करने का अर्थ है - उन-उन पदार्थों से कार्य करने के अवसर पर पहले उनका भगवद्-उपयोग करना - अतः ब्रह्मसंबंध-मंत्र ग्रहण करने के अवसर पर निवेदित अन्न-आदि का भगवद्-उपयोग करके भगवान द्वारा उपभुक्त पदार्थ से शेष बचे पदार्थ द्वारा भोजन-आदि व्यवहार करना चाहिए। इस प्रकार, यहाँ यह जानना चाहिए कि पञ्चाक्षरमंत्र ग्रहण करने के द्वारा स्वकीय पदार्थों का ब्रह्मसंबंध करना तो सामान्य रूप से समर्पण है, क्योंकि वह समर्पण तो केवल वाणी द्वारा किया गया समर्पण है। पुनः उन पदार्थों का भगवद्-विनियोग करना विशेषरूप से किया गया समर्पण जानना चाहिए। क्योंकि अब उसका साक्षात् भगवान में उपयोग हुआ है। इस प्रकार, ऐसे समर्पित-आत्माओं के समस्त पदार्थ भगवदीय होने के कारण निर्दुष्ट हैं, उन पदार्थों को भगवद्-उपयुक्त करके उन्हें भगवद्-प्रसादरूप जानकर भोजन-आदि व्यवहार करना भक्तिमार्ग में प्रशस्त है। यही श्रीप्रभुचरणों ने नवरत्नप्रकाश में ''भगवान के द्वारा दिए गये प्रसाद से स्वयं उपभोग करने की कृति उचिततर है (नव०/उत्थानिका/श्रीगुसाईंजी)'' इस वाक्य द्वारा कहा है। उन पदार्थों को प्रसादरूप से ग्रहण करने पर 'कृतार्थता' का संपादन होता है। क्योंकि एकादशस्कंध में श्रीमद्-उद्धव के ''हमने आपकी धारण की माला पहनी, चंदन लगाया, वस्त्र पहने, आपके अलंकार धारण किए हैं। हम आपकी जूठन खाने वाले दास है। अतः हम अवश्य ही आपकी माया पर विजय प्राप्त कर लेंगे (श्री०भा० ११/६/४६)'' इस वाक्य में यही कहा गया है। अतः सामान्यसमर्पण एवं विशेषसमर्पण इन दोनों को सूचित करने के लिए **निवेदिभिः** एवं **समर्प्य** इन दो पदों द्वारा निवेदन कहा गया है।

इदं त्विह विशिष्यावधेयम्। निवेदनमन्त्रग्रहणेन ब्रह्मसम्बन्धे सर्वेषां पदार्थानामन्नादीनां या शुद्धिः सा त्वाधिदैविकी। तस्यां सिद्धायामपि दुष्टस्पर्शादिदोषनिवृत्तये भगवन्नामाभिमन्त्रितजलप्रोक्षणादिजन्या जलक्षालनादिजन्या भौतिकी शुद्धिः कर्तव्या। एवं शङ्खोदक-तुलसीगोपालमन्त्रशरणमन्त्रोच्चारणादिनाध्यात्मिकी शुद्धिः सापि कर्तव्यैव। श्रीमदाचार्यवर्यैस्तु पुष्टिभक्तिमार्गे या विशेषतः समर्पणजन्या शुद्धिः सात्र ग्रन्थे निरूपिता। सामान्यतो भौतिकी शुद्धिस्तु स्मृतिपुराणधर्मशास्त्रप्राप्तैवेति सा नोक्ता, नैतावता तस्या निषेधः। अतः सा यथाशास्त्रं विधेयैव। अतएव भगवत्सेवार्थं स्नात्वा गच्छतो निवेदितात्मनः पुंसो मध्ये निषिद्धस्पर्शदोषनिवारणार्थं पुनः स्नानादिना शुद्धि-सम्पादनमार्याणां व्यवहारः। एवमेव पात्रादीनां यथाशास्त्रं शुद्धिकरणमस्मत्सम्प्रदायेऽस्ति। अत एव पुत्रजन्मनि वृद्धिसूतके देहाशुद्धिं मन्वाना न भगवच्चरणौ स्पृशन्ति।दशदिवसानन्तरं यथापूर्वमाचरन्ति, तावता कालेन शुद्धेः शास्त्रसिद्धत्वात्। सेयं भौतिकी शुद्धिर्न निवेदनहेतुका। अन्यथा देहादीनां समर्पितत्वेन सकलाशुद्धिसम्बन्धस्य वक्तुमशक्यतया स्नानादिशुद्धेर्निष्प्रयोजनकत्वं स्यात्। स्नानसन्ध्या-वन्दनादिरूपं शोधकं परमभक्तानामपि व्यवहारे दृश्यते। 'इति स्त्रीणां वदन्तीनामुद्धवोऽगात्कृताह्निक' इति वाक्यात्। तदन्यथानुपपत्त्या भौतिकी शुद्धिर्वैष्णवानामुचितेत्यायाति। अतो भौतिकी शुद्धिर्जलक्षालनादिना शङ्खोदकादिना चाध्यात्मिकी शुद्धिर्यथाशास्त्रं सम्पादनीया।

अब यहाँ विशिष्ट बात यह समझनी चाहिए कि, निवेदनमंत्र ग्रहण करने के द्वारा जब ब्रह्मसंबंध होता है तब समस्त अन्न-आदि पदार्थों की जो शुद्धि होती है, वह तो आधिदैविकी-शुद्धि है। वह आधिदैविकी-शुद्धि सिद्ध हो जाने पर भी दुष्ट-स्पर्शादि दोषों की निवृत्ति के लिए भगवद्-नाम से अभिमन्त्रित जल के प्रोक्षण आदि करने से उत्पन्न हुई जल-प्रक्षालन आदि से जनित भौतिकी-शुद्धि तो करनी ही चाहिए। इसी प्रकार शंखोदक - तुलसीसमर्पण-गोपालमंत्र-शरणमंत्र के उच्चारण आदि से की जाती आध्यात्मिकी-शुद्धि भी करनी ही चाहिए। श्रीमदाचार्यचरणों ने तो पुष्टिभक्तिमार्ग में समर्पण से उत्पन्न होने वाली जो शुद्धि कही है, वह यहाँ इस ग्रंथ में विशेषरूप से निरूपित की है। सामान्यरूप से भौतिकी-शुद्धि तो स्मृति-पुराण-धर्मशास्त्रों द्वारा प्राप्त ही है, अतः वह नहीं कही है और न ही उसका यहाँ निषेध ही है। अतः शास्त्रानुसार वे शुद्धियाँ तो करनी ही चाहिए। इसीलिए भगवत्सेवा में स्नान करके जाते हुए निवेदित-पुरुष को यदि मध्य में ही किसी निषिद्ध-वस्तु का स्पर्श हो जाय तो पुनः स्नान-आदि के द्वारा शुद्धिसंपादन कर लेनी चाहिए, ऐसा महापुरुषों का व्यवहार है। इसी प्रकार पात्र-आदि का शास्त्रानुसार शुद्धिकरण हमारे संप्रदाय में है। इसीलिए पुत्रजन्म होने पर वृद्धिसूतक में देह की अशुद्धि मानने वाले भगवद्-चरणारविदों का स्पर्श नहीं करते हैं। दस दिनों के पश्चात् ही वे पूर्व की भाँति आचरण करते हैं क्योंकि तब तक शुद्धि हो जाती है, यह शास्त्र से सिद्ध है। यहाँ समझना चाहिए कि, निवेदन करने का हेतु ये भौतिक-शुद्धि नहीं है। अन्यथा यदि निवेदन से इस प्रकार ये भौतिक शुद्धि इत्यादि मान ली जाएँ, तब फिर जो देह-आदि भगवान को समर्पित हुए हैं, वे सभी प्रकार शुद्ध मान लिए जाने के कारण अब अशुद्धि कहनी ही अशक्य हो जायेगी और तब स्नान-आदि से होती शुद्धि भी निष्प्रयोजक हो जायेगी। इसी कारण स्नान-संध्यावंदन आदि शोधक प्रकार परमभक्तों के भी व्यवहार में दिखाई देते हैं। यही ''व्रजवासिनी स्त्रियाँ इसी प्रकार आपस में बातचीत कर रही थी कि, उसी समय नित्यकर्म से निवृत्त होकर उद्धवजी वहाँ आ पहुँचे (श्री०भा० १०/४६/४९)'' इस वाक्य द्वारा कहा गया है। इस अन्यथा-अनुपपत्ति के द्वारा भौतिकीशुद्धि वैष्णवों के लिए उचित ही है। यहाँ 'अन्यथा-अनुपपत्ति का अर्थ समझें। जैसे किसी रुग्ण व्यक्ति को औषधि के लिए आग्रह किया जाय कि औषधि न लेने से वह रुग्ण ही रह जायेगा अतः औषधि लेनी आवश्यक है। तो ऐसे में कहा जायेगा कि अन्यथा-अनुपपत्ति के द्वारा औषधि तो लेनी ही चाहिए। इसी उदाहरण को यहाँ घटा लेने पर अर्थ यह बनेगा कि, उपर्युक्त विवेचनों से एवं श्लोकों से यह ज्ञात हुआ कि निवेदन कर लेने के बाद भी ये भौतिक-शुद्धि तो आवश्यक हैं ही। इन्हें न करने से उपरी तौर पर तो वह अशुद्ध ही रह जायेगा, यह अर्थ है। अतः जलप्रक्षालन-आदि के

द्वारा भौतिक-शुद्धि एवं शंखोदक-आदि के द्वारा आध्यात्मिकी-शुद्धि शास्त्रानुसार संपादित करनी चाहिए।

ननु शुद्धिद्वयं स्नानशङ्खोदकादिना सम्पाद्यम्, आधिदैविकी शुद्धिः समर्पणेन संपन्ना, ततो द्वितीयस्य विशेषतः समर्पणस्य किं प्रयोजनमिति चेत्, श्रूयताम्। भगवते समर्पितानां पदार्थानां भगवदुपयोगकरणाभावेऽपराधः स्यात्। सामान्यतः समर्पितानां भगवदुपयोगं विना स्वोपयोगे तु महानेवापराधसमुदाय आपद्येत। अतः सामान्यतः समर्पितानां भगवदुपयोगकरणरूपं विशेषतः समर्पणमावश्यकमेव। तदेतदुक्तं निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति। अत्र ह्यसङ्कुचितवृत्तिना सर्वपदेन लौकिकवैदिकव्यवहारः सर्वोपि गृहीतः। तथा च नित्ये नैमित्तिके च कर्मणि कर्माङ्गदेवताभ्यो यदन्नं देयं तदपि भगवते समर्प्यैव देयमिति स्फुटति स्म। अत एव 'विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम्। पितृभ्यश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पत' इत्यादिवचांस्युपलभ्यन्ते। युक्तं चैतत्। 'देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा। भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्यथा वय'मिति प्रह्लादवाक्यात् सर्वे देवा भगवद्भक्ताः। अतस्तेषां भगवदीयत्वाद्भगवत्प्रसाददाने तेषां प्रसाद एव।

अब यहाँ शंका यह होती है कि दो प्रकार की भौतिकी एवं आध्यात्मिक शुद्धि तो स्नान-शंखोदक आदि के द्वारा हो ही जाती हैं, आधिदैविकी-शुद्धि समर्पण द्वारा संपन्न हो जाती है तो फिर विशेषरूप से इस दूसरे समर्पण का क्या प्रयोजन है? टीकाकार ने प्रश्न यह उठाया है कि मोटे तौर पर भौतिकी शुद्धि स्नान से, आध्यात्मिक शुद्धि शंखोदक से एवं आधिदैविकी शुद्धि तो समर्पणमंत्र ग्रहण करने के द्वारा हो चुकी हैं। अब पुनः उन वस्तुओं को भगवान में दूसरी बार समर्पण करने का क्या प्रयोजन है? यह अर्थ है। तो सुनिए। भगवान के लिए समर्पित पदार्थो का भगवद्-उपयोग न करने से अपराध होता है। सामान्यरूप से समर्पित पदार्थों का भगवद्-उपयोग किए बिना स्वयं उपयोग करने पर तो महान अपराधों का समुदाय ही आपतित होता है। अतः सामान्यतया समर्पित पदार्थों का भगवद्-उपयोग करने वाला विशेष समर्पण आवश्यक ही है। यही बात **निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यात्** इन शब्दों से कही गई है। इसी कारण यहाँ संकुचित-वृत्ति न रखते हुए स्पष्टतया 'सर्व' पद के द्वारा समस्त लौकिक-वैदिक व्यवहार ग्रहण कर लिए गये हैं। और इसी प्रकार नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों को करते समय कर्म के अंगभूत देवताओं के लिए जो अन्न दिया जाता है, वह भी भगवान को समर्प कर ही देना चाहिए, यह स्फुट होता है। अतएव ''विष्णु को निवेदित किए गये अन्न द्वारा अन्य देवताओं का यज्ञ करना चाहिए। पितरों को भी वही देने पर वह अनंत फलदायी होता है'' इत्यादि वचन उपलब्ध होते हैं। और यह बात युक्त भी है क्योंकि ''देव, असुर, मनुष्य, यक्ष, गंधर्व-जो कोई भगवान मुकुंद के चरणों का भजन करता है, वह हमारे समान ही कल्याण का भागी होता है (श्री०भा० ७/७/५०)'' इस प्रहलाद-वाक्यानुसार समस्त देवता भगवद्-भक्त हैं। अतः उनके भगवदीय होने के कारण भगवान का प्रसाद उन्हें देने में उनकी प्रसन्नता ही है।

ननु सर्वोषि पदार्थो भगवते समर्पणीय इत्युक्तम्, एवं सति केनचिद्देवान्तरोपयुक्तशिष्टवसनादिकं स्वस्मै दत्तं तर्हि तद्भगवते समर्पणीयं न वेत्याकाङ्क्षायां नेत्याहुः न मतं देवदेवस्येत्यादिना। यतो भगवान् देवानामपि देवः पूज्यः स्वामी, अतो भगवद्भुक्तशिष्टं सर्वेभ्योपि देयम्, अन्यभुक्तशिष्टं तु हरये नार्पणीयम्। 'पितृशेषं तु यो दद्याद्धरये परमात्मने। रेतोधाः पितरस्तस्य भवन्ति क्लेशभागिन' इत्यादिनिषेधात्। तदेतदाहुः न मतं देवदेवस्येत्यादि।

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, आपने कहा कि समस्त पदार्थों को भगवान में समर्पण करना चाहिए। अब ऐसी परिस्थिति में यदि किसी अन्य देवता में उपयुक्त वस्त्र-आदि में से बची हुई कोई वस्तु स्वयं को दे दी जाय तो उसे भगवान को समर्पित करनी या नहीं? यह आकांक्षा होनेपर **न मतं देवदेवस्य** इत्यादि शब्दों से उसका निषेध कर रहे हैं। क्योंकि भगवान देवों के भी देव हैं, पूज्य हैं, स्वामी हैं अतः भगवान के भोग से बचा हुआ तो सभी को देना चाहिए किंतु अन्य देवताओं द्वारा उपभुक्त किए गये पदार्थों से बचा हुआ हरि को अर्पण नहीं करना चाहिए। क्योंकि ''हरि-परमात्मा को जो पितरों का अवशिष्ट देता है, उसके पितर अधम-योनि में जन्म लेने वाले होते हैं'' इत्यादि वाक्यों से इसका निषेध हुआ है। यही बात **न मतं देवदेवस्य** इत्यादि शब्दों से कही गई है।

एवमुक्त्वा सिद्धमुपदिशन्ति तस्मादादौ सर्वकार्यं इत्यादिना।

तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्।
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः॥ ६॥
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।

यस्मात् सामिभुक्तं प्रभवे न निवेद्यम्, किन्तु कृष्णोपभुक्तशिष्टेन देवतायजनं स्वस्य भोजनादिव्यवहारश्च शास्त्रसिद्धः, तस्मादादौ सर्वं श्रीकृष्णाय समर्पणीयमित्यर्थः। ननु भगवत्समर्पितस्य पुनः प्रसादत्वेन ग्रहणे दत्तस्यापहारो भवति, अतो न युक्तमित्याशङ्क्य समाधिमाहुः दत्तापहारवचनमित्यादिना। दत्तापहारवचनं भिन्नमार्गपरमित्यन्वयः। दत्तापहारस्य वचनं निषेधकवचनं भिन्नमार्गपरम्, न तु भक्तिमार्गे निषेधः। निषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वात्। भक्तिमार्गे दत्तापहारस्याप्राप्तत्वात्। अस्मिन् मार्गे हि देहादीनामात्मना सह भगवते

निवेदनम्, न तु दानम्, स्वसत्तानिवृत्तिपूर्वकपरसत्तोपादानस्य दानलक्षणत्वात्। इदं तु 'क्रीडाभाण्डं विश्वमिदं' इति चतुर्थस्कन्धवाक्यात् निवेद्ये देहादौ भगवत्सत्तायाः सर्वदा विद्यमानतया स्वसत्ताया अभावात्। अत एव परसत्तोपादानमपि न संभवति। सर्वस्य पदार्थजातस्य भगवदीयत्वात्। किन्तु भगवदीयस्यैव पदार्थस्य भगवते समर्पणमिति नात्र दानम्। दानाभावेन दत्तापहारोपि नैवास्तीति भक्तिमार्गभिन्नमार्गे निषेधप्रवृत्तिरिति भावः। तस्मान्निवेदितस्य भगवदुपभुक्तशिष्टस्य ग्रहणे निषेधाभावात् प्रभुदत्तप्रसादत्वेन ग्रहणं विधेयमेव। एतदेव नवरत्नप्रकाशे श्रीमत्प्रभुचरणैरवादि 'दाने हि न स्वविनियोगो न तु निवेदन' इति।

इस प्रकार से कह कर जो सिद्ध हुआ, उसका उपदेश **तस्मादादौ सर्वकार्ये** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

चूँकि सामिभुक्त पदार्थों का प्रभु में निवेदन नहीं करना चाहिए, किंतु कृष्ण द्वारा उपभुक्त किए गये पदार्थों में से शेष रहे हुए पदार्थों द्वारा ही अन्य देवताओं का यजन एवं स्वयं का भोजन-आदि-व्यवहार शास्त्रसिद्ध है अतः सर्वप्रथम समस्त पदार्थों को श्रीकृष्ण के लिए समर्पण करना चाहिए, यह अर्थ है। अब यहाँ कोई ये शंका करे कि, भगवान को समर्पित हुए पदार्थों को पुनः प्रसादरूप से ग्रहण करने पर दिए हुए को वापस ले लेने का दोष उत्पन्न होता है, अतः ये युक्त नहीं है, तो इसका समाधान **दत्तापहार वचनं** इत्यादि शब्दों के द्वारा कर रहे हैं। 'दत्तापहारवचन' भिन्नमार्ग परक वचन है, यह अन्वय है। अर्थात् दत्तापहार का जो वचन है वह निषेधवचन भिन्न मार्ग का है, न कि भक्तिमार्ग में निषिद्ध है। क्योंकि ऐसा दूसरे मार्गों में निषिद्ध होता है एवं भक्तिमार्ग में 'दत्तापहारवचन' प्राप्त नहीं होता । इस मार्ग में तो देह-आदि का आत्मा के संग भगवान में निवेदन होता है, दान नहीं। क्योंकि दान का लक्षण तो स्वयं की सत्ता को निवृत्त करके दूसरे की सत्ता को स्थापित करना है। इस भक्तिमार्ग में 'दत्तापहार' का दोष इसलिए नहीं है क्योंकि ''यह संपूर्ण विश्व आपके खेल की सामग्री है (श्री.भा. ४/७/४३)'' इस चतुर्थस्कंध के वाक्यानुसार निवेदित देहादि में भगवत्सत्ता सदैव विद्यमान होने के कारण स्वयं की सत्ता का अभाव है एवं जब स्वयं की सत्ता का ही अभाव है तो दान का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता क्योंकि दान तो स्वयं की सत्तावाले पदार्थ का ही किया जाता है। अतएव दूसरे की सत्ता का स्थापन करना भी संभव नहीं होता। क्योंकि समस्त पदार्थ भगवदीय हैं। किंतु भगवदीय पदार्थों का ही भगवान में समर्पण है, अतः यहाँ दान नहीं है। दान का अभाव होने के कारण 'दत्तापहार' भी नहीं ही होता है, अतः भक्तिमार्ग से अतिरिक्त भिन्न मार्गों में ही इसके निषेध की प्रवृत्ति होती है, यह भाव है। अतः निवेदित भगवद्-उपभुक्त से बचे हुए पदार्थों को ग्रहण करने में निषेध नहीं है एवं प्रभु द्वारा दिए गये को प्रसादरूप से ही ग्रहण करने का विधान है। यही नवरत्नप्रकाश में श्रीमान्-प्रभुचरणों ने ''दान में दी गई वस्तु का स्वयं में उपयोग नहीं करना चाहिए (नव./उत्थानिका/श्रीगुसाईंजी)'' इस वाक्य द्वारा कहा है।

ननु मास्तु दत्तापहारस्तथापि 'अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदित'मित्यनेन निवेदितग्रहणस्य निषेधात् कथं निवेदितस्वीकार इत्याशङ्क्य समादधते तथा च सकलं हरेः न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतमिति। इति वाक्यमित्यत्र इतिशब्दः प्रकारे। तथा हरेः सकलं न ग्राह्यमिति प्रकारकं वाक्यं 'अपि दीपावलोकं मे' इत्यादिरूपं भिन्नमार्गपरम्, न तु भक्तिमार्गपरमित्यर्थः। अपि च। समर्पणगद्यसमाप्तौ दासत्वस्य निरूपितत्वादङ्गीकारे दासधर्मस्य भगवदुच्छिष्टग्रहणस्योचिततरत्वमेव। श्रीमदुद्धवेनापि भगवदुच्छिष्टग्रहणस्य दासधर्मत्वबोधनाय 'उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमही'त्यत्र दासपदमभाणि। दास्यं च सर्वथा कर्तव्यमेव। 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदन'मिति प्रह्लादेन नवविधभक्तिषु दास्यस्य गणनात्। अस्मिन्नेव सप्तमस्कन्धे श्रीनारदेन 'श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः। सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पण'मित्यनेन नवविधभक्तौ दास्यस्योपादानात्। तत्रापि 'नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृत' इत्युक्त्यावश्यकत्वस्य सूचनाच्च।

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, भले ही आपके कहे अनुसार यहाँ भगवान को दिए हुए को वापस ले लेने का दोष न लगता हो, तथापि ''मुझे समर्पित दीपक का प्रकाश भी स्वयं के उपयोग में नहीं लेना चाहिए (श्री.भा. ११/११/४०)'' इस वाक्य द्वारा निवेदित की गई वस्तु को ग्रहण करने का निषेध हुआ होने के कारण निवेदित वस्तु को स्वयं के लिए कैसे स्वीकार करना? ऐसी शंका होने पर **तथा च... मतम्** इत्यादि शब्दों से समाधान कर रहे हैं। यहाँ इस कारिका में प्रयुक्त 'इति वाक्यं' में 'इति' शब्द प्रकार-अर्थ में है। एवं 'अपि दीपावलोकं मे' इत्यादि वाक्यों द्वारा 'हरि की समस्त वस्तु ग्रहण नहीं करनी चाहिए' इस प्रकार के वाक्य भिन्न मार्ग के हैं, न कि भक्तिमार्ग के-यह अर्थ है। और भी, समर्पणगद्यमंत्र संपूर्ण हो जाने के पश्चात् जीव में दासत्व आ जाने के बाद भगवान द्वारा अंगीकार करने पर दासधर्म से भगवान का उच्छिष्ट ग्रहण करना उचिततर ही है। श्रीमद्-उद्धव ने भी-भगवान के उच्छिष्ट को ग्रहण करना दासधर्म है-यह बोध कराने के लिए ''हम आपकी जूठन खानेवाले दास हैं। अतः निश्चय ही आपकी माया पर विजय प्राप्त कर लेंगे (श्री.भा. ११/६/४६)'' इस श्लोक में 'दास' पद कहा है। और प्रभु की दासता तो सदैव कर्तव्य है ही! क्योंकि ''श्रवण, कीर्तन, विष्णुस्मरण, पादसेवा, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन (श्री.भा. ७/५/२३)'' इस वाक्यानुसार प्रहलाद द्वारा बताई गई नवधाभक्ति में 'दास्यभक्ति' भी गिनी गई है। इसी सप्तमस्कंध में श्रीनारद ने ''श्रीकृष्ण की लीला का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनकी सेवा, पूजा और नमस्कार, उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण (श्री.भा. ७/११/११)'' इस वाक्य द्वारा नवविध-भक्ति में 'दास्य' पद दिया है। क्योंकि वहाँ पर भी ''इस प्रकार का आचरण सभी मनुष्यों का परमधर्म है (श्री.भा. ७/११/१२)'' इस वाक्य से 'दास्य' की आवश्यकता सूचित की गई है।

ननु सप्तमस्कन्धे 'हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं वनं गतो यद्धरिमाश्रयेते'त्यत्र त्यागस्योक्तत्वात् त्याग एव कर्तव्यः, तथा सति भिक्षावृत्त्या कस्यचिद्वैष्णवस्य गृहादेहनिर्वाहकमात्रं भगवदुपभुक्तशिष्टं गृहीत्वा निष्प्रत्यूहं भगवद्भजनं कार्यम्, किमर्थं दारागारसम्पादनं चेत्याशङ्क्य दारादिसम्पादनप्रयोजनं देहादिनिर्वाह्यप्रकारं चाहुः सेवकानां यथेत्यारभ्य, तथा कार्यं समर्प्यैवेत्यन्तेन।

सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥

तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः।

सेवकानामिति। भगवतः श्रीविग्रहं सेवमानानामित्यर्थः। तेषां यथा लोके सर्वोपि व्यवहारः भगवत्सेवारूपः सेवोपयोगिलौकिक-भोजनादिरूपो वैदिकः पुत्रोपनयनविवाहादिरूपश्च स यथा येन प्रकारेण सिध्यति। तथा कर्तव्यम्। तथा सति स्त्रीपुत्रादिभिः सह कृष्णसेवा सिध्यति। तदभावे तु सेवाया न निर्वाहः। अतः स्त्रीपुत्रादिसम्पादनं कृष्णसेवार्थमिति प्रयोजनं सिद्धम्। अनिवेदिताः स्त्रीपुत्रादयो बाहिर्मुख्यं जनयन्त्यतस्तन्निवृत्त्यर्थं स्त्रीपुत्रादीनां निवेदनमावश्यकम्। तदेतदुक्तं तथा कार्यं समर्प्यैवेति।

यहाँ शंका करते हैं कि सप्तमस्कंध में "अपने अधःपतन के मूल कारण इस घर का त्याग करके वन में चले जाएँ एवं हरि की शरण लें (श्री.भा. ७/५/५)" इस वाक्य में त्याग करना ही कहा गया होने से त्याग ही करना चाहिए एवं ऐसे में किसी वैष्णव के घर से भिक्षावृत्ति के द्वारा मात्र देह का निर्वाह हो जाय; इतना ही भगवान के द्वारा उपभुक्त किए पदार्थ से बचा हुआ प्रसाद ग्रहण करके, निष्कंटक भगवद्-भजन करना चाहिए। व्यर्थ में पत्नी-घर आदि का संपादन करने की क्या आवश्यकता है? ऐसी शंका होने पर-भगवान में पत्नी-आदि संपादित करने का प्रयोजन एवं देह-आदि के निर्वाह का प्रकार **सेवकानां यथा** शब्दों से आरंभ करके **तथा कार्यं समर्प्यैव** शब्दों तक समाधान कह रहे हैं।

सेवकानां इस शब्द की व्याख्या कर रहे हैं। इस शब्द का अर्थ है - भगवान के स्वरूप की सेवा करने वालों का। उनका जिस प्रकार लोक में भगवत्सेवारूप जो सेवा में उपयोगी लौकिक-भोजनादि व्यवहार है एवं पुत्र का उपनयन-विवाहादिरूप जो वैदिक व्यवहार है, ऐसा समस्त व्यवहार जैसे जिस प्रकार से सिद्ध होता है, वैसे करना चाहिए। ऐसा होने पर स्त्री-पुत्रादि के संग 'कृष्णसेवा' सिद्ध होती है क्योंकि इनके बिना सेवा का निर्वाह नहीं हो पाता। अतः स्त्रीपुत्रादि का संपादन करना 'कृष्णसेवा' के लिए है, यह प्रयोजन सिद्ध हुआ। अनिवेदित स्त्रीपुत्रादि बहिर्मुखता उत्पन्न करते हैं, अतः उसकी निवृत्ति के लिए स्त्रीपुत्रादि का निवेदन आवश्यक है। यही **तथा कार्यं समर्प्यैव** इन शब्दों से कहा गया है।

भगवतापि 'दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदन'मित्यनेन निवेद्यत्वेन दारादयो निर्दिष्टाः। निवेदनस्य किं फलमित्याकाङ्क्षायां 'उद्धवात्मनिवेदिनां मयि संजायते भक्ति'रित्युक्त्या भक्तिशब्दवाच्या सेवैव फलत्वेन निर्दिष्टा। भक्तिशब्दस्य सेवार्थः। भजसेवायामिति धातुपाठात्। 'भज्-इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तित' इति तन्त्राच्च। तथा च सिद्धमेतत्। दारादिसङ्ग्रहस्तन्निवेदनं च कृष्णसेवार्थम्। कृष्णसेवा हि सर्वथैव कर्तव्या। 'तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनोवचः। नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वर' इति नारदवाक्यात्। 'करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च'। 'शावौ करौ नो कुरुतः सपर्याम्'। 'करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादि'ष्वित्यादिवचःपुञ्जाच्च।'यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि न' इति पञ्चमस्कन्धे देववाक्ये सर्वदेवतास्पृहणीयत्वस्याभिधानाच्च। अतः सेवार्थं गृहाश्रमस्तन्निर्वाहार्थं लौकिको ज्ञातिसम्बन्धिव्यवहारो ब्राह्मणभोजनादिरूपो यज्ञोपवीतविवाहादिकर्मसु कर्माङ्गभूतदेवतापूजनादिव्यवहारश्च सर्वथा कर्तव्य एव। परम्परया कृष्णसेवोपयोगित्वात्। परन्तु स सर्वोपि भगवते समर्प्यैव भगवदुपभुक्तशिष्टेन कार्यः। एतद्बोधकं समर्प्यैवेत्यत्रैवपदं एतदभिसंधाय 'सेवकानां यथा लोके' इत्यत्र सेवकपदं दत्तमाचार्यवर्यैः। अनेन सेवाभिलाषिणां गृहाश्रमः सर्वाश्रमेभ्यो बलीयानित्युक्तं भवति। यस्य तु गृहे भगवत्सेवाया अभावस्तद्विषयकानि गृहत्यागवचनानि। अत एव 'हित्वात्मपातं गृहमन्धकूप'मित्यत्रात्मपातत्वमन्धकूपत्वं च विशेषणद्वयमुक्तम्। न हि भगवदीयानां गृहमन्धकूपं भवति। वेदान्तरत्नरूपस्याखिलपुरुषार्थदातुर्भगवतो विराजमानत्वात्। अतः सर्वं सुस्थम्।

भगवान ने भी "पत्नी, पुत्र, घर, प्राण सभी का निवेदन करना चाहिए (श्री.भा. ११/३/२८)" इस वाक्य द्वारा पत्नी-आदि निवेदितरूप से निर्दिष्ट किए हैं। निवेदन का क्या फल प्राप्त होता है? यह आकांक्षा होने पर "हे उद्धव ! मेरे प्रति आत्म-निवेदन करने वालों की मुझमें भक्ति उत्पन्न हो जाती है (श्री.भा. ११/१९/२४)" इस वाक्य के द्वारा 'भक्ति' शब्द की वाचक सेवा ही फलरूप से निर्दिष्ट की है। क्योंकि 'भजसेवायां' इस धातुपाठ के अनुसार 'भक्ति' शब्द का अर्थ सेवा ही है। क्योंकि 'भज्... परिकीर्तितः' यह तन्त्र में भी कहा गया है। और यह सिद्ध भी है। पत्नी-आदि का संग्रह एवं उनका निवेदन कृष्णसेवा के लिए है। कृष्णसेवा निश्चित ही सर्वथा करनी चाहिए क्योंकि "हे राजाओं ! मनुष्य का वही जन्म, कर्म, आयु, मन और वाणी सफल है, जिसके द्वारा सर्वात्मा सर्वेश्वर श्रीहरि का सेवन किया जाता है (श्री.भा. ४/३१/९)" इस नारदवाक्य के द्वारा यही कहा गया है। एवं "वे ही हाथ सच्चे हैं जो भगवान की सेवा में उपयोग होते हैं (श्री.भा. १०/८०/३), "जो हाथ भगवान की सेवा नहीं करते, वे कंगन से विभूषित होने पर भी शव के हाथ हैं (श्री.भा. २/३/२१)", "उन्होंने अपने हाथों को श्रीहरिमंदिर के मार्जन में लगा रखा था (श्री.भा. ९/४/१८)" इत्यादि वाक्यों के समूहों से एवं "जिन जीवों ने भगवत्सेवा के

लिए इस भारतवर्ष में जन्म लिया है, इस सौभाग्य के लिए तो हम भी तरसते रहते हैं। (श्री.भा.५/१९/२१)'' इस पंचमस्कंध के देववाक्य के अनुसार समस्त देवताओं को भी प्रभुसेवा की चाहना रहती है। अतः जानना चाहिए कि गृहाश्रम सेवा के लिए है एवं गृहाश्रम के निर्वाह के लिए ब्राह्मण भोजन आदि ज्ञातिसंबंधी लौकिक व्यवहार एवं यज्ञोपवीत-विवाह आदि कर्मों में उस कर्म के अंगभूत देवताओं का पूजन-आदि व्यवहार सर्वथा करने ही चाहिए। क्योंकि परंपरा से ये सभी कृष्णसेवा में उपयोगी हैं। परंतु वह सभी भगवान में समर्प कर ही भगवद्-उपभुक्त से बचे हुए पदार्थों द्वारा करने चाहिए। इसी अर्थ का बोधक 'समर्प्यैव' पद में 'एव' शब्द है एवं इसी अर्थ के अनुसंधान में 'सेवकानां यथा लोके' इस पद में आचार्यवर्यों ने 'सेवक' पद दिया है। इन उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट होता है कि प्रभुसेवा की अभिलाषा करने वालों के लिए गृहाश्रम सभी आश्रमों से बलवान होता है, यह कहा गया है। जिसके गृह में भगवत्सेवा का अभाव है, उसी के लिए गृहत्याग के वचन हैं। इसीलिए ''अपने आत्मपाती एवं अंधेकुएँ के समान घर का त्याग कर (श्री.भा.७/५/५)'' इस श्लोक में गृह के लिए 'आत्मपाती' एवं 'अंधकूप' यह दो विशेषण कहे गये हैं। और भगवदीयों का घर तो अंधकूप नहीं होता, क्योंकि वेदांत के रत्नरूपी समस्त पुरुषार्थ का दान करने वाले भगवान वहाँ विराजमान हैं। अतः यह सभी सिद्धांत पूर्णरूपेण सुदृढ़ हैं।

गृहाश्रमाभिप्रायेणैव भगवन्तं प्रति विज्ञापयता उद्धवेन 'त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोलङ्कारचर्चिता' इत्यत्र वसनभूषणाद्यलङ्कृतत्वं श्रीकृष्णदासानामुक्तम्। अन्यथा त्यागपक्षे भूषणवसनाद्यलङ्कारो नोचित इति न वेदत्। अतो गृहाश्रमं सम्पाद्य भगवते सर्वं निवेद्य कृष्णोपभुक्तशिष्टेन देहादिनिर्वाहे न किञ्चिद्दूषणम्। 'अम्बरीष नवं वस्त्रं फलमन्नं रसादिकम्। कृत्वा विष्णूपभोग्यं तु सदा सेव्यं हि वैष्णवै'रित्यादिपुराणान्तरवचःसमुदायादिति दिक्। 'अम्बरीष नवं वस्त्र'मित्यत्र नवपदेन अन्यभुक्तस्य निवेदनं निषिद्धमिति ज्ञेयम्। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण भगवन्तं भजमानस्य फलमाहुः सर्वेषां ब्रह्मता तत इति। आत्मना सह समर्पितानां देहादीनां दारागारपुत्रादीनां च ब्रह्मता भवति। निर्दोषत्वप्रकटसच्चिदानन्दत्वरूपाक्षरब्रह्मधर्मास्तेष्वाविर्भूता भवन्तीत्यर्थः।

गृहाश्रम के अभिप्राय से ही भगवान के प्रति उद्धवजी ने ''आपके द्वारा उपभुक्त माला, चंदन, वस्त्र एवं अलंकार धारण किए (श्री.भा. ११/६/४६)'' यह बताते हुए यहाँ श्रीकृष्ण के दासों को वस्त्र-आभूषण-अलंकार से अलंकृत कहा है। अन्यथा गृहत्याग पक्ष में आभूषण-वस्त्र-अलंकार आदि का क्या औचित्य है, अतः ऐसा न कहते। अतः गृहाश्रम का संपादन करके भगवान के लिए सभी कुछ निवेदित करके कृष्ण द्वारा उपभुक्त पदार्थों से बचे हुए पदार्थों के द्वारा देह-आदि का निर्वाह करने में कुछ भी दूषण नहीं है। यही बात ''हे अंबरीष! नये वस्त्र, फल, अन्न, रस आदि विष्णु के उपभुक्त कर के वैष्णवों को सदा सेवा करनी चाहिए'' इत्यादि पुराणान्तर के वचनसमूह द्वारा कही गई है अतः यह दिशा स्पष्ट हो गई। इस श्लोक के द्वारा यह भी जानना चाहिए कि, ''अम्बरीष नवं वस्त्र' इस पद में प्रयुक्त 'नव' पद के द्वारा यह ज्ञात होता है कि, अन्य के द्वारा भोग किए गये पदार्थों को भगवान में निवेदन करना निषिद्ध है। इस प्रकार पूर्व में कहे प्रकार द्वारा भगवान का भजन करने वाले को प्राप्त होता फल **सर्वेषां ब्रह्मता ततः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। उसका फल यह है कि, आत्मा के साथ समर्पित देह एवं पत्नी-गृह-पुत्र आदि भी ब्रह्ममय हो जाते हैं। उनमें निर्दोषत्व-प्रकट सच्चिदानंदरूप अक्षरब्रह्म के धर्म आविर्भूत हो जाते हैं, यह अर्थ है।

पूर्वमतथाभूतस्य भक्त्या ब्रह्मत्वप्राप्तौ दृष्टान्तमाहुः गङ्गात्वं सर्वदोषाणामित्यादिना।

गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना।
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि॥ ८१/२॥

सर्वे दोषा येषु तानि सर्वदोषाणि रथ्यादिजलानि। तेषां गङ्गाप्रवाहप्रवेशे यथा गङ्गात्वम्, तथा निवेदनेन ब्रह्मत्वं भवतीत्यर्थः। गङ्गाप्रवेशे रथ्यादिसलिलानां सर्वे दोषा निवर्तन्ते, ततो निर्दुष्टवारीणां गङ्गात्वम्, न तु दोषाणां गङ्गात्वम्, तेषां गङ्गासम्बन्धनाश्यत्वात्। अतो 'गङ्गात्वं सर्वदोषाणा'मित्यत्र सर्वदोषपदे बहुव्रीहिर्ज्ञेयः। तथाच सर्वदोषाणां दोषयुक्तानां जलानां दोषनिवृत्त्या गङ्गात्वमित्यर्थो भवति। एवमिहापि निवेदनेन गतदोषाणां ब्रह्मत्वमाकलनीयम्। गुणदोषादिवर्णना गङ्गात्वे न निरूप्या स्यादिति। गङ्गात्वे इति सप्तमी। गङ्गात्वे सति निर्दोषादिवर्णना न निरूप्या स्यात्। अस्मिन् प्रवाहे ब्राह्मणजलं पतितम्, तच्छुद्धमस्ति, रथ्याजलं निषिद्धमस्ती-त्यादिरूपा गुणदोषवर्णना गुणदोषकथा न निरूप्या, किन्तु सर्वमेव जलं गङ्गामिलितं गङ्गैवेति निर्धारः। तद्वदत्रापीति। अत्रापि निवेदनेपीत्यर्थः। निवेदने हि सर्वस्य ब्रह्मत्वं तुल्यम्, न वर्णाश्रमादिगुणदोषविचारः। अपि तु सर्वस्य भगवदङ्गीकृतत्वमिति भावः।

निखिलोपनिषद्वेद्यो बालकृष्णो व्रजाधिपः।
तदङ्गौ बालकृष्णेन मया सर्वं समर्पितम्॥ १॥

ऐसी अभूतपूर्व भक्ति द्वारा ब्रह्मत्व की प्राप्ति होने में दृष्टांत **गङ्गात्वं सर्वदोषाणां** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं।

समस्त दोष जिनमें हैं-ऐसे नाले-आदि के जलों का गंगा के प्रवाह में प्रवेश होने पर जैसे वे गंगामय हो जाते हैं, वैसे निवेदन से ब्रह्मता हो जाती है, यह अर्थ है। गंगा में प्रविष्ट हो जाने पर नाले-आदि के जलों के समस्त दोष निवृत्त हो जाते हैं एवं इसके पश्चात् वह निर्मल

गंगामय हो जाता है, न कि दोष गंगामय हो जाते हैं क्योंकि गंगा से संबंध होने के पश्चात् वे नष्ट हो जाते हैं। इसी कारण 'गङ्गात्वं सर्वदोषाणां' में 'सर्वदोष' पद में बहुव्रीहि-समास जानना चाहिए। यहाँ यह ज्ञात होता है कि, इस प्रकार समस्त दोषों की अर्थात् दोषयुक्त-जलों की दोष-निवृत्ति के द्वारा वे गंगामय हो जाते हैं, यह अर्थ निकलता है। इसी प्रकार यहाँ भी निवेदन के द्वारा पूर्व के दोष ब्रह्ममय हो जाते हैं, यह जानना चाहिए। अब **गुणदोषादिवर्णना गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्** इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। यहाँ **गङ्गात्वे** शब्द में सप्तमी विभक्ति है। जिसका अर्थ यह बनेगा कि, गंगात्व हो जाने पर अब वह निर्दुष्ट है या नहीं? ऐसी शंकाओं का निरूपण अब आवश्यक नहीं रह जाता। और इस गंगा के प्रवाह में-''ब्राह्मणों द्वारा संध्यावंदन-आदि का शुद्धजल भी गिरता है, जो कि शुद्ध है एवं नाले आदि का गंदाजल भी गिरता है, जो निषिद्ध है''-इस प्रकार से गुणदोषों का वर्णन या फिर गुणदोषों की कथा निरूपणीय नहीं होती किंतु समस्त जल गंगा में मिल कर गंगा ही हो जाता है, यह निर्धारित होता है। **तद्वदत्रापि** शब्द की व्याख्या कर रहे हैं। (तद्+वत्+अत्र+अपि) में अत्रापि का अर्थ है-निवेदन करने पर भी ऐसा ही होता है जैसे उपर गंगा के उदाहरण द्वारा कहा गया। निवेदन करने पर सभी की ब्रह्म से समानता हो जाती है, वर्णाश्रम-आदि के गुणदोषों का विचार नहीं होता है बल्कि सभी भगवान द्वारा अंगीकृत हो जाते हैं, यह भाव है।

समस्त उपनिषदों के द्वारा जाने जाते व्रजाधिप-बालकृष्ण
के चरणकमलों में मुझ 'बालकृष्ण' द्वारा सभी कुछ समर्पित है ॥ १ ॥

निवेदनविचारः ।

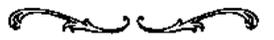

अथेदं विचार्यते किं नाम निवेदनम्, किं प्रयोजनकम्, कतिप्रकारकं चेति। तत्र 'दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदन'मित्यत्र दारादयो निवेद्यत्वेन निर्दिष्टाः। 'एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिना'मित्यात्मपदेन देहजीवौ निवेद्यत्वेनोक्तौ, आत्मशब्दस्योभयवाचकत्वात्। तथा च आत्मनो जीवस्य देहेन दारादिभिः सह भगवत्सेवोपयोगिकरणमात्मनिवेदनम्। तच्च त्रिविधम्। 'अज्ञानादथवा ज्ञानात्कृतमात्मनिवेदनम्। यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवने'ति नवरत्नग्रन्थात्। तत्र कृष्णसात्कृतप्राणैर्यदात्मनिवेदनं तदुत्तमम्। भगवत्स्वरूपस्वस्वरूपनिवेदनस्वरूपज्ञानपूर्वकं आत्मनिवेदनं तन्मध्यमम्। प्रेमज्ञानोभयराहित्येन केवलं पुष्टिमार्गीयगुरुमुखोद्गतसगद्यपञ्चाक्षरमन्त्रोच्चारणजन्यमात्मनिवेदनं तृतीयम्। एवं त्रिप्रकारके निवेदने यदुत्तमं तत्प्रेमोत्पत्तिपश्चाद्भावि। द्वितीयं पुष्टिमार्गीयग्रन्थाध्ययनगुरूपदेशजन्यज्ञानानन्तरोत्पत्तिकम्। तृतीयं तु केवलं पुष्टिमार्गीयगुरूमुखोत्थसगद्यपञ्चाक्षरमन्त्रोपदेशोत्तरभावि। नवरत्ने अज्ञानाद्यन्निवेदनमुक्तम्, तत्पञ्चाक्षरमन्त्रोपदेशमात्रजन्यमिति बोद्धव्यम्।

अब यह विचार किया जाता है कि 'निवेदन' का अर्थ क्या है? उसका प्रयोजन क्या है? एवं वह कितने प्रकार का होता है? वहाँ ''पत्नी, पुत्र, घर, प्राण सभी का भगवान में निवेदन करना चाहिए। (श्री.भा.११/३/२८)'' इत्यादि श्लोक में पत्नी-आदि निवेदनतया निर्दिष्ट हुए हैं। ''हे उद्धव! जो इन धर्मों के द्वारा मुझमें आत्म-निवेदन कर देते हैं (श्री.भा.११/१९/२४)'' इस श्लोक में 'आत्म' पद से देह-जीव दोनों निवेदनरूप से कहे गये हैं, क्योंकि 'आत्म' शब्द देह-जीव दोनों का वाचक है। एवं, इस प्रकार आत्मा का अर्थात् जीव का देह के साथ अर्थात् पत्नी-आदि के साथ भगवत्-सेवा में उपयोग करना 'आत्मनिवेदन' है। वह निवेदन तीन प्रकार का है। क्योंकि ये तीन प्रकार के निवेदन ''अज्ञान से अथवा ज्ञान से, जिसने आत्मनिवेदन कर लिया है एवं जिसने कृष्ण में अपने प्राण आत्मसात कर लिए हैं, उन्हें कैसी चिंता? (नव./४)'' इस श्लोक द्वारा नवरत्नग्रंथ में कहे गये हैं। इस श्लोक-में जिन्होंने कृष्ण से स्वयं के प्राण आत्मसात् कर लिए हैं—ऐसों के द्वारा किया गया निवेदन 'उत्तम' है। भगवत्स्वरूप, स्वस्वरूप एवं निवेदनस्वरूप के ज्ञानपूर्वक किया गया आत्मनिवेदन 'मध्यम' है। प्रेम एवं ज्ञान दोनों से रहित, केवल पुष्टिमार्गीय-गुरुमुख से निकले गद्यसहित पंचाक्षरमंत्र के उच्चारण से जनित जो आत्मनिवेदन है, वह 'तीसरा' है। इस तरह त्रिप्रकारक-निवेदन में जो उत्तम है, वह प्रेम की उत्पत्ति के पश्चात् होने वाला है। दूसरा, पुष्टिमार्गीय ग्रंथों के अध्ययन एवं गुरु-उपदेश से जनित ज्ञान के पश्चात् होने वाला है। तीसरा तो केवल पुष्टिमार्गीय-गुरुमुख से उत्पन्न हुए गद्यसहित पंचाक्षरमंत्र के उपदेश के पश्चात् होने वाला है। नवरत्नग्रंथ में 'अज्ञान' द्वारा हुआ जो निवेदन कहा है, वह मात्र पंचाक्षरमंत्र के उपदेश से जनित जानना चाहिए।

एवं त्रिप्रकारकनिवेदनस्य प्रयोजनं भगवत्सेवा। तया कृतार्थत्वम्। 'उद्धवात्मनिवेदिनां मयि संजायते भक्तिः कोन्योर्थोस्यावशिष्यते' इति वाक्यात्। इह वाक्ये आत्मनिवेदनानन्तरं भक्तिशब्देन प्रेमसेवामुक्त्वा 'कोन्योर्थोस्यावशिष्यत' इत्यनेन कृतार्थत्वमुक्तम्। ननु पित्रा कृते निवेदने पुत्रस्य भगवदीयत्वे सिद्धे पुनः पुत्रेण किमर्थं निवेदनं विधेयमिति चेत्, सत्यम्। भगवदीयत्वेपि स्वदेहादौ स्वकीयत्वाध्यासनिवृत्तिमन्तरेण न भगवदीयत्वबुद्धिरुत्पद्यते। अतः सर्वैरेव स्वस्वाध्यासनिवृत्तये पृथक् पृथग्निवेदनं कार्यम्, सर्वानेव जीवानधिकृत्य निवेदनस्य विहितत्वात्। 'सख्यमात्मनिवेदनं नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृत' इति सप्तमस्कन्धे युधिष्ठिरं प्रति नारदवाक्यात्। अतः शास्त्रसिद्धत्वात् पृथक्पृथगनुष्ठेयम्। तथाच विशेषतो भगवदीयत्वं सेत्स्यति, अधिकस्याधिकं फलमिति न्यायात्। यथार्जुनस्य वैष्णवत्वेन पूतत्वेपि पौत्रपरीक्षिद्भक्त्या विशेषतः पूतत्वम्। 'त्रिःसप्तभिः पिता पूत' इति प्रल्हादं प्रति भगवद्वाक्यात्। यस्य वंशे वैष्णव उत्पन्नः स पवित्रो भवत्येवेति सर्वसत्सम्मतम्। स्वयं वैष्णवो वैष्णववंशकर्ता चेद्विशेषतः पूतो भवति। अधिकं तत्रानुप्रविष्टम्, न तु तद्धानिरिति न्यायात्। एवं निवेदनेपि ज्ञेयम्।

इस प्रकार तीनों प्रकार के निवेदन का प्रयोजन भगवत्सेवा है। उसी सेवा से कृतार्थता होती है, क्योंकि ''हे उद्धव! आत्म-निवेदन कर लेनेवालों को मेरी भक्ति उत्पन्न होने के पश्चात् कौन सा अर्थ शेष रह जाता है? (श्री.भा.११/१९/२४)'' इस वाक्य से यह सिद्ध होता है। इस वाक्य में आत्मनिवेदन के पश्चात् 'भक्ति' शब्द से प्रेमसेवा को कहकर 'अब कौन सा अर्थ शेष रह जाता है (श्री.भा.११/१९/२४)' इस वाक्य से कृतार्थता कही गई है। यहाँ शंका होती है कि, पिता द्वारा किए निवेदन से पुत्र की भगवदीयता तो सिद्ध हो ही जाती है। अतः भगवदीयता सिद्ध हो जाने पर पुत्र द्वारा पुनः किसलिए निवेदन का विधान किया जा रहा है? तो आपका कहना सत्य है, तथापि भगवदीयता होने पर भी स्वयं के देहादि में स्वकीयत्व के अध्यास की निवृत्ति के बिना भगवदीयता की बुद्धि उत्पन्न नहीं होती। अतः सभी के द्वारा अपने-अपने अध्यास की निवृत्ति के लिए पृथक-पृथक निवेदन करना चाहिए। क्योंकि निवेदन करने का अधिकार समस्त जीवों को है। क्योंकि ''भगवान के प्रति सख्य, आत्मसमर्पण इत्यादि आचरण सभी मनुष्यों का परमधर्म है (श्री.भा.७/११/११-१२)'' यह सप्तमस्कंध में युधिष्ठिर के प्रति नारद वाक्य हैं। अतः यह सभी शास्त्रसिद्ध होने के कारण पृथक-पृथक निवेदन करना चाहिए। ऐसा होने पर विशेषरूप से भगवदीयता होगी; 'अधिक का फल भी अधिक है' इस न्याय से। जिस प्रकार अर्जुन वैष्णवतया पवित्र होने पर भी पौत्र परिक्षित की भक्ति द्वारा

विशेषरूप से पवित्र हुआ क्योंकि ''इक्कीस पीढ़ीयों तक के पिता तर जाते हैं (श्री.भा.७/१०/१८)'' ऐसे प्रहलाद के प्रति भगवद्-वाक्य होने से यह सिद्ध होता है। जिसके वंश में वैष्णव उत्पन्न होता है वह पवित्र होता ही है, यह सर्वसंमत है। स्वयं वैष्णव यदि वैष्णववंशकर्ता हो तो वह विशेषरूप से पवित्र होता है; 'चाहे जितनी अधिकता हो तथापि हानि नहीं है' इस न्याय से। इस प्रकार निवेदन में भी जानना चाहिए।

ननु अज्ञानात्केवलमन्त्रोच्चारणेन कथं निवेदनसिद्धिरिति चेत्, सत्यम्। ज्ञानाभावेन केवलं मन्त्रोच्चारणेनापि धर्मसिद्धेर्बालादावुपलभ्यमानत्वात्तन्न्यायेनात्रापि निवेदनसिद्धिरित्याकलितव्यम्। बालो हि दानादिधर्मं कुर्वन् पित्रादिशिक्षया 'दातुमहं समुत्सृज' इत्यादिपदमुच्चारयन् स्वरूपमजानन्नपि दानफलमाप्नोति। तथात्र स समर्पणगद्यपञ्चाक्षरमन्त्रोच्चारणे 'समर्पयामी'ति पदमुच्चारयंस्तत्स्वरूपमजानन्नपि समर्पणफलमवाप्नोति। यथा वा रोगाद्यातुरकृतधर्मे मूर्खकृतधर्मे शब्दोच्चारणमात्रेण सिद्धिः, एवमुच्चारणमात्रेण निवेदनसिद्धिरिति मञ्जुलमखिलम्।

यहाँ एक शंका यह होती है कि, ''अज्ञान से केवल मंत्रोच्चारण द्वारा निवेदन-सिद्धि कैसे हो सकती है? तो सत्य है किंतु ज्ञान के अभाव से केवल मंत्रोच्चारण से भी धर्म-सिद्धि हो जाने के कारण एवं जिस प्रकार बालकों में ज्ञान नहीं होता तथापि उन्हें पढ़ाया जाता ही है एवं पश्चात् वह सिद्ध भी होता ही है, इस न्याय से यहाँ भी निवेदन की सिद्धि होती है, यह आंकलन करना चाहिए। जिस प्रकार बालक पिता-आदि से प्राप्त शिक्षा द्वारा दानादि-धर्म करते हुए ''मैं दान करने के लिए इस वस्तु का त्याग करता हूँ'' इत्यादि पद का उच्चारण करते हुए उस दान के स्वरूप को न जानते हुए भी निश्चितरूप से दान का फल प्राप्त करता है; उसी प्रकार यहाँ वह अज्ञानी जीव समर्पण के गद्यपंचाक्षर-मंत्र के उच्चारण में 'समर्पित करता हूँ' इस पद का उच्चारण करते हुए उस समर्पण के स्वरूप को न जानते हुए भी समर्पण का फल प्राप्त करता है। अथवा, जिस प्रकार किसी रोगादि से आतुर व्यक्ति द्वारा धर्म करने पर एवं किसी मूर्ख व्यक्ति द्वारा धर्म करने पर मात्र शब्दोच्चारण करने पर धर्म-सिद्धि प्राप्त हो जाती है; इसी प्रकार उच्चारण मात्र से निवेदन-सिद्धि हो जाती है, अतः उपर्युक्त समस्त सिद्धांत सुंदर हैं।

ननु एकगुरोरुपदेशग्रहणे दम्पत्योः परस्परं भ्रातृत्वाद्यापत्तिः, तद्भिया गुरुपार्थक्यमेव कर्तव्यम्, न त्वेकगुरुत्वमिति चेत्, न। 'आचारो धर्ममार्गश्च गुरुर्मन्त्रश्च देवताः। दम्पत्यपत्यभृत्येषु एकीकृत्य महत्फल'मिति साधनदीपिकास्थपाद्मोत्तरखण्डवाक्यात्। देहजसम्बन्ध एव तथात्वेन पारमार्थिकेस्मिन्निवेदनमन्त्रोपदेशसम्बन्धे गुर्वैक्येपि दोषाभावात्। अयमेव गुरुकत्वरूपः सम्बन्धो न लौकिकः, किन्तु भगवत्प्राप्तिसाधनत्वात् अलौकिकः, अलौकिकसम्बन्धस्य लौकिकपदार्थे दोषजनकत्वं नास्त्येव। अतो नैकगुरुकत्वे दम्पत्योर्भ्रातृभगिनीत्वापातः। 'अन्नदाता भयत्राता पत्नीतातस्तथैव च। विद्यादाता जन्मदाता पञ्चैते पितरो नृणा'मिति ब्रह्मवैवर्तीयब्रह्मखण्डदशमाध्याये सूतवाक्ये पितृत्वादिविधौ पितृवत्पूज्यतामात्रमभिप्रेतम्। अन्यथान्नदात्रादीनां पितृत्वेन दम्पत्योरेकपोष्यत्वे एककर्तृकभयत्राणे च भ्रातृभगिनीभावापत्तिरिति विवाहवैयर्थ्यमेव स्यात्। एवं गुरावपि पितृवत्पूज्यतामात्रमभिप्रेतम्। न त्वेकगुरुकत्वसम्बन्धे भ्रातृत्वमतो दम्पतिभ्यां भक्तिमार्गे गुर्वैक्यकरणं न दोषायेति दिक्।

यहाँ एक शंका यह होती है कि एक गुरु से उपदेश ग्रहण करने पर दंपति में परस्पर भाई-बहन का संबंध हो जाने की आपत्ति आती है; उस भय से पृथक गुरु ही करने चाहिए न कि एक गुरु? तो नहीं, ऐसा नहीं है, क्योंकि ''आचार, धर्ममार्ग, गुरुमंत्र एवं देवपूजन इत्यादि कार्य यदि दंपति, पुत्र एवं सेवक सभी मिलकर करें तो महत्फल प्राप्त होता है।'' यह वाक्य साधनदीपिका के पाद्मोत्तरखंड में कहा गया होने के कारण एक गुरु से उपदेश ग्रहण करने में आपत्ति नहीं है। क्योंकि देहजनित संबंध में ही ऐसी आपत्ति है, इस पारमार्थिक निवेदनमंत्र के उपदेश के संबंध में एक गुरु करने पर भी दोष नहीं है। यह गुरु का संबंध ही लौकिक नहीं है किंतु भगवत्प्राप्ति का साधन होने के कारण अलौकिक है। अतः अलौकिकसंबंध लौकिकपदार्थों में दोषरूप नहीं ही होते हैं। अतः एक गुरु करने पर दंपति में परस्पर भाई-बहन की आपत्ति नहीं आती है। ''अन्नदाता, भय से मुक्ति दिलानेवाला, श्वसुर, विद्यादाता और जन्मदाता - ये पाँच मनुष्यों के पिता माने गये हैं। (ब्र.वै./ब्र.खं./१०/१५३)'' इस ब्रह्मवैवर्तीय ब्रह्मखंड के दशम-अध्याय के सूतवाक्य में 'पिता' का स्वरूप क्या है? इस प्रश्न के विश्लेषण की विधि में ''इतने व्यक्ति पिता की तरह पूज्य हैं'', मात्र इतना ही अभिप्रेत है, न कि पूर्णरूप से पिता ही। अन्यथा यदि अन्नदाता-आदि पिता हो जाएँ एवं किसी दंपति का पोषण करने वाले एवं भयत्राता हो जाएँ तब तो उन दंपति में परस्पर भाई-बहन की आपत्ति हो जाने से उनका विवाह ही व्यर्थ हो जायेगा। इस प्रकार गुरू में भी पिता की भाँति पूज्य का भाव ही अभिप्रेत है, न कि एक गुरु का संबंध होने पर भ्रातृत्व है। अतः दंपतियों को भक्तिमार्ग में एक गुरु करने पर दोष नहीं है; यह दिशा स्पष्ट हुई।

किञ्च। भारते आश्वमेधिके उत्तङ्कोपाख्याने गौतमेन उत्तङ्काय स्वशिष्याय स्वसुता परिणायितेत्युक्तम्। 'इत्थं च परितुष्टं मां विजानीहि भृगूद्वहे'त्यारभ्य 'ततस्तां प्रतिजग्राह युवा भूत्वा यशस्विनी'मित्यन्तेन। कार्तिकमाहात्म्ये च 'अपुत्रः स च शिष्याय चन्द्रनाम्ने ददौ सुता' मित्युक्तम्। अतो ज्ञायते गुरुपुत्र्या विवाहेपि दोषो नास्ति। गुरुपुत्र्यां गुरुतल्पातिदेशो व्यभिचारेण तथात्वे विवक्षितो, न तु विवाहे। अन्यथोत्तङ्के चन्द्रनाम्नि च गुरुतल्पगामित्वं स्यात्, अत उक्तैव व्यवस्था सुधीभिरादर्तव्या। एवं भक्तिमार्गीय शिष्टसम्प्रदाय-

सिद्धपद्धतिके सन्मार्गीयनिवेदनप्रकारे दूषणलेशोपि नास्तीति निर्दुष्टः पन्था अस्मदाचार्याणामार्याणां च।

गोवर्धनेशपदपङ्कजलब्धिहेतुः श्रीवल्लभैर्निगदितात्मनिवेदनाख्या॥
श्रीविट्ठलप्रकटिता हरिभक्तिरेषा चर्कर्तु वाञ्छितफलान्यमलाश्रितानाम्॥ १॥

इति श्रीमद्गोवर्धनधरश्रीवल्लभाचार्यवरश्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन
लालूभट्टोपनामविदितदीक्षितबालकृष्णेन विरचिता सिद्धान्तरहस्यटीका सम्पूर्णा।

और, महाभारत में अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग में उत्तङ्क ऋषि के उपाख्यान में गौतमऋषि ने अपने शिष्य उत्तङ्क के लिए अपनी पुत्री का विवाह किया, यह कहा गया है। ''हे भृगुवंशी! इस प्रकार तुम मुझे परम संतुष्ट समझो'' यहाँ से आरंभ कर ''उसके बाद युवा होकर उत्तंक ने गौतम ऋषि की पुत्री से विवाह किया'' यहाँ तक का यह प्रसंग है। एवं कार्तिक-माहात्म्य में ''उसने अपने चंद्र नामक शिष्य से अपनी पुत्री का विवाह किया'' यह कहा गया है। अतः यह ज्ञापित होता है कि, गुरुपुत्री से विवाह करने में भी दोष नहीं है। गुरुपुत्री से गुरुशैय्या पर व्यभिचार करने पर दोष विवक्षित है, न कि विवाह में। अन्यथा उत्तङ्क एवं चन्द्र में गुरुशैय्यागमन का दोष आपतित हो जाता। अतः बुद्धिमानों द्वारा कही हुई व्यवस्था ही आदरणीय है। इस प्रकार भक्तिमार्गीय-शिष्टसंप्रदाय की सिद्धपद्धति के सन्मार्गीय-निवेदनप्रकार में लेशमात्र भी दूषण नहीं है एवं हमारे आर्य-आचार्यचरणों का यह निर्दुष्ट पंथ है।

गोवर्धनेश के चरणकमलों की प्राप्ति-हेतु श्रीवल्लभ द्वारा कही गई 'आत्मनिवेदन' नामक भक्ति एवं श्रीविट्ठल द्वारा प्रकटित यह हरि की निर्मलभक्ति, आश्रितजनों को वांछित फलदायी हो॥ १॥

यह श्रीमद्-गोवर्धनधर-श्रीवल्लभाचार्यवर-श्रीविट्ठलेश्वरचरणों के अनुचर/सेवक द्वारा 'लालूभट्ट' के उपनाम से जाने जाते दीक्षित-बालकृष्ण द्वारा विरचित 'सिद्धांतरहस्य' की टीका संपूर्ण हुई।

श्रीकृष्णाय नमः।

सिद्धान्तरहस्यम्।

श्रीशाचार्यमतानुवर्तिकृतसंवादविवृतिसमेतम्।

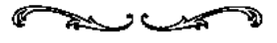

श्रीवल्लभं नमस्कृत्य तन्मुखोक्तीर्विभाव्य च।
क्रियते भक्तिसिद्धान्तरहस्यविवृतिर्मया॥ १॥

अथ श्रीगोपीजवल्लभः कचिच्छ्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि प्रादुर्भूय भगवान अनन्तशयनस्वरूपे समर्पितं सितोपलखण्डं स्ववदने निक्षिप्य तदर्पितपवित्रमालिकाः परिधाय प्रोवाच 'श्रीवल्लभ, भवत्प्राकट्यं ममैव स्वास्यात् कृतमस्ति, तेनात्मनिवेदनद्वारा जीवोद्धारणे विलम्बो न कार्यं' इति। तदनु कीदृशं तदिति प्रश्ने, भगवान् सगद्यं 'तवास्मी'तिपूर्वकं स्वसिद्धान्तरहस्यं समुपदिष्टवान्। तथाहि। एकदा श्रीवल्लभाचार्या धृतव्रताः श्रीगोकुले श्रीयमुनातटे समुपासीना भगवन्तं श्रीगोपीजनवल्लभं साक्षाद् दृष्टवन्तः। तत्र यदनुभवन्ति स्म, तदेव स्वयमावेदयन्ति श्रावणस्येत्यादिश्लोकैरष्टभिः सार्धैः। धर्मधर्म्यभिप्रायेण दृष्टान्तेन च। प्रथमं प्रतिज्ञावाक्येनाहुः श्रावणस्येति।

श्रीवल्लभ को नमस्कार कर एवं उनके मुख की उक्तियों का विचार कर
भक्तिसिद्धांतरहस्य की विवृति मेरे द्वारा की जा रही है॥ १॥

अथ श्रीगोपीजनवल्लभ किसी श्रावण मास के अमलपक्ष में, एकादशी की महारात्रि में प्रादुर्भूत हुए। भगवान-अनंतशायीस्वरूप ने श्रीवल्लभाचार्य द्वारा समर्पित श्वेत मिश्रीखंड अपने मुखारविंद में पधरा कर एवं उनके द्वारा अर्पित पवित्रमालिका (पवित्रा) धारण कर के कहा, "श्रीवल्लभ! आपका प्राकट्य मेरे ही मुखारविंद द्वारा किया गया है, अतः आत्मनिवेदन द्वारा जीवों के उद्धार में विलंब नहीं करना चाहिए"। इसके पश्चात् 'वह आत्मनिवेदन क्या/कैसा है?' यह प्रश्न करने पर भगवान ने गद्यसहित 'तुम्हारा हूँ' यहाँ तक स्वयं के सिद्धांत का रहस्य भलीभाँति उपदिष्ट किया। यह सभी कुछ इस प्रकार हुआ कि, एक समय श्रीगोकुल में श्रीयमुनाजी के तट पर विराजमान व्रतधारी-श्रीवल्लभाचार्य ने भगवान श्रीगोपीजनवल्लभ को साक्षात् देखा। वहाँ वे जो अनुभव कर रहे हैं, स्वयं वही **श्रावणस्य** इत्यादि साढ़े आठ श्लोकों द्वारा कह रहे हैं। इन साढ़े आठ श्लोकों को धर्म-धर्मि के अभिप्राय से एवं दृष्टांत द्वारा कह रहे हैं। टीकाकार ने सिद्धांतरहस्य के इन साढ़े-आठ श्लोकों की योजना समझाई है। वे कहते हैं कि इनमें से प्रथम छह श्लोक प्रभु में रहे हुए छह धर्मों के द्योतक हैं एवं सातवाँ श्लोक स्वयं धर्मि-स्वरूप अर्थात् प्रभु का द्योतक है। शेष रहा आठवाँ श्लोक इन सातों श्लोकों का सार समझाने हेतु दृष्टांत रूप है। प्रथम प्रतिज्ञावाक्य द्वारा **श्रावणस्य** इत्यादि कह रहे हैं।

श्रावणस्यामले पक्ष एकादश्यां महानिशि।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते॥ १॥

साक्षादाविर्भूतेन भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते॥ १॥

ननु भगवन्, सर्वदोषानिधाने कलौ तथाविधदेहात्मनामेषां जीवानां कथं कस्मात् समुद्धार इति पृष्टो भगवानाह ब्रह्मसम्बन्धकरणादिति।

साक्षात् आविर्भूत-भगवान ने जो कहा वह **अक्षरशः** कह रहे हैं॥ १॥

"हे भगवन्! समस्त दोषों के भंडार कलियुग में एवं वैसे ही दुष्ट हुए देहात्माओं एवं इन जीवों का कैसे, किसके द्वारा भलीभाँति उद्धार होगा?"-यह श्रीवल्लभद्वारा पूछने पर भगवान ने **ब्रह्मसंबंधकरणात्** इत्यादि वाक्य कहे।

ब्रह्मसम्बन्धकरणात्सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः॥ २॥

निर्दोषं हि समं ब्रह्माहम्, तस्मिन् सम्बन्धस्य करणात् साधकतमात् सगद्यपञ्चाक्षरकथनात्। अंशत्वेपि 'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्यया'विति भक्तिमार्गीयात्मसमर्पणापरपर्यायनिवेदनद्वारा सेवकत्वकरणादित्यर्थः। ननु केषां तत्करणमिति चेत्,

---

१. शालिग्रामे। २. षड् गुणा धर्माः, सप्तमो धर्मी, श्रीभगवदभिप्रायेण। ३. वैष्णवत्वकरणात्।

अत्राह सर्वेषामिति। दैवमध्ये उच्चनीचानामपि स्त्रीपुंनपुंसकानाम्। ननु तत्र देहेन्द्रियान्तःकरणप्राणजीवसत्त्वात् कुत्र तत्करणमित्यत्राह देहजीवयोरिति। प्राणेन्द्रियान्तःकरणोपचिते देहे जीवेपि। तदा किं भविष्यतीत्याशङ्कायामाहुः सर्वदोषनिवृत्तिर्हीति। ब्रह्म हि निर्दोषं सममिति तत्र सम्बन्धकरणे सा न्याय्येति हिशब्देन सूच्यते। ननु के ते दोषा इत्याकाङ्क्षायामाहुः दोषाः पञ्चविधाः स्मृता इति॥ २॥

भगवान ने कहा कि-मैं निर्दोष एवं समदृष्टिरूप 'ब्रह्म' हूँ; ब्रह्मसंबंध सर्वश्रेष्ठ-साधक होने के कारण गद्यसहितपञ्चाक्षर के उच्चारण द्वारा ब्रह्म के साथ संबंध करने से समस्त दोषों की निवृत्ति होती है। ''जीव के अंशरूप होने पर भी जीवात्मा में भी ईश्वरसमान गुण हैं, किंतु तिरोहित हैं। परब्रह्म का ध्यान करने से वे प्रकट हो जाते हैं क्योंकि जीव के बंधन एवं मोक्ष उसके ही अधीन हैं (ब्र.सू.३/२/५)'' इत्यादि वाक्यों द्वारा भक्तिमार्गीय आत्मसमर्पण को जाने जाते दूसरे नाम 'निवेदन' से प्रभु द्वारा जीव को सेवक करने से समस्तदोषों की निवृत्ति हो जाती है। यहाँ शंका करते हैं कि, वह 'निवेदन' किसे करना चाहिए? तो यहाँ **सर्वेषां** इन शब्दों से उत्तर दे रहे हैं। दैवीजीवों में, उच्च-नीच, स्त्री-पुरुष-नपुंसक सभी को निवेदन करना चाहिए। यहाँ शंका करते हैं कि, यहाँ तो देह-इंद्रिय-अन्तःकरण-प्राण-जीव सभी विद्यमान हैं? अतः ब्रह्मसंबंध किसका एवं कहाँ करना चाहिए? तो इसे **देहजीवयोः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। प्राण-इंद्रिय-अन्तःकरण से जुड़े देहजीव को 'निवेदन' करना चाहिए। इससे क्या होगा? यह आशंका होने पर **सर्वदोषनिवृत्तिर्हि** इन शब्दों से कह रहे हैं। ब्रह्म निश्चित ही निर्दुष्ट है एवं समदृष्टिरूप है, अतः वहाँ संबंध करने पर समस्तदोषों की निवृत्ति न्यायोचित है, यह 'हि' शब्द से सूचित कर रहे हैं। यहाँ शंका होती है कि, वे दोष कौन से हैं? यह आकांक्षा होने पर **दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः** इन शब्दों से कह रहे हैं॥ २॥

ननु किमाख्या तेषाम्, तत्राह सहजा इत्यादित्रिभिः पादैः।

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन॥ ३॥

एते श्रीगोकुलेशोत्सवादिभिर्विवृता एवेति न प्रतन्यन्ते। नन्वेते कथं चिन्त्या इति तत्राह न मन्तव्याः कथञ्चनेति। सत्त्वेन न मन्तव्याः, किन्तु समूलं निवृत्ता इत्यग्रे तु सावधानतया स्थेयमिति भावः॥ ३॥

उनके नाम क्या हैं? यह **सहजा** इत्यादि तीन पाद द्वारा कह रहे हैं। इन तीन पादों में प्रथम-पाद 'सहजादेशकालोत्था' है दूसरा पाद 'लोकवेदनिरूपिता' है एवं तीसरा पाद 'संयोगजाः स्पर्शजाः' है। इन्हीं तीन चरणों में पाँचों प्रकार के दोषों के नाम आए हैं।

ये सभी दोष श्रीगोकुलेशोत्सव-आदि ने विवृत किए ही हैं अतः मैं विस्तार नहीं कर रहा हूँ। अब यहाँ दूसरी शंका करते हैं कि, क्या इन दोषों की चिंता करनी चाहिए? तो इस का समाधान **न मन्तव्याः कथञ्चन** इन शब्दों से कह रहे हैं। ये दोष शांत हो गये हैं केवल इतना ही नहीं किंतु समूल निवृत्त हो गये हैं अतः आगे तो सावधानीपूर्वक रहना चाहिए। कहने का अर्थ यह कि, भले ही ये समस्त दोष आक्रामक न रह गये हों एवं समूल नष्ट भी हो गये हों किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि अब जीव स्वच्छंद व्यवहार करना शुरु कर दे एवं निश्चिंत हो जाय। समझना चाहिए कि प्रभु द्वारा दुष्ट जीवों को अंगीकार करने की जो समस्या थी, उसी अर्थ में ब्रह्मसंबंध द्वारा ये सभी दोष नष्ट होकर जीव वरणयोग्य बना है। अतः लोकवेद में तो उसे दोष-संक्रमण का भय रखते हुए सावधानीपूर्वक ही रहना है, यह अर्थ है॥ ३॥

ननु शास्त्रेषु दोषनिवृत्त्यर्थं भूतशुद्ध्यादिरूपं प्रकारान्तरमपि श्रूयत (क्रियते) इति चेत्, तत्राह अन्यथेति।

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन।
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत्॥ ४॥

प्रकारान्तरेणैतदुक्तसर्वदोषाणां कथञ्चन न निवृत्तिः, किन्तु यथाकथञ्चित् केषाञ्चिदेवेत्यर्थः। ननु स्वस्याहन्तास्पदानां सधर्माणां देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणात्मनां ब्रह्मणि सम्बन्धे समर्पणाख्ये कृतेप्यवशिष्टानां ममतास्पदानां वस्तूनामतथात्वे दोषतावदस्थ्यमेवेत्याशङ्कायामाह असमर्पितेति। तेषामपि समर्पणं यथायोग्यं विधेयमित्यर्थः॥ ४॥

यहाँ एक शंका यह होती है कि, शास्त्रों में दोषनिवृत्ति के लिए भूत-शुद्धि आदि रूप अन्य प्रकार भी सुने जाते हैं / किए जाते हैं? तो फिर निवेदन की क्या आवश्यकता है? इस का समाधान **अन्यथा** इन शब्दों से कर रहे हैं।

निवेदन के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार से कहे गये इन समस्त दोषों की किसी भी प्रकार से निवृत्ति नहीं होती, किंतु येनकेन प्रकारेण कुछ ही दोषों की निवृत्ति होती है। यहाँ एक शंका यह होती है कि स्वयं के अहंतास्पद एवं सधर्मक[१] देह-इंद्रिय-प्राण-अन्तःकरण-आत्मा का ब्रह्मसंबंध होने पर अर्थात् 'समर्पण' नामक प्रक्रिया करने पर इनमें रही अहंता तो दूर हो जाती है किंतु ममतास्पद वस्तुओं में ममता दूर न होने के कारण दोष तब तक तो रहते ही हैं? तो यह आशंका होने पर **असमर्पित** इन शब्दों से समाधान कर रहे हैं। उन ममतास्पद वस्तुओं का भी यथायोग्य समर्पण करना चाहिए, यह अर्थ है॥ ४॥

---

१. सधर्मक.

ननु स्वयमेव कृतं कथं तत् सेत्स्यतीत्यत्राह निवेदिभिरिति।

निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः।
न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम्॥ ५ ॥

आत्मनिवेदिभिर्महापुरुषैर्द्वारा (गुरुभिरिति बहुत्वं पूज्यत्वेन ज्ञेयम्) सर्वं दारागारपुत्राप्तवित्तेहपरादिकं समर्प्य कुर्यात्, स्वान्नादिकं समर्प्य गृह्णीयादिति भक्तिमार्गमर्यादा। 'महापुरुषेण निवेदिता' इत्युक्तत्वात्। ननु मतान्तरेऽर्धभुक्तसमर्पणं विधीयते, तथात्रापि न वेत्याशङ्कायामाह भगवान् न मतमिति। न तन्मम मतम्, कुतः, तत्राह देवदेवस्येति। साधारणो देवोपि नैवमङ्गीकुरुते, कथं देवदेवोहं तदुच्छिष्टमङ्गीकुर्यामिति भावः॥ ५ ॥

यहाँ शंका करते हैं कि, स्वयं ही समर्पण कर देने पर कैसे दोषों की निवृत्ति होगी? तो यहाँ **निवेदिभिः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। ऐसे आत्मनिवेदी महापुरुषों को (यहाँ 'आत्मनिवेदी' शब्द पूजनीय होने के कारण बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। जानना चाहिए कि जहाँ सम्मान देना हो, वहाँ एकवचन का प्रयोग न होकर बहुवचन का प्रयोग होता है। एकत्वं न प्रयुञ्जीत गुरावात्मनि चेश्वरे।) पत्नी, घर, पुत्र, धन, यह लोक, परलोक आदि सभी कुछ भगवान को समर्पण कर के ही उपयोग करना चाहिए। स्वयं के अन्न-आदि पदार्थों को समर्पित करके ही ग्रहण करना चाहिए, यह भक्तिमार्ग की मर्यादा है। क्योंकि 'महापुरुषेण निवेदिता' इस वाक्य से यही कहा गया है।

यहाँ एक शंका यह होती है कि, जैसे अन्य मतों में अर्धभुक्त का समर्पण भी किया जाता है, वैसे यहाँ भी करें या नहीं? यह आशंका होने पर भगवान **न मतम्** कह रहे हैं। भगवान कहते हैं कि वह मुझे संमत नहीं है। क्यों? यह प्रश्न होने पर **देवदेवस्य** इस शब्द से उत्तर दे रहे हैं कि इस प्रकार का अर्धमुक्त का समर्पण साधारण देव भी स्वीकार नहीं करते हैं, तो मैं, देवाधिदेव, उनका उच्छिष्ट कैसे स्वीकार करुँ? यह भाव है॥ ५ ॥

तर्हि कथं विधेयमित्यत्राह तस्मादादाविति।

तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्।
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः॥ ६ ॥
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।

सर्वकार्ये लौकिकवैदिके च, अनिषिद्धप्रियसर्ववस्तुसमर्पणं कार्यम्, अत्र बहूनि प्रमाणवचनानि दर्शितानि तैरेव। ननु तर्हि भगवते दत्तस्यापहरणे स्वोपभोगार्थं दोष एव, अनपहरणेऽनिर्वाह इत्युभयतःपाशा रज्जुरेवेत्याशङ्कायामाह, दत्तापहारवचनं, हरेस्तन्न ग्राह्यमिति वाक्यं च भिन्नमार्गपरं मतम्, दानधर्मपूजामार्गपरम्, न तु शुद्धभक्तिमार्गपरम्। यत्स्वसत्ताकमेव हि दीयते, परसत्तामापाद्यते, तन्न ग्राह्यम्। तथा च सकलं नैवेद्यं तथावादिना न ग्राह्यमित्यापत्तौ सदाचारविरोधः। यद्वा। वस्तुतो हरेः सकलं सर्वमिति किमनेन दत्तम् यदपहरणे दोषः। किञ्च, नेदमपहरणम्, किन्तु तत्प्रसाददत्तवस्तुग्रहणं वस्तुतोपि तदीयस्यैव वस्तुनो नितरां वेदनं ज्ञापनं समर्पणं सेवकधर्मः॥ ६ ॥

तो फिर किस प्रकार करना चाहिए? यह **तस्मादादौ** इन शब्दों से कह रहे हैं। समस्त कार्यों में अर्थात् लौकिक एवं वैदिक कार्यों में अनिषिद्ध और प्रिय ऐसी समस्त वस्तुओं का समर्पण करना चाहिए; इस बात को सिद्ध करने में अनेक प्रमाण परवर्ती आचार्यों द्वारा दर्शित किए गये हैं ही। अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, भगवान को दिए गये पदार्थों को पुनः स्वयं के उपभोग के लिए ग्रहण करने में दोष ही है एवं न ग्रहण करने पर जीवन का निर्वाह करना ही संभव नहीं है। अतः ऐसे दोनों तरफ से पाशा-रज्जु ही है? 'उभयतः पाशारज्जु' का अर्थ है, दोनों ओर से मुसीबत होनी। जैसे कहा जाता है कि आगे कुँआ तो पीछे खाई। ऐसे संदर्भ में इस न्याय का उपयोग किया जाता है। यह आशंका होने पर **दत्तापहारवचनं** इन शब्दों से समाधान कर रहे हैं। **दत्तापहारवचनं** अर्थात् 'हरि की वस्तु नहीं ग्रहण करनी चाहिए' ये वाक्य भिन्नमार्ग के मानने चाहिए अर्थात् दानधर्म-पूजामार्ग के मानने चाहिए, न कि शुद्धभक्तिमार्ग के। क्योंकि स्वयं की सत्तावाली वस्तु ही दी जा सकती है। एवं जिस वस्तु में परसत्ता प्रतिपादित हो गई हो, वह ग्राह्य नहीं है। एवं इस प्रकार "समस्त निवेदित पदार्थों को ग्रहण नहीं करना चाहिए" ऐसा कहने वाले की आपत्ति में सदाचार-विरोध हो जायेगा। अर्थात् यदि भगवान को अर्पित की गई वस्तु प्रसादरूप से न ग्रहण करें तो क्या असमर्पित ग्रहण करें? या फिर प्रभु को अर्पण ही न करें? यह तो भक्त का सदाचार नहीं है, यह टीकाकार कहना चाह रहे हैं। अथवा यह भी विचारणीय है कि वास्तव में तो समस्त वस्तुएँ हरि की ही हैं, इस जीव ने क्या दिया है जो पुन ग्रहण करने का दोष हो? और, यह पुनः ग्रहण करना भगवान की वस्तुओं का अपहरण करना नहीं है, किंतु प्रभु के प्रसादरूप से दी गई वस्तु को ग्रहण करना वास्तव में तो उनकी ही वस्तुओं को उन्हें ही बताना, विज्ञापित करना अर्थात् समर्पण करना-सेवक का धर्म है॥ ६ ॥

कथं तर्हि वर्तितव्यम्, तत्राह सेवकानां यथेति।

सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः।

तदुच्छेषग्रहणेन वर्तितव्यम्। ततः समर्पणात् सर्वेषां ब्रह्मता निर्दोषतात्मकता ॥ ७ ॥
ननु कथं तथा प्रतीयेतेत्यत्राह दृष्टान्तेन गङ्गात्वमिति।

गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना।
गङ्गात्वेन निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि ॥ ८ १/२ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितं सिद्धान्तरहस्यं समाप्तम्।

सर्वेषां दोषवतां जलानामिव गङ्गासम्बन्धे गङ्गात्वम्, गुणदोषादिवर्णना, जलानां गङ्गात्वेन यथा निरूप्या, तद्वदेवात्रापि निश्चेयम् ॥ ८ ॥

इति श्रीभगवत्संमुखश्रीवल्लभाचार्यकृतभक्तिसिद्धान्तरहस्यसंवादस्य विवृतिः श्रीशाचार्यवर्यमतानुवर्तिना कृता संपूर्णा।

तो किस प्रकार से जीवन में वर्तन करना चाहिए? यह **सेवकानां** यथा इन शब्दों से कह रहे हैं।

उनके उपभोग के पश्चात् शेष रहे पदार्थों द्वारा वर्तन करना चाहिए। **ततः** अर्थात् समर्पण से सभी की **ब्रह्मता** अर्थात् निर्दोषता सिद्ध हो जाती है ॥ ७ ॥

यहाँ शंका करते हैं कि, वह निर्दोषता कैसे प्रतीत होती है? तो इसे दृष्टांत द्वारा **गङ्गात्वं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

समस्त दूषित जलों का जैसे गंगा से संबंध होने पर गंगारूप हो जाता है एवं उन जलों के गुणदोषादि का वर्णन जैसे गंगा के अर्थ में ही निरूपित होता है, वैसे यहाँ जीव का ब्रह्मसंबंध हो जाने के पश्चात् उसके गुणदोषों का लौकिकरूप से व्यवहार नहीं करना चाहिए, यह निश्चय हुआ ॥ ८ ॥

यह श्रीशाचार्यवर्य के मतानुवर्ती द्वारा श्रीभगवान के संमुख श्रीवल्लभाचार्यकृत भक्तिसिद्धांतरहस्य के संवाद की विवृत्ति संपूर्ण हुई।